हनुमंत चरित्र

आज मैं आपके सम्मुख प्रभु श्री हनुमान जी के चरित्र को, उन्हीं की शक्ति, सामर्थ्य, उन्हीं के बल, बुद्धि, विद्या से प्रेरित होकर वर्णन करना चाहता हूँ। प्रभु हनुमान जी मेरे आराध्य देव, मेरे इष्ट, मेरे गुरु, मेरे माता–पिता, मेरे भाई, मेरे परम उत्कृष्ट सखा और सब कुछ है। वह अति कृपालु, परम सशक्त एवं महाबली है। भगवान श्री राम के उत्कृष्ट, अनन्य एवं परम भक्त है। शिव–शक्ति के अद्भुत संगम है। मैं र्निबुद्धि, उनके बारे में, उन्हीं के बल, बुद्धि एवं विद्या से वर्णन कर सकता हूँ।

परम गृहस्थ हैं हनुमान जी, मेरी बात आपको बहुत अटपटी सी लग रही होगी। कोई पुरुष अपनी स्त्री को कितना भी प्रेम करे, वह उसको सदा अपने साथ तो रख सकता है, परन्तु वह उसको अपनी देह के साथ जोड़कर नहीं रख सकता। अपने साथ समाहित नहीं कर सकता। लेकिन यह उदाहरण हमें श्री हनुमान जी के चरित्र से साक्षात् मिलता है। कहते हैं कि इस पृथ्वी पर रावण से बढ़कर भगवान शंकर का कोई और भक्त नहीं हुआ। रावण, भगवान शंकर की पूजा करने नित्य कैलाश पर्वत पर जाता था। उद्दण्डी और राक्षस स्वभाव का होने के कारण पूरे कैलाश में हलचल मच जाती थी। वह पर्वतों को हिलाता था, पेड़ों को उखाड़ता और भगवान शंकर के पुत्र गणेश जी के, प्रेमवश ही, कभी दाँत खींचता था और कभी हाथ खींचता था। गणेश जी उसको देखकर बहुत रोते थे। माता–पार्वती भी रावण के आने की बात सुनकर, उसको देखकर विक्षिप्त हो जाती थी। लेकिन भगवान शंकर का रावण के साथ अनन्य स्नेह होने के कारण वह कुछ कह नहीं पाती थी।

एक दिन जब गणेश जी बहुत रोए, तो वह भगवान भोले भंडारी शंकर को कह ही बैठी, 'प्रभु! अपने इस भक्त को आप यहाँ आने से रोकिए।' प्रभु का वही आशानुरूप, एक जाना–पहचाना उत्तर मिला, 'नहीं पार्वती! नहीं उमा! वह तो हमारा परम–भक्त है।' माता उमा ने कहा, 'आपका इतना प्रेम है उसके साथ, तो आप क्यों नहीं उसके घर लंका जाकर, उसकी पूजा स्वीकार कर लेते।' कहते हैं कि भगवान शंकर स्वयं रावण की पूजा स्वीकार करने उसके घर लंका में जाते थे।

एक बार जब हनुमान जी ने लंका–दहन किया तो भीतर ही भीतर रावण अति

भयभीत हो गया। सोचने लगा, मैंने तो समस्त देवी–देवता अपने बस में कर लिए, यह कौन–सा देवता है? इस चिन्ता और भय से ग्रसित रावण, भगवान शंकर के मन्दिर में गया, जो उसके महल के अन्दर ही था और उसने भगवान शंकर का आह्वान किया। आह्वान करते ही भगवान प्रकट हो गये। रावण को अति चिन्तित देखकर प्रभु मुस्कुराये, 'कहो, रावण क्या बात है?' रावण ने कहा, 'प्रभु, यह वानर कौन है?' भगवान शंकर मुस्कुरा रहे हैं, 'रावण, यह मैं हूँ।' रावण अचंभित, 'प्रभु! आप!', 'हाँ रावण!, 'यह कैसे, प्रभु !' तो भगवान शंकर ने एक रहस्यमय कथा रावण को सुनाई जो मैं आपको सुना रहा हूँ ।

एक बार कैलाश पर बैठे भगवान शंकर को जब यह आभास हुआ, कि विष्णु भगवान, राजा राम के रूप में अयोध्या में अवतार लेने वाले हैं, तो उनके मन में एक तीव्र जिज्ञासा एवं इच्छा उत्पन्न हुई, कि मैं उनका सेवक बनकर उनकी सेवा करूँ। लेकिन प्रभु राम भगवान शंकर की, शंकर–रूप में तो सेवा ग्रहण नहीं करेंगे, इसलिए उनको अपना रूप परिवर्तन करना होगा। उन्होंने पार्वती को बुलाया और कहा, 'पार्वती! भगवान विष्णु, राम–अवतार लेने वाले हैं और हम उनकी सेवा करेंगे। हम रूप बदल कर वहाँ जायेंगे, लेकिन हम तुम्हें अपने साथ नहीं ले जायेंगे, क्योंकि हम सेवक बनकर जा रहे हैं और वह भी राज–सेवक। न जाने किस समय हमें क्या कार्य सौंप दिया जाये। इसलिए हम स्त्री को अपने साथ नहीं ले जा सकते।' माँ उमा, पार्वती यह बात सुनकर अति क्रोधित हो गई, कहा, 'मैं आपके साथ जाऊंगी, भले ही आप सेवक बनें या स्वामी, आप अकेले नहीं जा सकते।' बात बढ़ गई।

जब कोई सुलह नहीं हो पायी, तो देवताओं ने कन्दराओं में बैठकर सभाएँ की, कि इस महाविपत्ति का किस–प्रकार से हल किया जाए? अन्त में कुछ दिनों के बाद, सभी देवतागण प्रभु शिव–शंकर एवं माँ उमा के चारों ओर खड़े होकर उनकी स्तुति करने लगे। जब उनसे पूछा, 'क्या बात है?' तो देवताओं ने कहा, 'प्रभु! हमारे पास एक सुझाव है', उन्होंने कहा, 'कहो'। देवताओं ने कहा, 'आप भगवान राम की सेवा के लिए वानर अवतार लेकर जायें और माता जी आपकी पूँछ बनकर जायेंगी।' यह बात सुनते ही माँ उमा, प्रफुल्लित हो गईं, कहा, "हाँ बहुत अच्छा! हे प्रभु! मैं आपकी पूँछ बनकर जाऊँगी और राज–सेवा में कोई मार–धाड़ का काम करना होगा, तो वह मैं

करूँगी।' **पति–पत्नी, शिव–शक्ति दोनों प्रसन्न हुए और भगवान शंकर ने अपना एकादश रुद्र अवतार हनुमान का लिया और माता पार्वती को, शक्ति को, अपनी पूँछ बनाया।** जब यह कथा स्वयं भगवान शंकर, रावण को सुना रहे थे, तो सुनाते–सुनाते यहाँ उन्होंने कथा को थोड़ा विराम देकर कहा, 'रावण, यह तो सत्य है कि हनुमान, मेरा और शक्ति का संगम है, लेकिन मैं अपने इस रूप में अपनी शक्ति को नहीं जानता। हम दोनों मिलकर कितने सशक्त हो गये हैं, उस शक्ति की गणना मेरी कल्पना से बाहर है। स्वयं 'शक्ति', उमा–पार्वती भी इस शक्ति को नहीं जानती और स्वयं हनुमान भी अपनी शक्ति को नहीं जानते।'

कहते हैं कि हनुमान जी को उनकी शक्ति के बारे में बार–बार याद दिलाना पड़ता है। समुद्र तट पर वानर सेना की एक टुकड़ी, जामवंत जी जिसके मंत्री थे, बैठी हुई थी और विचार कर रही थी, कि किस प्रकार सागर पार किया जाये, माता सीता को खोजा जाये और उनको भगवान श्री राम का संदेश दिया जाये? हनुमान जी बड़े निराश बैठे हुए हैं, मुँह नीचे किए, आँखों में अश्रु लिए रो रहे हैं, कि समुद्र का लंघन कौन करे? सभी लोगों ने अपने–अपने सुझाव दिए और समुद्र–लंघन में असमर्थता व्यक्त की। जब जामवंत जी को हनुमान जी का ध्यान आया कि ओह! यह तो साक्षात् भगवान शंकर और शक्ति का अवतार मेरे सामने बैठे हैं, तो उन्होंने हनुमान जी को जागृत किया, स्मृति दिलाई कि–

कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेहू बलवाना।।
पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक विग्यान निधाना।।
कवन सो काज कठिन जग माही। जो नहि होइ तात तुम्ह पाही।।
राम काज लगि तव अवतारा। सुनतहि भयउ पर्वताकार।।
कनक बरन तनतेज बिराजा। मानहुँ अपर गिरिन्ह कर राजा।।
सिंहनाद करि बारहिं बारा। लीलहिं नाघउँ जलनिधि खारा।।
सहित सहाय रावनहि मारी। आनउँ इहाँ त्रिकूट उपारी।।
जामवंत मैं पूँछउँ तोही। उचित सिखावनु दीजदु मोही।।

जामवंत जी ने कहा–

एतना करहु तात तुम्ह जाई। सीतहि देखि कहहु सुधि आई।।

तब निज भुज बल राजीव नैना। कौतुक लागि संग कपि सेना।।

हनुमान जी पर्वताकार हो गये, एकदम उनके मुख से तीव्र तेज बिखरने लगा और आपे से बाहर हो गए। तत्पश्चात् समुद्र का लंघन किया। आगे की कथा आप सब जानते ही है।

हनुमान जी का चरित्र, हनुमान जी के जीवन की एक–एक घटना समस्त ब्रह्माण्ड के लिए, चर–अचर के लिए एक अद्वितीय उदाहरण है। कोई भी इनके जीवन से, किसी भी प्रकार की अद्भुत प्रेरणा ले सकता है। हनुमान जी अजर हैं, अमर हैं, अष्टसिद्धि, नवनिधि के दाता हैं। इस समय पूरे ब्रह्मांड में हनुमान जी का विभिन्न नाम, विभिन रूपों में शासन है। जब उन्होंने माता सीता को भगवान श्री राम की अँगूठी दी और प्रभु का स्मरण दिलाया, तो माता सीता अति प्रसन्न एवं गद्गद् हो गई। उस प्रसन्ना में उन्होंने हनुमान जी को कई वरदान दे डाले–

अष्ट सिद्धि, नौ निधि के दाता, अस वर दीन जानकी माता।

हनुमान जी इस वरदान को पाकर थोड़ा मुस्करा दिए, लेकिन चित्त से विशेष प्रसन्न नहीं हुए।

आसिष दीन्हि राम प्रिय जाना।
होहु तात बल सील निधाना।।
अजर अमर गुननिधि सुत होहू।

इतने वरदानों के बाद भी हनुमान जी प्रसन्न नहीं हुए, तो माता सीता सोच रही हैं, यह कपि क्या चाहता है? सब कुछ दे दिया इसको कि तुम अजर रहोगे, कभी वृद्ध नहीं होगे, तुम कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होगे, अष्ट सिद्धि, नौ निधि के दाता होगे, गुणों की खान होगे तुम, लेकिन फिर भी यह कपि क्या चाहता है ? अन्त में माँ को मालूम हुआ, कि यह तो श्री राम का अनन्य भक्त है, तो माता ने अन्तिम वरदान दिया– *'करहुँ बहुत रघुनायक छोहू।'*

बस, यह बात सुनते ही हनुमान जी गद्गद् हो गए, कि प्रभु ही राम सदा मुझसे स्नेह करेंगे। अति प्रसन्न हो गये।

करहुँ कृपा प्रभु अस सुनि काना। निर्भर प्रेम मगन हनुमाना।।
बार–बार नाएसि पद सीसा। बोला बचन जोरि कर कीसा।।

अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता।

अशोक वाटिका में फलों से लदे हुए पेड़ों को देखकर उनके मुँह में पानी आने लगा और भूख तो लग ही रही थी तो माँ से कहते हैं–

सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा। लागि देखि सुंदर फल रूखा।।

माता सीता,माँ हैं, वरदान दे चुकी हैं, 'तुम्हें कोई मार नहीं सकता, तुम कभी मरोगे नहीं और तुम कभी वृद्ध नहीं हो सकते'। फिर भी भयभीत हो जाती है, कहती है :

सुनहु सुत करहि बिपिन रखवारी। परम सुभट रजनीचर भारी।

कि, 'हे पुत्र! यहाँ बड़े–बड़े मायावी, बड़े–बड़े सशक्त राक्षस इस अशोक वाटिका की रक्षा करते हैं, वे तुम्हें मारेंगे।' तो हनुमान जी क्या उत्तर देते हैं? विचारणीय विषय है, बहुत ध्यान से सुनिए, 'हे माँ, मुझे राक्षसों का कोई भय नहीं है, यदि तुम मन में सुख मान रही हो, यदि तुम्हें मन में अच्छा लग रहा है, कि मैं फल खा लूँ, तो मुझे राक्षसों का कोई भय नहीं है।' देखिए, कितनी बौद्धिक चतुरता है, कितनी निपुणता है। कोई भी मूर्ख हो और बलवान हो तो वह यही बोलता कि नहीं मुझे इन राक्षसों का, क्या भय है, अभी देखो, मैं क्या करता हूँ लेकिन उन्होंने एक शर्त रखी कि माँ, अगर तुम मन में सुख मानती हो, कि मैं फल खा लूँ तो मुझे राक्षसों का कोई भय नहीं है। यह बात जब माता सीता सुनती है, तो उनको एक विचित्र हर्ष होता हए, कहती है :

देखि बुद्धि बल निपुन कपि, कहेउ जानकी जाहु।

रघुपति चरन हृदये धरि, तात मधुर फल खाहु।

कपि को बुद्धि और बल में निपुण देखकर माँ सीता ने कहा, 'जाओ बेटा! भगवान श्री राम के चरणों को अपने हृदय में धारण करके जाओ और स्वादिष्ट फलों को खूब खाओ, आनन्द से खाओ।' क्या रहस्य है इस घटना का? क्या अर्थ लेते है हम? इसमें क्या छिपा हुआ है? वह मैं आपको बताना चाहता हूँ, कि जिस व्यक्ति पर उसकी माँ की कृपा है, वह कभी भयभीत नहीं होता। आज सारा संसार भय से ग्रसित है, किसी को संतान का भय, किसी को अपने कारोबार का, स्त्री का, सम्पत्ति का, चोर का, राजा का और किसी को मृत्यु का भय। हर व्यक्ति प्राप्तियों के बावजूद भी भय से ग्रसित है, पर जब माँ की कृपा हो तो उस व्यक्ति को भय नही व्याप्ता। माँ की

कृपा तो सब पर, सभी बालकों पर होती है, परन्तु उस कृपा को जो प्राप्त करता है, उस कृपा को जो धारण करने की क्षमता रखता है वह व्यक्ति जीवन में कभी भी भयभीत नहीं होता।

दूसरी शर्त माता सीता ने रखी कि, 'जाओ बेटा! श्री राम, जो तुम्हारे पिता के समान है, उनके चरणों को अपने हृदय में धारण कर खूब फल खाओ।' जिस व्यक्ति को अपने पिता के प्रति असीम श्रद्धा है, वह संसार के सभी भोगों को आनन्दपूर्वक भोगता है, नहीं तो वस्तुएँ होंगी उसके पास, भोगों के पदार्थ तो होंगे, लेकिन वह भोग नहीं सकता। यह शास्त्रीय नियम है। तो हनुमान जी के इस चरित्र से हमको एक संदेश मिलता है कि यदि हम अभय होकर संसार के भोगों को भोगना चाहते हैं, तो हमको अपनी माँ व अपने पिता के प्रति अटूट श्रद्धा रखनी आवश्यक है।

हनुमान जी के बारे में कहा है कि वो अखंड ब्रह्मचारी है, यह सत्य है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है, **ब्रह्ममय आचरण**। जिस व्यक्ति का सदा ब्रह्ममय आचरण है, तो उसको अखण्ड ब्रह्मचारी कहा है। हनुमान जी जब लंका–दहन करके माता सीता को अँगूठी देकर और उनसे संदेश रूप में चूड़ामणि लेकर वापिस जाने लगते हैं, तो उस समय वे बहुत थके होते हैं। पूँछ में आग लगी होती है। वह समुद्र के किनारे अपनी पूँछ में लगी आग बुझाते हैं। इस बात पर गौर कीजिए। उस समय उनको कहीं से कराहने की आवाज आती है, जैसे कोई कराह रहा हो, कोई बहुत दुखी हो। उन्होंने उस तरफ बढ़कर देखा, एक विचित्र आकृति दिखी, जिसका आधा रंग काला है, आधा रंग नीला है, पैर टेढ़े हैं, बाल खड़े हैं और मुँह भी बहुत विचित्र है। ऐसी एक विशाल आकृति कराह रही है।

हनुमान जी ने कोतूहलवश पूछा, 'भावर! आप कौन हैं?' तो उसने उत्तर दिया, 'मैं शनि देवता हूँ।' उनको रावण ने एक विशाल शिला से बाँधा हुआ था। शनि देवता ने कहा, 'मैं यही चिरकाल से बंधा हुआ हूँ।' जब हनुमान जी से उन्होंने लंका दहन की बात सुनी, तो शनि देवता बहुत प्रसन्न हुए। हनुमान जी ने पूछा, 'आपकी आकृति बड़ी विचित्र है, तो आपके गुण भी बड़े विचित्र होगें।' उन्होंने कहा, 'हाँ, मेरे गुण बड़े विचित्र है।' कहा, 'हे हनुमान जी, मैं जिधर देखता हूँ, वहाँ काला कर देता हूँ।' हनुमान जी यह बात सुनकर बहुत प्रसन्न हुए, कि मुझे इस समय आप जैसा ही कोई

चाहिए था। मैंने लंका जला दी है, अब आप उसको काला कर दीजिए। रावण ने शनि को इस प्रकार बाँध रखा था, कि उसकी पीठ लंका की तरफ थी। शनि ने कहा, 'आप मुझे तुरन्त खोलिए, मैं अभी लंका की तरफ देखकर आह भरूँगा और लंका को काला कर दूँगा।' हनुमान जी ने कहा, 'नहीं, मैं अभी आपको नहीं खोलूँगा। आप भाग गये तो?' उन्होंने शिला को पकड़कर 'जय श्री राम' कहते हुए शिला को घुमा कर शनि का मुँह लंका की तरफ कर दिया और शनि ने जलती हुई लंका को देखकर कहा 'आह' और लंका काली हो गई। हनुमान जी बहुत प्रसन्न हुए। तब उन्होंने शनि देवता को खोला और समुद्र का जल छिड़का। स्वयं अपना हाथ उनकी सारी देह पर फेरा। जिसकी देह पर साक्षात् हनुमान जी हाथ फेर दें, वह शनि एकदम पूर्ण स्वस्थ, पूर्ण प्रफुल्लित और स्फुरति से युक्त हो गए। वे बहुत प्रसन्न हुए। अब हनुमान जी के पास समय नहीं था, वह बोले, 'अच्छा, अब हम चलते हैं'। शनि महाराज बहुत आभारी हुए, क्या कहते हैं ध्यान देने की बात है, **'हे हनुमान जी! आप परम बली हैं, आप महावीर हैं, आपने मुझ पर बहुत कृपा की है, मैं आपको क्या दूँ? मैं आपको एक वचन देता हूँ कि जहाँ–जहाँ आपकी कृपा होगी, वहाँ–वहाँ मेरी भी कृपा होगी।'** इस कथन का अर्थ समझिए–

जा पर कृपा राम की होई, ता पर कृपा करे सब कोई।

यह जितने नक्षत्र हैं, समस्त ईश्वरीय शक्तियाँ हैं और ईश्वरीय शक्ति से ही चलते हैं। यदि हम एक उस प्रभु को प्रसन्न कर दें, श्रद्धा भाव से, प्रेम से, भक्ति से, हम उस प्रभु की शरण में चले जाएं, उस महाशक्ति की, जो करोड़ों ब्रह्माण्डों का नायक हैं, तो समस्त ग्रह, नक्षत्र हमारे अनुकूल हो जाते हैं। ***"एकै साधे सब सधे, सब साधे सब जाई",*** हनुमान जी की इस घटना से हमें स्पष्ट होता है, कि वह महा–शक्ति, ईश्वरीय शक्ति जब किसी के अनुकूल हो जाये, तो समस्त नक्षत्र, ग्रह अपनी दिशाएँ बदल देते हैं और उस व्यक्ति के लिए परम अनुकूल हो जाते हैं।

गुरु गोविन्द सिह महाराज ने एक नारा दिया था ***'तेग–देग–फतह'***। तेग का अर्थ है–**'तलवार'** और तलवार शक्ति की द्योतक है। हनुमान जी, शिव और शक्ति दोनों का मिश्रण है, संगम है। यदि किसी गृहस्थ में पति और पत्नी दोनों एक हो

जाए, विचारों से, श्रद्धा से, भाव से तो वहाँ एक हनुमंत शक्ति उत्पन्न हो जाती है। वह घर सिद्ध हो जाता है। दूसरा है **देग**, 'देग' का अर्थ है– **'देगची'**, पंजाबी में देगची कहते है–**कड़ाही को**, घर में कड़ाही चढ़ी रहे, घर में कोई मेहमान आए, वह भूखा न जाए, कोई अप्रसन्न न जाये। तीसरी चीज है–**'फतह',** फतह अर्थात **'विजय'** वहाँ चरण चूमती है। **'तेग–देग–फतह',** हनुमान जी की तरह जब कोई गृहस्थ, पति–पत्नी एक हो जाते हैं और जब उस घर में मेहमानों का, आगन्तुकों का सम्मान होता है श्रद्धा से, तो उस घर में विजय श्री स्वयं पहुंच जाती है। वहाँ लक्ष्मी का निवास होता है, वहाँ सुख और शान्ति होती है, वहाँ स्वास्थ्य होता है, सौन्दर्य होता है, ऐश्वर्य होता है, यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसको आज के गृहस्थ भूल गए हैं। जहाँ पर पति–पत्नी के स्वभाव में समन्वय नहीं होगा, आपस में कटुता होगी, उस घर में वस्तुएँ हो सकती है, लेकिन वस्तुओं का भोग नहीं हो सकता। हनुमान जी के इस दर्शन से, गृहस्थियों को एक अनुपम पाठ, एक अनुपम शिक्षा अवश्य लेनी चाहिए।

हनुमान जी बहुत सुन्दर वीणा–वादक हैं, संस्कृत के महान लेखक और कवि हैं, महान संगीतज्ञ हैं, बहुत सुन्दर हैं, परम सशक्त हैं, बहुत भावुक हैं, बहुत क्रोधी हैं, बहुत विद्वान हैं और परम भक्त तो हैं ही। ***'तेज प्रताप महा जग–वन्दन,'*** इस रहस्य की जो मुझे अनुभूति हुई है, अनुभव हुआ है, यह परम सत्य है। इस कलिकाल में वह एक नाम–असंख्य रूपों में, एक रूप–असंख्य नामों में और असंख्य नाम–असंख्य रूपों में पूरे विश्व में पूजे जाते हैं। अति भावुक, अपने प्रेम और अपनी श्रद्धा, वन्दना, विनय द्वारा, विनम्रता द्वारा, प्रभु श्री राम के हृदय में इन्होंने स्थान पा लिया है। इनके बारे में जितना कहें उतना कम है।

यदि हनुमान जी की आप कृपा चाहते हैं, तो मैं अपने अनुभव की बात कह रहा हूँ, कि शुद्धता से, शुद्धता का अर्थ है सब प्रकार की शुद्धता–हृदय की शुद्धता, शारीरिक शुद्धता व मानसिक–शुद्धता। आप अपने गृहस्थ के सब प्रकार के कार्य करिए व भोग भोगिए, लेकिन दो वस्तुएँ–एक तो मांसाहारी भोजन और दूसरे शराब का या अन्य नशों का सेवन न करें। यह तो बहुत भावुक है, इतने स्वभाव के मृदुल, शान्त, भोले और इतने क्षमावान है, कि क्या कहूँ? आज भी हनुमान जी देह रूप में, अपनी दिव्य देह में विराजमान है। इनको अमरता का वरदान हो चुका है। आज भी

जब कोई भक्ति से, प्रेम से, भगवान श्री राम या इनका स्मरण करता है, तो यह किसी न किसी रूप में, अपनी उपस्थिति का आभास अवश्य करा देते हैं। जहाँ इनमें श्रद्धाभाव हो उस घर में इनकी कृपा बरसती है, अवश्य बरसती है।

प्रभु हनुमान जी के चरित्र की जो विशेष, अति विशेष विशेषता है, वह हम सबके लिए एक बहुत बड़ी सीख है। वह परिस्थिति के अनुसार, मौके के अनुसार, अपना रूप बदल लेते हैं। ***'सूक्ष्म रूप धरि सियहिं दिखावा'***–माता सीता के सम्मुख जाते हैं, तो सूक्ष्म रूप, छोटा–सा रूप बालक जैसा बना कर जाते हैं। ***विकट रूप धरि लंक–जरावा'***–जब लंका का दहन करते हैं, तो उनका रूप विकट हो जाता है, विशाल हो जाता है। ***'भीम रूप धरि असुर संहारे'***–राक्षसों का वध करने के समय वह अति विकराल और विशाल रूप धारण कर लेते हैं। ***'मसक समान रूप कपि धरी'***–लंका में प्रवेश करने के समय वह एक मच्छर के सामान, बहुत छोटा सा रूप धारण कर लेते हैं। जब सुग्रीव, भगवान श्री राम व लक्षण को किष्किंधा पर्वत पर आते देखकर उनका पता लगाने के लिये इनको दूत बनाकर भेजते हैं, उस समय ***'विप्ररूप धरि कपि तहँ गयऊ, माथ नाइ पूछत अस भयऊ***–यह ब्राह्मण का रूप बनाकर जाते हैं। यह एक बहुत सुन्दर सीख है कि जीवन हम जीते हैं–परिस्थितिवश। हमारी परिस्थितियों पर हमारा कोई अधिकार नहीं है। न जाने प्रारब्ध–वश और प्रभु की इच्छा–वश, किस समय जीवन में कौन–सी परिस्थिति हमारे सामने आ जाए? यदि उस परिस्थिति के अनुकूल हम अपना रूप धारण कर लें, तो हम उस मौके को, उस स्थिति को बहुत आनन्द–पूर्वक जी लेते हैं। यदि हम एक ही विचारधारा में और एक ही मानसिक स्थिति में विचरें, तो कई परिस्थितियाँ हमारे लिए बहुत घातक हो जाती हैं। **रूप बदलने का अर्थ है–अपने मन को, अपनी मानसिक स्थिति को, उस परिस्थिति के अनुसार ढाल लेना, इससे जीवन बहुत सुखद हो जाता है। कभी दुख, कभी सुख, कभी उतार, कभी चढ़ाव, कभी नुकसान, कभी लाभ तो समस्त परिस्थितियों में जो भी हमारे सम्मुख देव–इच्छा से आती हैं–हम अपना रूप बदल लें, हम अपनी मानसिक स्थिति उसके अनुसार बना लें, तो जीवन अति सुखमय हो जाता है।** हनुमान जी के जीवन–चरित्र से हमको यह बहुत बड़ी

सीख मिलती है, जीवन को आनन्द–पूर्वक बिताने के लिए।

मुझे एक बात याद आती है। एक बार गरुड़ जा को कुछ अभिमान हो गया था तो भगवान विष्णु जी ने उनको काग जी के पास भेजा था। काग जी बहुत भावुक, बहुत ज्ञानी और प्रभु के परम भक्त हैं। वह गरुड़ जी को विभिन्न प्रलयों का वर्णन सुना रहे थे, 'हे गरुड जी! मैंने जल प्रलय देखी तब ऐसा हुआ, वायु प्रलय में इस प्रकार घटा, अग्नि प्रलय में ऐसे हुआ।' गरुड़ जी बहुत चतुर हैं, उन्होंने प्रश्न किया, कि 'काग जी! प्रलय में तो सारा संसार समाप्त हो जाता है, सारी सृष्टि नष्ट हो जाती है। जब आपने यह सब प्रलय देखीं, तो आप कहा थे? आपका नाश क्यों नहीं हुआ? आपका शरीर क्यों नहीं छूटा?' बहुत मौलिक प्रश्न था। काग जी मुस्कुराए, कहा, 'गरुड़ जी! आपने बहुत सुन्दर प्रश्न पूछा है, कि जिस प्रकार की प्रलय आती थी, मैं योग–शक्ति द्वारा उस प्रलय का रूप ले लेता था। अग्नि प्रलय में, मैं अग्नि का स्वरूप बन जाता था, वायु प्रलय में, मैं वायु स्वरूप और जल प्रलय में, मैं जल का स्वरूप बन जाता था, तो प्रलय मुझे आघात नहीं पहुंचाना थी, मुझे हानि नहीं देती थी।' अग्नि, अग्नि को क्या जलाएगी? जल, जल को क्या डुबोएगा? और वायु, वायु का क्या अनिष्ट करेगी? बहुत सुन्दर प्रकरण है, कि जिस प्रकार की परिस्थिति हो हम अपना मानसिक रूप वैसा ही बना लें, तो उस परिस्थिति को हम आनन्द–पूर्वक जी लेते हैं। वह हमारे जीवन को दुखद की बजाय, एक सुखद घटना बन जाती है और उससे हम समाज को, संसार को, एक प्रेरणादायक संदेश दे सकते हैं।

हनुमान जी के उपासकों में शैव भी है, शाक्त भी और वैष्णव भी। शैव इसलिये कि हनुमान जी भगवान शंकर के अंश है, अंश ही क्या वह तो प्रभु शंकर जी का एकादश रुद्र अवतार हैं, स्वयं शंकर हैं। और शाक्त इसलिए कि उनकी जो पूँछ है, वह स्वयं ''शक्ति'' भवानी है, माँ दुर्गा है। वैष्णवों के लिए भी वह पूजनीय हैं, क्योंकि वैष्णव वे है ही। साक्षात् विष्णु भगवान के अवतार, भगवान श्री राम के अनन्य, उत्कृष्ट एवं परम भक्त। हनुमान जी की एक और विशेषता यह है, कि चारों युगों में वह विद्यमान रहते हैं, सतयुग में भी, त्रेता में भगवान श्री राम हुए तब तो इनकी लीलाएं जग विदित है। द्वापर में भीम जी के साथ गन्धमादन पर्वत पर इनकी मुलाकात महाभारत में उल्लेखनीय है। कलयुग में तुलसीदास जी के साथ इनका

साक्षात्कार और समर्थ गुरु रामदास जी के साथ इनका वार्तालाप, ऐतिहासिक घटनाएं हैं। चारों युगों में वह विद्यमान हैं।

चारों वर्णों में भी आप हनुमान जी को पायेंगे। **ब्राह्मण भाव से** यह विद्वता और विद्या ग्रहण में, **क्षत्रिय भाव में** युद्धके मैदान में, **वैष्णव भाव में** प्रभु श्री राम के परम भक्त और **शूद्र भाव से** सेवा में लीन इनको यत्र–तत्र और सर्वत्र ग्रन्थों में भी और अपने इनके जीवन में भी पायेंगे। अतः चारों वर्णों में, उपासकों के प्रत्येक मत में और चारों युगों में हनुमान जी का पदार्पण जगत विदित है। एक सबसे बड़ी विशेषता इनमें यह है, कि जहाँ–जहाँ इनकी विशेष कृपा होती है, वहाँ–वहाँ उसको सम्राट बना देते हैं, शासक बना देते हैं। विभीषण से इनकी एक छोटी सी मुलाकात में जब वह माता सीता की खोज में लंका में प्रवेश करते हैं, तो विभीषण के घर जाते हैं। विभीषण, श्री राम के भक्त हैं। दोनों में बहुत सुन्दर वार्तालाप होता है। भगवान श्री राम की भक्ति में दोनों की अश्रुधारा बहती है और कुछ दिनों बाद विभीषण पर कृपा करके, रावण के जीते जी विभीषण को लंकेश घोषित करवा देते हैं। सुग्रीव की सेवा में रत रहते हैं, सुग्रीव को किष्किन्धेश बनवा देते हैं। आपको विदित होगा कि जब दुष्ट अहिरावण, प्रभु श्री राम को और लक्ष्मण जी को उठाकर पाताल ले गया था, तो हनुमान जी उनकी खोज में जाते हैं। उनको वहाँ द्वार पर मकरध्वज से सामना करना पड़ता है, तो इनको मालूम चलता है कि मकरध्वज उन्हीं का पुत्र है। अहिरावण को मारकर वह मकरध्वज को पाताल का शासक बना देते हैं।

हनुमान जी स्वयं सेवा–भाव और भक्ति–भाव में लीन रहते हैं। जहाँ–जहाँ इनकी कृपा होती है, वहाँ ऐश्वर्य, बल–बुद्धि, ज्ञान, सौन्दर्य, ख्याति और त्याग की भावनाएँ स्वयं विचरने लगती हैं। क्या कहें इनके बारे में? इनकी शक्ति और प्रेरणा से ही इनके बारे में बोल सकते हैं। अद्भुत, एक विशेष व्यक्तित्व है यह। आइए, हम सब प्रभु 'श्री हनुमान जी' को कोटि–कोटि प्रणाम करे, इनका आशीर्वाद लें कि हमारा जीवन विशुद्ध हो। हमारा चरित्र विशुद्ध हो। हमारा खान–पान अति विशुद्ध हो। हम अपना सुखद जीवन आनन्द–पूर्वक बिता सकें और सबको हमसे सुख और शान्ति का सदेश मिले।

।। जय जय श्री राम।।

जीवन दर्शन

मैं बल–बुद्धि–विद्या हीन, असमर्थ एवं अशक्त, अपने आराध्य देव अपने इष्ट, प्रभु श्री हनुमान जी की प्रेरणा, शक्ति और आदेश से आपके सम्मुख जो विषय रखने जा रहा हूँ, यह अपने में एक बहुत उत्कृष्ट एवं विचित्र विषय है। इससे पहले कि मैं आपसे इस विषय के बारे में कुछ बोलूँ, मैं यह निश्चित रूप से कहना चाहता हूँ, कि यह विषय केवल जिज्ञासुओं और मुमुक्षुओं के लिए है।

आज से हज़ारों वर्ष पहले उस सच्चिदानन्द ईश्वर की प्राप्ति के लिए उसको जानने के लिये, हमारे भारतवर्ष के ऋषियों, मनीषियों, तपस्वियों, ज्ञानियों एवं महात्माओं में एक जिज्ञासा उत्पन्न हुई, कि पारब्रह्म परमेश्वर क्या है? उन्होंने हिमालय की कन्दराओं में गुफाओं में बैठकर इस पर गहन मनन व चिन्तन किया। अपनी बुद्धि एवं पराबुद्धि के अधिकतम सदुपयोग से उन्होंने चार वेदों की रचना की, सामवेद, अथर्ववेद ऋग्वेद व यजुर्वेद। जब चारों वेद लिख लिए गए, तो इन चारों वेदों के रचयिताओं की एक सभा हुई, तर्क हुए और इन वेदों ने जो कुछ पाया, उसके सारांश को एक–एक वाक्य में प्रस्तुत किया, जो कि वेदों के महावाक्य हैं। एक वेद ने कहा **'अहम् ब्रह्मस्मि'** इस वाक्य से अन्य वेद सहमत नहीं हुए, दूसरे ने कहा– **तत्वमसि,** तीसरे ने कहा **'प्रज्ञानम् ब्रह्म'** और चौथे ने कहा **'अहम् आत्मा ब्रह्म'**। इन चार महावाक्यों के उद्‌घोष के बाद भी जब ब्रह्म के बारे में पूर्णतया सहमति से निष्कर्ष नहीं निकला, तो अन्त में वेदों ने एक शब्द पर सुलह की, वह शब्द था– **'नेति' 'न. इति'** अर्थात् हम चारों वेद जो भी जानते हैं, उस परब्रह्म परमात्मा के बारे में, वह अन्त नहीं है। इसके आगे भी कुछ है, जिसको हम नहीं जानते।

यहाँ एक बात का जिक्र करना अति आवश्यक है, कि यद्यपि उस परब्रह्म परमात्मा के बारे में वेद पूर्णतया नहीं जान सके तथापि उन वेदों की रचना के दौरान हमारे मनीषियों ने अन्य बहुत कुछ जान लिया, बहुत कुछ खोज लिया। आज के विज्ञान, अणु–विज्ञान, परमाणु–विज्ञान, रसायन–विज्ञान, नृत्य–शास्त्र, काम–शास्त्र, संगीत–शास्त्र, अर्थ–शास्त्र, चिकित्सा–विज्ञान और न जाने क्या–क्या इस खोज में उन्होंने खोज लिया। आज का जो पूरे विश्व का विज्ञान है, जिसको हम दुर्भाग्य से यूरोप की, अमेरिका की देन समझ रहे हैं, वह हमारे मनीषियों द्वारा रचित वेदों से

लिया गया है, जिसको हम भूल गए हैं। जब वेद उस परम सत्ता को पाने में असमर्थ घोषित हो गए, तो हमारे मनीषियों को संतोष नहीं हुआ, उन्होंने एक रणनीति को अपनाया और उस रणनीति का नाम था–**समाधि**। अर्थात् **जहाँ 'धि' अर्थात् बुद्धि सम् हो जाती है, स्थिर हो जाती है और उसके बाद जो आत्म–अनुभूति होती है, उसका नाम है 'समाधि'।** इसकी आवश्यकता इसलिए पड़ी, कि जब बुद्धि किसी प्रश्न का उत्तर न दे पाए, तो उन्होंने बुद्धि को हटाकर उस विषय को जानना चाहा। उसके बाद उन्होंने आत्मानुभूति के द्वारा एक नये विषय में पदार्पण किया, जिसका नाम है–**वेदान्त** वेद से अन्त, **जहाँ वेदों का अन्त हो जाता है, वहाँ से वेदान्त शुरू होता है। वेदान्त एक आत्मानुभूति है, एक दर्शन है, तो वेदान्तियों ने भी हिमालय की कन्दराओं में अपना जीवन लगा दिया।** उस परम सत्य को पाने के लिए तप किये और समाधि में बैठ–बैठकर परम सत्ता को पाने के लिये क्या–क्या नहीं किया? अन्त में वेदान्त एक महावाक्य में अन्त हुआ, जो था **'दृष्टा ही दृश्य है'**–देखने वाला स्वयं को ही देख रहा है।

गुरुनानक देव महाराज जी ने कहा है **'जो ब्रह्माण्डे सो पिण्डे'** अर्थात् हम अपने सम्पूर्ण जगत में अपनी देह को मिला कर, अपना परिवार, अपनी धन–सम्पदा, अपना देश, अपना रहने का स्थान आदि–आदि जो भी हमारा जगत है, वह हम स्वयं ही हैं। एक कैसेट रिकार्डिड है हमारे अन्दर जो समय–समय पर बाहर प्रकट होती है और हमें जगत के दर्शन होते हैं। बाहर कुछ नहीं है, केवल भीतर का बाहर प्रगटीकरण है। यहाँ आकर वेदान्त समाप्त हो गया। फिर एक प्रश्न उठा कि यदि यही सत्य है तो इस कैसेट की रिकार्डिंग किसने की? ये वृत्तियाँ जो बाहर प्रकट हो रही है सारा जगत बन कर, इनकी रिकार्डिंग किसने की है? किसने बनाया है इसे? तो वेदान्तियों ने यहाँ हाथ खड़े कर दिए कि हम नहीं जानते। लेकिन बात यहाँ खत्म नहीं होती। जिस परम सत्य को पाने के लिये वेद असफल हो गए, वेदान्त असमर्थ हो गया, वहाँ से एक मानसिक स्थिति उत्पन्न होती है, जिसका नाम है **'सच्चखंड।'** गुरुग्रन्थ साहिब में इसका वर्णन आया है कि उस सच्चखंड में प्रवेश करने के लिये, जीव को अपना समस्त ज्ञान, विज्ञान, जप, तप, दान, पुण्य सब कुछ समर्पण करना पड़ता है, **न केवल समर्पण बल्कि समर्पण का भी समर्पण। आपके हृदय से,**

आत्मा से, आपकी रूह से, आपके विचारों से इन चीजों का भास मात्र समाप्त हो जाये कि मैंने कभी जप–तप, दान–पुण्य आदि भी किया है' तब जाकर जीव इस सच्चखंड में प्रवेश करने के लिए योग्य करार होता है। उस 'सचखण्ड' में भी बहुत लम्बी पंक्ति लगी रहती है, उस परमानुभूति की एक झलक को पाने के लिए। एक शायर ने कहा है–

सबकी साकी पे नज़र हो, यह ज़रूरी है मगर,
सब पर साकी की नज़र हो, यह ज़रूरी तो नहीं।

उस सच्चखण्ड में प्रविष्ट होने वालों में से किसी–किसी पर जब विशेष देव कृपा हो जाती है, तो उसकी एक लेश–मात्र झलक मिल जाती है। उस परम सत्य की एक झलक। उसको पाने के बाद बहुत अटपटी स्थिति हो जाती है, जो अवर्णनीय है। मनुष्य झल्ला हो जाता है। यह बहुत दुर्लभ स्थिति है।

हम लोग संसारी जीव हैं। यदि कभी किसी के मन में उसको पाने की जिज्ञासा हो जाये, तो यह अस्वाभाविक नहीं है। **ईश्वर सच्चिदानन्द, हमारा अपना विशुद्धतम स्वरूप है। उसको पाना, उसको महसूस करना, उसके समीप जाना और उसका साक्षात्कार होना, यह हमारा जन्म–सिद्ध अधिकार है।** यदि इस जन्म में हम इसको प्राप्त नहीं कर सके, तो आगे का क्या भरोसा! इस जिज्ञासा को मैं जिज्ञासा की बजाए जुनून कहूँगा। यह जुनून आज से 24 वर्ष पहले मुझे हिमालय में ले गया था। बहुत प्रयत्नों के बाद जिस सरलतम् मार्ग द्वारा, प्रभुकृपा से कुछ थोड़ा बहुत प्राप्त हुआ, वह मैं आपके सम्मुख रख रहा हूँ। मेरे अनुभव में, उससे सरल मार्ग कुछ नहीं है।

सर्वप्रथम उस ईश्वरीय सत्ता को हमें मानना होगा। अगर हम विचार करें तो सारा जगत हमारी मान्यता पर ही आधारित है। हमारी देह, हमारा परिवार, हमारे सगे–सम्बन्धी और हमारा सब कुछ हमारी मान्यता पर ही आधारित है, तो क्यों न हम ईश्वर को भी मान लें? कई लोग प्रश्न करते हैं–कि क्या ईश्वर को मानना आवश्यक है? हम कहते हैं कि नहीं, कुछ आवश्यकता नहीं है। जैसे मैं पहले कह चुका हूँ, यह आज का प्रवचन केवल उन लोगों के लिए है जो **जिज्ञासु या मुमुक्ष** हैं, जो ईश्वर को जानना चाहते हैं। यदि हम किसी अलग स्थान पर बैठकर, अकेले में अपने से

कुछ प्रश्न करें, कि हम कब उत्पन्न हुए, हम विशेष माता–पिता से ही उत्पन्न क्यों हुए, हमारे विशेष सगे–सम्बन्धी क्यों हैं? विशेष प्रकार के हमारे बच्चे क्यों हुए, हम इस विशेष व्यवसाय में क्यों हैं, हमारी मृत्यु कब, कहाँ और कैसे होनी है? इन प्रश्नों का ईमानदारी से दिया गया उत्तर एक यही है कि 'हम नहीं जानते।

तो आइए, हम किसी ऐसी सत्ता को मान लें, जो सब कुछ जानती है। तो **पहला** कदम इस दिशा में है–**ईश्वर को मानना**। अब मानने के बाद, उस प्रभु के समीप कैसे जायें? उसको महसूस कैसे करें? तो **दूसरा** कदम है, **ईश्वर को किसी नाम व रूप में मानना।** इस भाव को लेकर हमारे मनीषियों, ऋषियों ने एक बहुत उदार दृष्टिकोण अपनाया। उन्होंने इसमें बन्धन नहीं रखा। उन्होंने कहा यदि आप नक्षत्रों को मानते हैं, तो आप सूर्य–भगवान, चंद्र– भगवान किसी को मान लीजिए। यदि आपको वृक्षों से प्रेम है, तो आप पीपल नारायण मान लीजिए। यदि आपको पत्थरों से प्रेम है, तो आप शिवलिंग मान लीजिए। यदि आपको नदियों से प्रेम है, तो गंगा मैया, यमुना मैया मान लीजिये। यदि आपको पक्षियों से प्रेम है, तो आप गरुड़–भगवान मान लीजिए। यही नहीं उन्होनें रंगो की पसन्द भी रखी। कुछ लोग लाल रंग पसन्द करते हैं, कुछ पीला पसन्द करते हैं, कुछ श्वेत, कुछ नीला और कुछ काला। उसके अनुसार हमारे विभिन्न देवी–देवताओं के रंग–रूप हैं। तो उन्होने हमें बड़ा सरलतम मार्ग सिखाया, कि ईश्वर को आप किसी भी नाम अथवा रूप में मानिए। नाम और रूप में ईश्वर को मानना ही काफी नहीं है। जैसा कि जब तक हमारा किसी व्यक्ति से कोई सम्बन्ध न बन जाए, तब तक हम उसके साथ व्यवहार नहीं रखते। अतः **तीसरा** बहुत आवश्यक कदम उन्होंने बताया, जो मेरा व्यक्तिगत अनुभव भी है कि आप सांसारिक लोगों की तरह **ईश्वर से भी संबंध स्थापित करिए**। वह ईश्वर आपका क्या लगता है? पति, पत्नी, भाई, पिता, माँ, गुरु, यहाँ तक कि सखा के रूप में भी आप सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। अतः निम्न तीन बातें निष्कर्ष में निकली –

–प्रथम, ईश्वर को मानना

–दूसरी बात, ईश्वर को नाम व रूप में मानना

–और तीसरी, ईश्वर के साथ कोई सम्बन्ध जोड़ लेना।

जब यह तीन बातें हो जाती हैं, तो उसके बाद, उसके साथ व्यवहार शुरू हो जाता है। आपका व्यवहार इस बात पर निर्भर करता है, कि आपकी मान्यता कितनी दृढ़ है? यह बात यहाँ पर गौर करने की है, कि यह बिलकुल दृढ़ विश्वास पूर्वक मान्यता है। इसमें कोई तर्क अथवा कुतर्क की गुंजाइश नहीं है। जब उसके साथ आपका व्यवहार शुरू हो जाता है, तो उसके बाद जो आपको आत्मानुभूतियाँ होती हैं, जो आपको अनुभव होते हैं, वह आपकी व्यक्तिगत सम्पदा है, वह आपका व्यक्तिगत मामला है। जिस प्रकार कि हम अपने परिवार की अन्तरंग बातें, केवल उसी व्यक्ति से करते हैं, जो हमारा बहुत–बहुत घनिष्ठ मित्र हो। इसी प्रकार जब हमे ईश्वरीय अनुभूतियाँ होने लगती हैं, तो कभी–कभार हम अपने अति घनिष्ठ आध्यात्मिक मित्रों से इस विषय पर चर्चा कर लेते हैं। यह मार्ग बहुत सरल है लेकिन इसमें एक मान्यता है, एक विश्वास है और उसके बाद कहीं प्रवचन सुनने की, पुस्तक, पढ़ने की, कहीं समाधि लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती बशर्ते हमारे मन में, बुद्धि में, किसी प्रकार का संदेह न हो।

इस सृष्टि में जितने भी मानव हैं, उनमें से अधिकतर केवल जीवन को जीवन के लिए ही जी रहे हैं। हम जब से होश संभालते हैं, तब से हमारा ध्यान संचय का और प्राप्ति की ओर रहता है। हम कुछ विद्या अध्ययन करते हैं, उसके बाद कुछ नौकरी या कुछ कारोबार शुरू करते हैं, विवाह–शादियाँ होती हैं, बच्चे उत्पन्न होते हैं, फिर हमारा ध्यान बच्चों पर केंद्रित हो जाता है। धीरे–धीरे हम वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाते हैं और अंत में मृत्यु हो जाती है। यह अमूमन जीवन का एक कार्यक्रम सा है। यदि हम विकसित जानवरों को देखें, तो उनका भी कार्यक्रम हमारे कार्यक्रम से कोई बहुत अलग नहीं है। वे भी पैदा होते हैं, कहीं न कहीं रहने का स्थान बना लेते है, बच्चे उत्पन्न करते हैं, वे भी अपने बच्चों से बहुत लगाव रखते हैं, खाते हैं, पीते हैं और अंत में वे भी मृत्यु को प्राप्त होते हैं। लेकिन कुछ विशिष्ट मानवों मे, अति विशिष्ट लोग ऐसे भी होते हैं, जो गम्भीरतापूर्वक इस प्रश्न पर विचार करते हैं, कि यदि हम पुनर्जन्म में विश्वास भी रखें, जब अगला जन्म मिलेगा तो उसमें भी हम कोई ऐसा सा ही कार्यक्रम बनायेंगे। फिर बार–बार यही कार्यक्रम। तो जीवन का अर्थ क्या हुआ? जीवन मिला क्यों है? जीवन काहे के लिये है? यह ऐसे प्रश्न हैं, जो हमें

दर्शन की ओर ले जाते हैं।

इससे पहले कि हम **'जीवन–दर्शन'** के बारे में कुछ बातचीत करें, यह जानना आवश्यक है कि दर्शन है क्या? कुछ गम्भीर विषयों को जब हम अपनी बुद्धि का अधिकतम प्रयोग करके भी जान नहीं पाते, बुद्धि असमर्थ हो जाती है, तो उस अवस्था में हमें बुद्धि को हटाना पड़ता है सभी तरह से, समाधि द्वारा या किसी भी अन्य साधन द्वारा। ध्यान दें– **बुद्धि के स्थिर होने के बाद, सम होने के बाद, जो आत्मानुभूति होती है, उसका नाम है 'दर्शन'। बुद्धि मात्र उन अनुभूतियों की सत्यता को प्रमाणित कर सकती है।**

अधिकतर हम लोग किसी न किसी प्राप्ति के पीछे भाग रहे हैं। धन की प्राप्ति, स्त्री की प्राप्ति, संतान की प्राप्ति, भवनों का निर्माण, अन्य सुविधाओं की प्राप्ति इत्यादि। अब प्रश्न यह उठता है कि हम प्राप्ति चाहते क्यों हैं? यहाँ गौर करने की बात यह है कि यदि हम जीवन दर्शन के बारे में कुछ जानना चाहते हैं, उसका प्रयोग, उसका उपयोग हम जीवन को बहुत सुन्दर बनाने के लिये करना चाहते हैं तो जीवन के एक–एक पहलू पर हमको बहुत गम्भीरतापूर्वक विचार करना अति आवश्यक है। किसी वस्तु की प्राप्ति हम इसलिये चाहते हैं, कि हम उसका भोग करना चाहते हैं। मान लीजिए, हमने एक सुन्दर भवन का निर्माण किया, जो कुछ वर्षों की कमाई और अपनी तमाम शक्तियों मानसिक, बौद्धिक, शारीरिक, को एकाग्र करके निर्मित हो गया। हम कोई विशेष डिग्री प्राप्त करना चाहते हैं, प्राप्त हो गई या हम कोई पद चाहते हैं, प्राप्त हो गया। अब दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि प्राप्ति के पीछे हमारी आकांक्षा क्या है? **वह है भोग**। यहाँ मैं आपसे प्रश्न पूछना चाहता हूँ कि जिस चीज़ की हम प्राप्ति चाहते हैं, क्या निश्चित है कि हम उस चीज़ को प्राप्त कर भी पायेंगे? मान लीजिये कि हमने उसको प्राप्त भी कर लिया, तो क्या उसको प्राप्त करने के बाद उसका भोग निश्चित है? अक्सर ऐसा देखा जाता है कि भवन निर्माण होते हैं और बनाने वाला उसका भोग नहीं कर पाता। एक पद मिल जाता है और उसका भोग हमारे अधीनस्थ–सहायक करते हैं। संतान होती है हमारी, लेकिन वे हमारे कुछ काम नहीं आती। धन प्राप्त करते हैं, इकट्ठा कर लेते हैं, बहुत संचित कर लेते हैं, लेकिन हम उसका उपयोग नहीं कर सकते। खाने–पीने की वस्तुएं बहुत

इकट्ठी हो जाती हैं, लेकिन कुछ शारीरिक बीमारियों के कारण हम उनको खा नहीं पाते। यह दैनिक जीवन की घटनाएँ हैं जो हम प्रायः अपने जीवन में व अन्य लोगों के जीवन में घटते हुए देखते हैं।

प्राप्ति करना चाहते हैं हम भोग के लिये! पहली बात उस प्राप्ति की कोई गांरटी नहीं है जिसके लिये हम भरसक प्रयत्न कर रहे हैं, दिन–रात व्यस्त हैं हम और प्राप्ति के बाद उसके भोग की गांरटी नहीं है। मान लीजिये कि हमने इसका भोग भी कर लिया तो क्या हुआ? क्या यही हमारा लक्ष्य था? नही, यहाँ यह बात जानने की है कि जो लोग भोग करते हैं किसी वस्तु का, उनको उस वस्तु की प्राप्ति आवश्यक नहीं है और जो लोग प्राप्ति करते हैं, उनको उसका भोग आवश्यक नहीं है। तो प्रश्न उठता है कि हम प्राप्ति में अपना इतना समय, इतनी शक्तियों को व्यर्थ क्यों किया? मान लीजिये कि हमने कुछ वस्तुओं का, सुखों का भोग भी कर लिया, फिर क्या हुआ? हम चाहते क्या है जीवन में? हम चाहते हैं **आनन्द**। जन्म से लेकर मृत्यु–पर्यन्त, प्रत्येक जीवधारी की दौड़ **आनंद** की ओर है। वह एक अलग बात है कि वह आनन्द किस चीज़ को समझ रहा है, वह उसका एक व्यक्तिगत दृष्टिकोण है लेकिन हम सूक्ष्म रूप से विचार करें तो **सारी सृष्टि आनंद की ओर दौड़ रही है। गफलत में, कोई प्राप्ति के पीछे, कोई भोग के पीछे दौड़ रहा है लेकिन उनके साथ आनन्द मिले, न मिले, यह आवश्यक नहीं है।** कई बार इस प्राप्ति और भोग के झगड़ों में हम लोग अदालतों के दरवाजे खटखटाते हैं, व्यर्थ कर देते हैं हम अपना समय, लेकिन हम नहीं जानते कि हम चाहते क्या हैं? हम चाहते हैं आनन्द, यह आनन्द क्या है?

आनन्द–आनन्द को परिभाषित किया गया है आत्मानुभूति द्वारा। जब हम कहते है कि इस वस्तु में बड़ा आनन्द आ रहा है, इस संगीत को सुनकर, इस विशेष भोजन को खाकर बड़ा आनंद आ रहा है तो उस आंनद का हमारा अर्थ क्या है? यदि हम बहुत सूक्ष्म रूप से विचार करें, तो हम पाएंगे कि जब हमारा मन कुछ क्षणों के लिये अथवा लम्बे समय के लिये ठहर जाता है, समाहित हो जाता है, उस अवस्था को हम आनन्द कहते हैं। इस आनन्द का प्राप्ति से या अप्राप्ति से, भोग से या भोग न करने से, कोई ताल्लुक नहीं है। यह अपने में स्वतन्त्र हैं। शोक, गम, खोना, पाना,

जीवन, मरण, हार, जीत, लाभ, हानि और जितने भी जीवन के ज्वलन्त एवं बहुत महत्वपूर्ण पहलू हैं, इस आनन्द का उनके साथ सम्बन्ध है भी और नहीं भी, तो यह आनंद कहाँ है? यह एक बहुत महत्वपूर्ण विषय है। इस विषय पर विचारधाराएं बदली हैं। इस आनन्द की प्राप्ति के लिये अलग–अलग दृष्टिकोण हैं।

हजारों वर्ष पहले हमारे ऋषियों, मुनियों ने जंगलों में, हिमालय की कन्दराओं में, नदियों के किनारे बैठकर गहन तप किया यह जानने के लिये कि यह आनन्द कहाँ है? तो आत्मानुभूति द्वारा, दर्शन द्वारा उन्होंने पाया कि **हमारा स्वरूप है आनन्द।** उसको एक संज्ञा दी गई हमारे भारतीय दर्शन में, जिसमें कहा गया है कि **जीव का स्वरूप ही आनन्द है, हम आनन्द स्परूप है।** हमने अपने जीवन को विक्षिप्त कर दिया है। हम इतने बाह्य–मुखी हो गये हैं, कि हमारा आंतरिक आनंद क्षीण हो चुका है।

भला विचार करिए, कि यदि हमारे मन में विक्षेप है, हम किसी न किसी कारण से त्रसित हैं, तो भोजन कितना ही स्वादिष्ट बना हो, हम खाना नहीं चाहते, हमारी भूख समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार कितना भी अच्छा संगीत हो, यदि हमारा हृदय आनन्दित नहीं है, तो हम उसको सुनना नहीं चाहते। कितने सुन्दर दृश्य ही, बाग–बगीचे हों, यदि हमारा मन प्रसन्न नहीं है तो हमें उन्हे, देखकर कोई भी आनंद नहीं आता। इसी प्रकार सम्पत्ति का आनंद, स्त्री का आनंद, संतान का आनंद, हमारे पदों का आनंद तब तक हमको नहीं आता, जब तक हमारा हृदय आनन्दित नहीं होता। प्रतिदिन के जीवन में आपने देखा होगा, कि आपका कोई संगी–साथी आपको किसी बहुत सुन्दर स्थान पर ले जाना चाहता है लेकिन, यदि आपका हृदय प्रसन्न नहीं है, तो हम साफ कह देते है कि 'मैं नहीं जाना चाहता।' अर्थ क्या हुआ? कि **आनंद यदि बाह्य वस्तुओं में होता, तो हम उन बाह्य वस्तुओं से आनन्दित क्यों न होते? आनंद हमारे हृदय में है। जब हम अंदर से खूब आनन्दित होते हैं, तो सारा जगत हमको आनंदमय लगता है अर्थात् हमारे भीतर का आनन्द बाह्य वस्तुओं में प्रकट होता है** जिसको देखकर एक तो हम उस आनन्द की जाँच कर लेते हैं और दूसरा बाह्य प्रगटीकरण द्वारा हम और आनन्दित हो जाते हैं। पाश्चात्य देशों की सोच हमारी सोच से भिन्न है। वह

भौतिक जगत है, उनके विचारों में आनन्द वस्तुओं में, है लेकिन जैसा हम देखते हैं, सुनते हैं, वहाँ भटकन ज्यादा है। पारिवारिक जीवन नष्ट हो चुके हैं, समाज नष्ट हो चुका है, संस्कृति नष्ट हो चुकी है। एक अंधी दौड़ है। अभी भी हमारे देश में वह संस्कार विराजमान हैं, कि हम अपने वास्तविक और भीतरी आनंद की ओर ज्यादा प्रेरित होते हैं और उसकी खोज करने के लिये हमारा प्रयत्न उन लोगों से कहीं अधिक है।

इस आनन्द का, जैसा मैंने पहले कहा है, शोक एवं ग़म के साथ भी सम्बन्ध है। उसमें भी एक आनन्द है, कैसे? मान लो किसी व्यक्ति के किसी सगे–सम्बन्धी की मृत्यु हो गई और वह शोक मग्न बैठा हुआ है। तो ऐसे समय में कोई उसका मित्र आकर उसे बुलाता है किसी आनंदमय स्थान पर ले जाने के लिये, जहाँ वही व्यक्ति हर रोज़ जाकर मनोरंजन करता है। तो वह शोक में डूबा हुआ व्यक्ति उसको 'न' कह देता है, 'मुझे तन्हाई में छोड़ दो, इस समय मुझे कहीं जाना अच्छा नहीं लगता', अर्थात् वह उस अवस्था में आनन्द ले रहा है। कहने को हम कहते हैं, कि वह शोकमग्न है, दुखी है लेकिन वह उस स्थिति में आनन्द ले रहा है। इसी प्रकार आनन्द का हर चीज़ से संबंध भी है और सम्बन्ध नहीं भी है, आनन्द हमारे भीतर की वस्तु है। जब हम भीतर से आनन्दित होते हैं, तो हम हर परिस्थिति का, हर वस्तु का भरपूर आनन्द लेते हैं। अब भीतरी आनन्द का अनुभव कैसे करें? यह एक बहुत जटिल विषय है जिसको हिमालय में बीस वर्ष रहने के बाद जो मैंने अनुभूति की वो आपके सम्मुख रखने जा रहा हूँ।

लय–योग– एक प्रकरण है हमारे योग में, जिसका नाम है 'लययोग'। जहाँ ध्यान द्वारा देह को हम लय कर देते हैं। यह लययोग कैसे होता है? मैं संक्षेप में आपके सम्मुख वर्णन करूँगा। अति गहनता पूर्वक विचार करके हम पायेंगे, कि हमारा सम्पूर्ण जगत हमारे ऊपर आधारित है, एक हमारे ऊपर। यह मेरी माँ, पिता, मेरे सगे–सम्बन्धी, यह मेरा घर, मेरा धर्म, मेरी देह, जितना भी मेरा संसार रूपी भवन है, एक 'मुझ' पर आधारित है। **एक उसका जो मुख्य स्तम्भ है जिसके ऊपर यह जगत रूपी सम्पूर्ण भवन खड़ा है, वह है 'मैं', एक मैं।** आपने कई बार सुना होगा कि आत्मानुभूति, चिंतन, ईश्वर–ध्यान इत्यादि के लिये

एकान्त चाहिये, यह एकान्त क्या है?' इसका आप सधिविच्छेद करिये एक+अन्त। इसको दो अन्त क्यों नहीं कहा? तीनांत क्यों नहीं कहा? यह 'एक' क्या है? एक का अंत हम क्यों कर रहें है? एकान्त कोई निर्जन स्थान से मान लिया जाता है, कोई जंगलों, पहाड़ों, कन्दराओं आदि से जहाँ पर कोई व्यक्ति न हो, हम व्यवहारिक भाषा में उसको एकान्त कहते है। वास्तव में वह एकान्त नहीं है। **एकांत का अर्थ है जहाँ एक का अंत हो जाये और वह 'एक' मैं हूँ, जिसके ऊपर पूरी सृष्टि, पूरा ब्रह्मांड खड़ा है।** एक–एक वस्तु को छोड़ने के बजाय यदि मैं अपने आपको छोड़ दूँ, तो कम से कम कुछ क्षण के लिये पूरा ब्रह्माण्ड लय हो जाता है और इस प्रकरण का नाम है **'लय योग'।**

अब इस एक का अंत कैसे किया जाये यह एक प्रक्रिया है, जिसके लिये किसी शांत स्थान पर, जहाँ कम से कम विक्षेप हो, बैठे जाइये या लेट जाइये और स्वयं को शव मान लीजिये। यह कोई शव आसन नहीं है, **शवयोग है। स्वयं को शव मानना, कि मैं एक मृतक शरीर पड़ा हुआ हूँ। तो अपने शरीर को चिता में लेटा हुआ देखिए। फिर दहन होता हुआ देखिये। फिर उसकी भस्मी बनते हुए देखिए। फिर उस भस्मी को अपने विचारों से, ध्यान से गंगा में अर्पित करिये। यदि एकाग्रतापूर्वक हम इन स्थितियों पर ध्यान देते हैं, तो कुछ देर बाद एक मानसिक स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिस मानसिक स्थिति का नाम है 'एकान्त'।** उस स्थिति को मैं यही शब्दों में वर्णन नहीं कर सकता। उस स्थिति का आपको स्वयं अनुभव करना होगा। उस स्थिति में जाने के बाद विचित्र आनन्द का अनुभव होता है। उस स्थिति में आपकी देह भी नहीं होती, धन नहीं, सम्पत्ति नहीं, संतान नहीं, स्त्री नहीं, पद नहीं, कुछ भी नहीं होता लेकिन वहाँ आनन्द होता है, एक अद्वितीय आनन्द। उस आनन्द की अनुभूति के बाद जब आप उस स्थिति से बाहर आते हैं, तो आपको उस स्थिति का एक विचित्र नशा हो जाता है। आप बार–बार उसी स्थिति में लौटना चाहते हैं। उस स्थिति का नाम है **'अभावमय आनन्द'। आनन्द एक मानसिक अवस्था है, जहाँ आप कम से कम कुछ क्षणों के लिये अपनी देह से परे हट जाते हैं। अपने देहाध्यास को समाप्त कर देते हैं। जब हम इस मानसिक एकान्त की स्थिति में आ**

जाते हैं, तो भीतर से स्वतः ही परम सत्य का दिग्दर्शन प्रारम्भ हो जाना है और यही वास्तविक सत्संग है।

एकान्त और सत्संग का दामन चोली का साथ है। विशिष्ट प्रभु कृपा से जब इस वास्तविक **'सत्संग'** की अनुभूति होने लगती है, तो आपके भीतर से ही यह गीता, उपनिषद, श्रुतियाँ, वेद, वेदान्त, शास्त्र स्वयं बोलने लगते हैं। यह अनुभव होता है, 'मैं आनन्द स्वरूप हूँ, मैं ज्ञानस्वरूप हूं'। जब हम उस स्थिति से बाहर आते हैं, तो उन बहुत विशुद्ध विचारों में हम खो जाते हैं। बड़ा विचित्र लगता है संसार कि हम क्या देख रहे हैं और वास्तविकता क्या है? इस लययोग प्रकरण को मैंने बहुत सूक्ष्म तौर पर आपको बताया है। इस लययोग से उठने के बाद आपकी मानसिक स्थिति बदल जाती है। आप जीवन के सत्य की ओर प्रेरित हो जाते हैं, कि "मैं कर क्या रहा हूँ? मैं अपनी सारी शक्तियों को और समय को जहाँ भौतिक प्राप्तियों में व्यर्थ कर रहा हूँ, उनके बाद मुझे मिलेगा क्या?" यही मेरा यह अर्थ नहीं है, कि हम उस स्थिति से उठने के बाद जीवन के कार्य–कलापों से विमुख हो जाते हैं। ऐसा नहीं है, बल्कि इसके विपरीत उन कार्यों को हम और क्षमता से करते हैं और इतनी अधिक क्षमता से करते हैं, कि साधारण व्यक्ति नहीं कर सकता। चूंकि वे कार्य जिनके लिये हम चिंतित थे, वे हमारे लिये एक लीला बन जाते हैं। हमारे लिये खेल बन जाते हैं। जैसे–जैसे जीवन की वास्तविकता हमारे सम्मुख आती है, हमारे भीतर स्थान बनाने लगती है तो बाह्य जगत हमें मात्र खेल के और कुछ नहीं लगता और खेल को हम बहुत आनन्दित होकर खेलते हैं। हमें जीने में आनन्द आता है, मरने में आनन्द, पाने में, खोने में, जीतने में, हारने में, शोक में, हर्ष में, रोने में, हँसने मे, हर पहलू में हमें आनन्द ही आनन्द आता है और हमारा जीवन आनन्द से ठसाठस परिपूरित हो जाता है।

अब चूंकि हम जीवन दर्शन का वर्णन कर रहे हैं, फिर आपको बीच में स्मरण दिला देना चाहता हूँ, यह विषय मैं उन लोगो के लिये कह रहा हूँ, जो जानना चाहते है, कि **जीवन काहे के लिये मिला है**? यह विषय दूसरे लोगों के लिये नहीं है। हमको अब तक यह विश्वास हो गया, कि जीवन का एक अर्थ है हमारे सामने– आनन्द की प्राप्ति और वह आनन्द हमको प्राप्त ही है। हमारा स्वरूप ही है आनन्द। जीवन दर्शन के कुछ विशिष्ट पहलुओं पर अपनी आत्मानुभूति का निचोड़ आपके

सम्मुख रख रहा हूँ.–

1. जीवन कोई उपहार नहीं है जैसा कि हममें, से बहुत लोग समझते हैं, कि जीवन एक उपहार है। उपहार नहीं है जीवन। क्यों ? आप जानते हैं कि जब हम किसी को कोई उपहार देते हैं तो उपहार देकर हम उसे वापिस नहीं लेते। कम से कम उससे छीनते तो नहीं है और आप यह भी जानते हैं, कि जीवन हमको दिया है ईश्वर ने और हमसे वापिस अवश्य लिया जायेगा। कभी–कभी यह छीन भी लिया जाता है। वहाँ कोई सवाल–जवाब, कोई तर्क, वितर्क नहीं चलता, एकाधिकार है उसका इस जीवन पर। जब हम गहनता से इस मुख्य प्रश्न पर विचार करते हैं, तो अगला विचार आता है मस्तिष्क में, यदि यह सत्य ही है कि जीवन हमसे अवश्य वापिस ले लिया जायेगा, तो क्या करना चाहिए हमको मेरे विचार से हमें **अपने वर्तमान को अधिक से अधिक सुन्दरतम् बनाना चाहिए, चूंकि वर्तमान ही सत्य है। हम जिसको भूत या भविष्य कहते हैं, वे वर्तमान पर ही आधारित है। आज का वर्तमान, बीते हुए कल का भविष्य है और आने वाले कल का भूतकाल होगा। यदि हम वर्तमान को हटा दें, तो भूत और भविष्य का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता।** यह जो वर्तमान हमारे सम्मुख है, हम जिस परिस्थिति में भी हैं, इसको हम अधिक से अधिक आनन्दपूर्वक बितायें। अगर हम कुछ विचार करके देखें, तो जीवन कुछ वर्तमानों का ही समूह है। हमारा वर्तमान जो विक्षेप में है, जो कष्ट में बीत गया वे हमारा वर्तमान निरर्थक हो गया। तो वर्तमान को बहुत सुन्दर बितायें।

2. जीवन के किसी पहलू पर हमारा कोई अधिकार नही है। यदि हम अपने जन्म, मृत्यु, लाभ, हानि व यश, अपयश आदि पर ईमानदारी से विचार करें, तो हम पायेंगे कि हमारे हाथ में कुछ भी नहीं है।

पहली बात मैंने कही कि जीवन उपहार नहीं है और दूसरी बात जीवन का कुछ भी हमारे हाथ में नही है। जब हमारी बुद्धि इस बात से विश्वस्त हो जाये, कि यह सत्य है तो हम क्या करें? जब हमारे हाथ में कुछ नहीं है, हमारे अधिकार में कुछ नहीं है तो हम अधिकार जमाना क्यों चाहते हैं? आज सारा संसार भय से ग्रसित है और उस भय का मूल कारण है कि जो चीज़ हमारे अधिकार में नहीं है उस पर हम अधिकार

जमाना चाहते हैं। हम अपनी देह, संतान, परिवार, पद, सम्पत्ति व धन पर अधिकार चाहते हैं, और जहाँ यह अधिकार का भाव हमारे ह्रदय में आता है वही हम विक्षिप्त हो जाते हैं, भयभीत हो जाते हैं, तनावित हो जाते हैं। यह बहुत गहन विषय है।

भगवान ने हमें एक बहुत सुन्दर देह दी है, बुद्धि दी है और संसार में सब प्रकार की सुन्दर रचनाएं दी हैं, सुन्दर–सुन्दर पर्वत, नदियाँ, समुद्र और तारे, पृथ्वी, विभिन्न वनस्पतियाँ और विभिन्न प्रकार के खनिज, बहुत सुन्दर सृष्टि है। यदि गहनता से विचार करें तो हम पायेंगे कि शायद ईश्वर ने यह देह हमें इसलिये दी है कि हम ईश्वर रचित सृष्टि को देखकर ईश्वर की प्रशंसा करें, उसकी वाह–वाह करें और आनन्दित ही। संसार में यदि हम आनंदपूर्वक जीवन जीना चाहते हैं, तो उसका मात्र एक मूल–मंत्र है, कि हम किसी वस्तु पर अधिकार न रखें। जहाँ अधिकार रखने का भाव मात्र हमारे ह्रदय में आयेगा, वहीं हमारा जीवन तनाव की तरफ अग्रसर हो जायेगा। आज तनावों से उत्पन्न होने वाली बीमारियों का आधिक्य है और उसका कारण है हमारा निरर्थक अधिकारवाद। इस विषय को हमें अति गहन रूप से समझना होगा। यदि हम इसको समझेंगे और इसका मनन करेंगे, तो हम एक बहुत सौन्दर्यपूर्वक जीवन बिता सकते है वरना कदापि नहीं।

3. तीसरा एक बहुत महत्वपूर्ण पहलू जो मैं आपके सामने रखने जा रहा हूँ जिसको सुनकर आप पहले तो अचम्भित हो जायेंगे, कि जो कुछ भी हम सब कर रहे है वह हमारा कर्त्तव्य नहीं है, नहीं है। इसको स्पष्ट करने के लिये मैं आपसे एक प्रश्न पूछता हूँ, कि हम सभी किसी न किसी कारण से कुछ न कुछ कर रहे हैं। यदि **वे कार्य हमारे बिना भी हो सकता है और सम्भवतः हमारे बिना वह और अधिक सुन्दर पूर्ण हो, तो वह हमारा कर्त्तव्य कैसे हो सकता है?** अर्थात् हम जो भी कुछ कर रहे हैं, हम कितने तनावित हैं उसकी पूर्णता के लिये कि हमको कुछ और सूझता ही नहीं और जीवन अगाध गति से समाप्त होता जा रहा है। जब हमें यह मालूम चलता है कि जो हम कर रहे हैं, वह हमारा कर्त्तव्य नहीं है, तो पहले तो हमको एक धक्का सा लगता है और उसके बाद हम बहुत शान्त हो जाते हैं। एक–एक बात पर आप विचार करिये। आप मानकर चलिए कि अगर आपकी मृत्यु इसी समय हो जाये तो क्या संसार रुक जायेगा? क्या हमारे जन्म से पहले संसार नहीं

चल रहा था? हम अपने बच्चों के बारे में चिन्तित रहते हैं, कितनी बातों के बारें में हम चिन्तित रहते हैं, थोड़ा विचार करके देखें, कि यदि हम न हों तो क्या यह कार्य नहीं होंगे? इसका अर्थ यह नहीं है कि हम निठल्ले बन जाये, निठल्ला बनाने के लिये भगवान ने हमें भेजा भी नहीं है। तो जब हमारा कोई कर्त्तव्य नहीं है तो हम क्या करें?

इसके लिये मैं आपको दो तरीके बता रहा हूँ—पहला है **समाहित होना**। कैसे? उदाहरण के लिये आप एक गिलास ले लीजिये, उस गिलास के आयतन को मापिये, उसका एक निश्चित आयतन है। उसके आयतन जितना उसमें जल भर ले और अधिक उसमें जल भरना चाहें, तो एक बूँद भी जल नहीं आयेगा। यदि हम किसी को कहें कि गिलास में समुद्र जितना जल भर लीजिये, तो क्या यह सम्भव है? आप सभी कहेंगे, असम्भव। उस गिलास की एक निश्चित धारिता है, एक आयतन है और उसमें समुद्र का जल क्या उसमें तो एक बूद जल भी अधिक नहीं आ सकता। परन्तु यदि हम उस गिलास को समुद्र में फेंक दें तो गिलास—गिलास रहेगा, उसका भौतिक आयतन भी उतना ही रहेगा जितना था। लेकिन उसकी क्षमता करोड़ों गुना बढ़ जायेगी। उस गिलास से आप करोडों मन जल निकालना चाहें, निकाल सकते है। गिलास भरे का भरा रहेगा, यदि गिलास समुद्र में पड़ा हुआ है। यह है जीवन दर्शन। जीवन में हम लोग अधिक से अधिक बुद्धि लगाते हैं लेकिन उसकी एक सीमा है। हम अपनी शारीरिक शक्ति के अनुसार कार्य करते हैं, लेकिन उसकी भी एक सीमा है तो यही दर्शन है—**जैसे गिलास को हमने समुद्र में डाल दिया तो उसकी क्षमता करोड़ों गुना बढ़ गई। इसी प्रकार यदि हम अपने आपको उस ईश्वरीय सत्ता के साथ जोड़ दे, उसमें समाहित हों जाएं, तो हमारी क्षमता इतनी अधिक हो जायेगी, कि जिसकी गणना हमारे स्वयं के पास भी नहीं होगी।** देखने में, सुनने में राह बात बहुत अच्छी लगती है, कि वाह! हम अपनी क्षमता को करोड़ों गुना अभी बढ़ा सकते हैं, पर ऐसा करना यदि असंभव नहीं तो अति कठिन अवश्य है।

दूसरा बहुत साधारण तरीका जो मैं आपके सामने बताने जा रहा हूँ वह है— **शून्य का सिद्धान्त**। यह आसान भी है, जिसका आप अभी से प्रयोग करना शुरू कर सकते हैं और अपने जीवन के कार्य करते हुए बहुत सुन्दर आनन्दमय जीवन

बिता सकते हैं। यदि हम गौर से विचार करें, तो **हमारा जीवन शून्य से शुरू होता है और शून्य पर अंत हो जाता है। तनिक विचार करिये, कि जो कोई प्रश्न शून्य से शुरू हुआ तो उसका उत्तर भी शून्य ही होगा। उस प्रश्न के मध्य में जो हम गणना करेगें, वह भी शून्य होगी।** क्योंकि अर्थात् जो कुछ भी हम कर रहे हैं जीवन में, हम अपने आपको बहुत ही बुद्धिजीवी और व्यस्त समझते हैं, हम शून्य ही कर रहे हैं। इस शून्य की हम शक्ति कैसे बढ़ाये? **यदि हम शून्य के साथ एक लगा दें तो वह शून्य, दस बन जाती है, उसके साथ एक शून्य और लगा दें तो वह सौ, फिर एक हज़ार, फिर दस हज़ार, फिर लाख, इस प्रकार एक–एक शून्य की कीमत बढ़ने लगती है। यह मात्र दर्शन नहीं है, यह सत्य है।** इसको जीवन में घटायें तो आप देखेंगे, आपके जीवन का दृष्टिकोण, आपके जीवन का परिणाम तुरन्त बहुत विशाल और बहुत मूल्यवान हो जायेगा। हमारा कहने का अर्थ क्या है? कि **जो भी कार्य हम करें, ईश्वरीय प्रेरणा से, ईश्वर के निमित्त करके करें, तो वे कार्य हमारे जीवन के रिकार्ड में आ जायेगा, उसकी कीमत बढ़ जायेगी। अन्यथा हर किया हुआ हमारा कृत्य शून्य के अलावा कुछ भी नहीं है, कुछ भी नहीं।** हम दिन–रात सोते हुए भी, स्वप्न में भी किसी न किसी सृष्टि का निर्माण करते रहते हैं, हम कुछ न कुछ बनाते रहते हैं। हम अपनी बहुत सुन्दर बौद्धिक शक्तियों को व्यर्थ में बेकार करते रहते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि हम ईश्वर निमित्त कार्य कैसे करें? कैसे जानें कि हमारा कार्य ईश्वर निमित्त हो चुका है? उसका एक बहुत आसान टैस्ट है, जो मैं आपको बताने जा रहा हूँ– **जो कार्य ईश्वरीय होगें, ईश्वर निमित्त होंगे, उनमें सदा तीन प्रकार के आनन्द जुड़े होगे किसी कार्य को करने से पहले आनन्द।** हर्षित हो जायेगा आपका मन किसी कार्य करने से पहले यदि वे ईश्वरीय कार्य है और उस **कार्य को करते समय मध्य में आपका मन हर्षित रहेगा, आनन्दित रहेंगे आप और कार्य की समाप्ति भी आनंद में ही करेंगे।** यदि किसी कार्य के यह तीनों आनन्द है तो समझिये वे कार्य ईश्वरीय है, ईश्वर निमित्त है और उसको आप आनन्दपूर्वक करेंगे। **उस कार्य का फल आपके**

बंधन का हेतु नहीं बनेगा। उसका प्रारम्भ आनन्द में होगा और अंत भी आनन्द में होगा। सबसे महत्वपूर्ण आनन्द है अन्त का आनन्द।

आगाज को कौन पूछता है, अंजाम अच्छा हो जिन्दगी का।

प्रत्येक कार्य, प्रत्येक मिलन और प्रत्येक जीवन प्रक्रिया, यदि इन तीनों आनन्दों से युक्त है तो समझिये वो कार्य ईश्वरीय है।

ईश्वरीय कार्यों की दूसरी पहचान है **स्वतः भाव**–जो काम ईश्वरीय होते हैं उसमें आपको कोई प्रोग्राम नहीं बनाने पड़ते। एक विशेष समय पर आपके पास सारे साधन स्वयं जुट जाते हैं। आप मुझसे प्रश्न करेंगे कि ईश्वरीय कार्य एक विशेष समय पर होते हैं, तो बीच के समय में हम क्या करें? इसके लिए महापुरुषों ने जो सुझाव दिया है, वह है–**ईश्वरीय जाप**।

कई बार लोग पूछते हैं कि राम–राम करने से क्या होता है? इसका एक बहुत बड़ा वैज्ञानिक कारण है, छोटे–मोटे कार्य करते हुए, खाना बनाते समय, गाड़ी चलाते हुए, चुपचाप बैठे हुए, हम जब बुद्धि का प्रयोग नहीं कर रहे होते, तो उस समय हम ईश्वरीय जाप करते रहें। सभी धर्मों में जाप का किसी न किसी प्रकार से विधान है। उस जाप को करते रहने से हमारा मन किसी अच्छे काम में व्यस्त रहता है। हमारे लिए विनाश का कारण नहीं बनता और बीच में जब ईश्वरीय इच्छा होती है, तो वे ईश्वरीय मन होने के नाते, ईश्वर ही अपने मन के द्वारा कोई न कोई परिस्थिति बना देते हैं और हमारे सम्मुख कोई कार्य हमको निमित्त बनाकर दिया जाता है। कार्य ईश्वर करता है और उस कार्य में आप देखेंगे, कि जो कार्य हमें निमित्त बना कर किये गये हैं, उनमें तीनों आनन्दों का समन्वय होता है। उस कार्य के लिये इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक एवं इच्छाफल, यह चारों स्वयं ईश्वर ही होते हैं। वही ईश्वर कार्य की स्वयं में इच्छा, इच्छा के इच्छुक, उस इच्छा के पूरक भी स्वयं ही बनते हैं और जब वे इच्छा पूर्ण हो जाती है, कार्य सिद्ध हो जाता है, तो उसके फल का भोग भी ईश्वरीय ही होता है।

अपने व्यवहारिक जीवन में आपने कई बार देखा होगा कि किसी वस्तु को प्राप्त करने की हमारी तीव्र इच्छा होती है, तो हम प्रभु से प्रार्थना करते है कि 'हे ईश्वर! मेरी यह इच्छा पूरी हो जाये।' यहाँ हम गलती कर देते हैं, इच्छापूरक हम

भगवान को मान लेते हैं और इच्छा हम अपनी मान लेते है, इच्छुक हम स्वयं बन जाते है। कई बार हमारी इच्छाएं पूर्ण हो भी जाती हैं और बहुत बार आपने अनुभव किया होगा, कि इच्छा पूर्ण होने के बाद हमें पछतावा लग जाता है कि, 'हे भगवान! इच्छा पूर्ण न ही होती, तो कितना अच्छा होता। मेरा लड़का डाक्टर न बनता, इंजीनियर न बनता, मेरी लड़की का ऐसे घर में विवाह न होता, तो कितना अच्छा होता।' यह हमारे रोज़मर्रा के जीवन की बातें हैं। यह इसलिये होता है कि हम स्वयं को उस संकल्प का इच्छुक और स्वयं की इच्छा मानकर चलते हैं। **हमको इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक एवं इच्छाफल यह चारों ईश्वर निमित्त कर देने चाहिए। ऐसा करने से यदि इच्छा पूर्ण होती है तो हम उसके इच्छाफल का आनन्दपूर्वक भोग कर सकते हैं और यदि इच्छा पूर्ण नहीं होती तो हमें उसका क्षणिक विक्षेप हो सकता है,** उस समय तनिक कष्ट हो सकता है कि हमारी इच्छा पूर्ण नहीं हुई लेकिन बाद में हम अहसास करेंगे, कि बहुत अच्छा हुआ। अत. ईश्वर निमित्त सब कार्य करने से हमारा जीवन आनंदमय हो जाता।

यदि हम विद्यार्थी हैं तो जो हमने व्यक्तिगत जीवन में अनुभव किया वह एक गुर बता रहे हैं, कि जब हम पढ़ने बैठते हैं, तो यदि हम **शिक्षा, शिक्षक, शिक्षार्थी एवं शिक्षाफल ईश्वर को मानकर चले, तो उससे हमारी शिक्षा, शिक्षा–प्राप्ति और शिक्षा का फल अत्यधिक गुणात्मक हो जाता है।** जब हम परीक्षा दे रहे हैं, तो परीक्षा, परीक्षक, परीक्षार्थी एवं परीक्षाफल ईश्वर को मानकर चलें। इस धारणा में कोई ज्यादा समय नहीं लगता, अधिक से अधिक एक मिनट का समय लगता है। **यदि विद्यार्थी और शिक्षक इस धारणा को अपना लें, तो वे अनुभव करेंगे कि उनका शिक्षार्थी होना एवं विद्यार्थी होना अत्यधिक गुणात्मक हो जायेगा। वही शिक्षा लेना और वही शिक्षा देना उनके लिये बहुत सुखद और आनन्दमय कार्य हो जायेगा।** जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, कि हम इस संसार में अपने ऊपर कर्त्तव्यों का एक बोझ ढो रहे हैं, निरर्थक। यदि हम विचार करें, तो हमको मालूम चलता है कि कोई भी कार्य हमारे बिना अधूरा नहीं रहता। **संसार उस कालेश्वर प्रभु की कृपा से चल रहा है, चलता रहा है और चलता रहेगा।**

मैं एक दृष्टांत देता हूँ किसी पागल ने एक पेड़ को दोनों हाथों से पकड़ लिया और पकड़ कर वह चिल्लाने लगा कि, 'कोई मुझे पेड़ से छुड़ाओ, मुझे पेड़ ने पकड़ लिया है।' लोग वहाँ से निकल रहे थे और हँस रहे थे, यह पागल है।, तभी एक महात्मा वहाँ से निकले, उन्होंने कहा, 'भगत जी, आप रो क्यों रहे हो' उसने कहा, 'मुझे पेड़ ने पकड़ लिया है, मुझे कोई छुड़ा नहीं रहा है।' महात्मा ने कहा, 'अच्छा, हम तुम्हें छुड़ा देते हैं।' महात्मा के हाथ में लोहे का चिमटा था, तो उन्होंने उस पागल की पीठ पर चिमटा मारा तो उसके हाथ पेड़ से छूट गए। वह बहुत प्रसन्न हुआ और महात्मा के चरणों में पड़ गया, कि महाराज आपने बहुत कृपा की जो पेड़ से छुड़ा दिया मुझको। मैं आपसे यह पूछना चाहता हूँ कि क्या हमारी सबकी उस पागल जैसी दशा नहीं है? हमने संसार को पकड़ा हुआ है, संसार ने हमको नहीं। कोई अपने व्यवसाय की, कारोबार की, कोई परिवार की, कोई देश की, कोई विदेश की, न जाने कितनी जिम्मेवारियाँ हम अपने सिर ढो रहे हैं, जबकि हम जानते हैं कि पूरे महाब्रह्माण्ड की समस्त सृष्टि, उस सर्वशक्तिमान परमात्मा की अगाध कृपा से स्वतः ही चल रही है। जब हम इस भाव को लेकर कार्य करते हैं, क्योंकि कार्य तो हमको कुछ न कुछ करना ही है, हमारी देह उसी प्रकार से रचित है, हमारी बुद्धि, हमारी परिस्थितियाँ उस प्रकार से स्वतः ही बन जाती हैं। **कार्य तो हमको करना ही है, यदि हम यह समझकर करेंगे, कि यह परमात्मा द्वारा ही हो रहा है उसकी शक्ति से ही हो रहा है, तो हमारे अन्दर कर्त्ताभाव समाप्त हो जायेगा, हम अकर्त्ता हो जायेंगे। अकर्त्ता भाव से किया हुआ कार्य हमें बंधन–मुक्त कर देता है क्योंकि जहाँ भी हम कर्त्ता बनेंगे, वहाँ हमको भोक्ता बनना ही पड़ेगा, चाहे वो अच्छे फल का हो, चाहे वह बुरे फल का हो।**

जो भी कार्य हम करें, उसको साथ ही साथ ईश्वर निमित्त करते जायेंगे, तो हम कर्मबन्धन से मुक्त हो जाते हैं। यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि है, बल्कि मैं तो यही कहूँगा, कि जैसे आप सुबह उठें, अपने देव दरबार में, अपने इष्ट के सम्मुख जाकर, आप रोते हुए प्रार्थना करें, कि 'प्रभु। मैंने कुछ भी नहीं किया, जो कुछ हो रहा है आपकी प्रेरणा से हो रहा है।' जब हम तहेदिल से यह प्रार्थना करते हैं तो उसी समय हमको एक विशेष सुख व शांति की अनुभूति होती है। हम कर्मबन्धन से मुक्त हो

जाते हैं। संचित कर्म, आगामी कर्म, पूर्व कर्म, वर्तमान कर्म, न जाने कितने कर्मों के बंधन में जकड़े हुए हैं, कितना अँधेरा ढो रहे हैं हम। मान लीजिए हम किसी म्यूजियम में जाते हैं–पुरानी हवेलियों में, पुराने राजवाड़ों में आपको कुछ म्यूजियम मिलेंगे। वहाँ आपको बहुत सी वस्तुएं मिलेगी, जो उनके दादा–परदादा के समय की होती हैं। कुछ उनके पिता के समय की होती हैं। कुछ उनके अपने बचपन की होती है और अन्य कई प्रकार की वस्तुएँ होती हैं, जो कि भिन्न–भिन्न समय और परिस्थितियों में एकत्रित की गई होती हैं। अब आप कल्पना कीजिए कि कभी उस म्यूजियम में आग पकड़ जाये, तो उस आग ने सब प्रकार की वस्तुओं को भस्मीभूत कर देता है। आप उस भस्म में से उनकी पुरानी, अति पुरानी और वर्तमान वस्तुओं की भस्म को अलग नहीं कर सकते। वे सब भस्म हो जाती है। इसी प्रकार ह**मारे अन्दर जब ज्ञानाग्नि लगती है, जब हमें यह मालूम चल जाता है, कि सब ईश्वर ही करवा रहे हैं, तो हमारे सारे कर्मबन्धन उसी समय समाप्त हो जाते हैं।** भगवान श्री राम ने जब विभीषण को अपने सामने आने का आदेश दिया– विभीषण जब रावण को छोड़कर आया तो वह चरणों में पड़कर गिड़गिड़ा रहा है, 'प्रभु। मुझे क्षमा करो, कृपा करो मुझपर, मैं एक राक्षस का भाई हूँ।' अपने आपको बहुत कोसता है, दण्डवत् करके प्रभु के सामने लेटा हुआ रो रहा है और गिड़गिड़ा रहा है। प्रभु श्री राम, पहले उसको सुनते हैं और फिर उसको बीच में रोक देते है, कि, 'विभीषण! शांत हो जाओ, बहुत हो गया' । हाथ उठा कर कहते है कि–

सन्मुख होई जीव मोहि जबही, जन्म कोटि अघ नासहि तबही।

विभीषण सुनो ! यह मेरी प्रतिज्ञा है कि जब कोई जीव मेरे सम्मुख होता है, मेरी ओर मुँह करता है, तो मैं उसके एक–दो पाप नहीं, एक–दो जन्म के पाप नहीं उसके करोड़ो जन्मों के पाप उसी समय काट देता हूँ, उसको बरी कर देता हूँ।" जैसे ही हम निरर्थक ही कर्मों का बोझा ढोये हुए उस प्रभु की ओर मुख करते हैं, आर्तनाद करते हैं, प्रार्थना करते हैं, तो उसकी कृपा से हम तुरन्त कर्म–बन्धन से मुक्त हो जाते हैं और हमें एक विशेष प्रकार की शान्ति और सुख का अनुभव होने लगता है। यह आप कभी आज़मा कर देखियेगा, आपका जीवन बहुत सुखद हो जायेगा।

बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है कि **निष्काम कर्म क्या है,** बड़े–बड़े विद्वान इस

प्रश्न का बहुत प्रकार से समाधान करते हैं लेकिन इष्ट कृपा से जो मैं समझ पाया हूँ वह मैं आपके सामने प्रस्तुत करने जा रहा हूँ। **जब किसी भी कर्म से हमारा कर्त्ताभाव हट जाता है तो वह अवस्था, कर्म को करते हुए निष्काम कर्म है।** कुछ लोग समझते हैं कि जब हम बिना धन के, लालच के, काम करें वह निष्काम कर्म हैं, ऐसा नहीं है। जब तक हमारे भीतर किसी कर्म को करने का भाव, सूक्ष्म अथवा सुक्ष्मतम् रूप से भी विराजमान रहेगा, तब तक हम निष्काम कर्मयोगी नहीं हो सकते। **हमारा मानसिक भाव ऐसा बन जाये कि कर्म हमें, हमारे द्वारा, होता सा प्रतीत हो, करते हुए नहीं प्रतीत हो, जब ऐसी स्थिति आ जाये तो उसे कहा है निष्काम कर्मयोग।** तब हम कर्म–बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। उसके फल की हमको कोई चिंता नहीं रहती, न आकांक्षा रहती है। तो निष्काम कर्मयोग वह मानसिक स्थिति है, जिसमें हमारे द्वारा हुए कर्मो का हमको केवल भास मात्र होता है। यह सब कुछ हमारे द्वारा हो रहा है, हम नहीं कर रहे हैं। अब ईमानदारी से किसी की यह स्थिति बन जाये तो वह निष्काम कर्मयोगी है। निष्काम कर्मयोगी को कोई दूसरा नहीं पहचान सकता, वह स्वयं को स्वयं ही पहचान सकता है क्योंकि यह एक स्वतः अनुभव का विषय है।

ज्ञानमार्गी जब इस बात को समझ लेते हैं, कि सब का कर्त्ता–धर्ता ईश्वर हैं, सृष्टि का निर्माणकर्त्ता, पालनकर्ता, सहारकर्ता ईश्वर है और इस संसार में एक भी पत्ता ईश्वर की शक्ति व इच्छा के बिना हिल नहीं सकता, तो इस बात का नित्याध्यासन करते–करते वह भी इस स्थिति पर पहुँच जाते हैं, कि हमारे द्वारा जो कुछ भी हो रहा है, उसका कर्त्ताभाव हमारे अन्दर से इस ज्ञानाग्नि से कैसे समाप्त हो कि हम कर्त्ता नहीं है। तो ज्ञानी, ज्ञान द्वारा इस निष्काम कर्मयोग की स्थिति में पहुँच जाता है और भक्त रोकर भगवान के आगे प्रार्थना करते है, कि 'प्रभु। मुझे कर्मबंधन से मुक्त करवाओ, मैंने कुछ नहीं किया।' भक्त जब आर्त्तनाद करता है तो प्रभु की कृपा हो जाती है और वह अपने आपको प्रफुल्लित, हल्का सा, शांत सा और सुखी सा महसूस करने लग जाता है, वह उसकी निष्काम कर्मयोग स्थिति आ जाती है। उसे आभास हो जाता है कि उसके द्वारा किये हुए कार्य सचमुच ही कोई और शक्ति करवा रही है। तो एक विशेष बिन्दु है **निष्काम कर्मयोग, एक ऐसी मानसिक**

स्थिति, जहाँ भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, तीनों का संगम हो जाता है तो वह प्रयाग हो जाता है। जब उस स्थिति में जीव अपने आपको महसूस करने लगता है, तो वह जीव, जीव नहीं रहता वह परब्रह्म बन जाता है। वह साक्षात् अपने आपको ब्रह्म अंश महसूस करने लगता है। यह स्थिति शब्दों से वर्णन नहीं की जा सकती, यह अनिर्वचनीय पद है। कहा है, शायर ने

तुम वो बात क्यों पूछते हो, जो बताने के काबिल नहीं है
उनके पैरों में मेंहदी लगी है, आने जाने के काबिल नहीं है।

यह वह स्थिति है जहाँ हम रुक जाते हैं, ठहर जाते हैं और चलते से महसूस होते हैं। इस स्थिति में जाकर हम चलते से महसूस होते है लोगों को, स्वयं को, लेकिन हम भीतर से ठहर जाते हैं। हम अपनी उस परमसत्ता, उस सच्चिदानन्द स्वरूप से जुड़ जाते हैं, हम योगी बन जाते हैं और उस योग का जो आनन्द है, वह अविरल आनन्द हमको एक अविरल सरिता की तरह बहते हुए महसूस होने लगता है। उस अमृतधारा का हम निरन्तर रसपान करने लगते हैं, उस वीणा को हम निरंतर सुनने लगते हैं, हम मंत्रमुग्ध हो जाते हैं, हम आनन्दित हो जाते हैं, एक विशेष स्थिति है। उस स्थिति की यदि क्षण दो क्षण की भी हमको अनुभूति हो जाये तो जीवन सार्थक हो जाता है। अब आप समझिये कि किस प्रकार हम कर्मों का, कर्तव्यों का बोझा ढो रहे हैं? इतना सुन्दर और भव्य जीवन जो प्रभु ने हमको दिया है, हम किस प्रकार इसको व्यर्थ करते चले जाते हैं संसार में, फिर जन्म लेते हैं, फिर मरते हैं, और निरंतर वही कार्यक्रम चलते रहते हैं।

अब आप समझ गये होगे, कि कितना आवश्यक है इस दर्शन को अपनाना। दुर्भाग्य यह है कि हम जीवन को अपनी बुद्धि द्वारा चलाना चाहते हैं। उस बुद्धि द्वारा हम अपने जीवन की योजनाएं बनाते हैं और फिर हम उनका फल भी चाहते हैं। आज पूरे विश्व में और विशेषकर बुद्धिजीवियों में डिप्रेशन एक बहुत बड़ी मानसिक मुश्किल उभर कर आई है। प्रत्येक व्यक्ति थोड़ा बहुत निराश रहता है, कारण, कि जीवन को हम बुद्धि द्वारा चलाना चाहते हैं, लेकिन जीवन हमारा नहीं है। जीवन हमारी धरोहर नहीं है। इसको कोई और चला रहा है। कोई और इसका संहार करेगा। किसी और ने यह जीवन हमको दिया है, उस सर्वशक्तिमान परमात्मा ने।

बुद्धि का तो केवल इतना ही काम है कि जो खेल वह हमको किसी समय में, किसी परिस्थिति में खिला रहा है, उसकी हम केवल प्रशंसा करें, उसकी वाह–वाह करें और उसका हम आनन्द लें, कि वह खेल कैसा खेल रहा है? यह है निष्काम कर्मयोग। जो भक्तियोग, ज्ञानयोग व कर्मयोग का संगम है। जिसे मैंने अनुभूति के आधार पर आपके सामने प्रस्तुत किया है।

लक्ष्मी का दर्शन–हम सभी लोग धन कमाने के लिये लालायित रहते हैं, पर हम जानते नहीं हैं कि इस लक्ष्मी मैया के रूप कितने है? अगर लक्ष्मी के दर्शन पर थोड़ा विचार किया जाये तो हमारे मनीषियों ने 108 प्रकार की लक्ष्मी के रूप वर्णन किये है। मेरे इष्ट, प्रभु हनुमान जी के बारे में संत तुलसीदास ने लिखा है–

अष्ट सिद्धि नौ निधि के दाता, असवर दीन जानकी माता

प्रभु हनुमान जी आठ सिद्धियों और नौ निधियों के दाता हैं। अब यह नौ निधियाँ क्या है? यह लक्ष्मी के अति विस्तृत 108 रूपों को 12 से भाग करके नौ निधियाँ मान लीं। निधि अर्थात् धन, लक्ष्मी, सब प्रकार की लक्ष्मी और इन 9 निधियों को पुनः तीन में बाँटा गया है–तीन रजोगुणी, तीन सतोगुणी और तीन तमोगुणी। मैं आपको संक्षेप में जो बताने जा रहा हूँ, वह यह कि आपके पास कौन सी निधि है? इसका उपभोग करते समय आप स्वयं निर्णय कर सकते हैं। **तमोगुणी निधि अर्थात् वह धन जो जुए द्वारा, वेश्या–वृत्ति द्वारा, डकैती द्वारा, किसी को मारकाट कर, किसी को कष्ट दे कर, किसी को लूटकर, किसी के साथ ठगी करके प्राप्त करते है, वह धन :तमोगुणी' है।** तमोगुणी धन का प्रभाव क्या होगा? तमोगुणी धन मनुष्य को बर्बाद कर देना है, वह विशिष्ट प्रकार के असाध्य रोगों से ग्रसित हो जाता है। उसकी संतान विकृत उत्पन्न होती है, उसकी स्त्री, उसका परिवार, उसके रिश्तेदार, उसके संगी–साथी, उसके मित्र सभी विकृत होते हैं मानसिक रूप से, शारीरिक रूप से या बौद्धिक रूप से। उसके घर में सत्संग नहीं होता। वहाँ ईश्वर का पूजन, ईश्वर का ध्यान व मन की शान्ति नहीं होती। वहाँ सुख नहीं होता। लक्ष्मी होती है, तमोगुणी लक्ष्मी। जब अविरल रूप से हमारे परिवार में, हमारे मन में इस प्रकार के क्लेश रहने लगे, तो हमें विचार करना है कि हमारी निधि कैसी है? हमारा धन कैसा है?

रजोगुणी निधि अर्थात् जो बहुत भाग–दौड कर प्राप्त होती है। आपने बहुत से लोग, अधिकतर, आज के युग में देखें होगें कि दिन–रात, भाग–दौड़ रहती है। दिन–रात घड़ी पर निगाह रहती है, कि अब मुझे वहाँ जाना है, अब यह करना है, अब यह चीज़ लेनी है, अब यह माल लाना है, यहाँ जाना है। तो **यदि हमारा ध्यान निरंतर धन कमाने की ओर लगा हुआ है, धन संचित करने की तरफ लगा है और धन बढ़ाने की तरफ लगा हुआ है, तो वह निधि रजोगुणी है।** रजोगुणी निधि यद्यपि दान–पुण्य में भी काम आ सकती है और जहाँ पर भी वह इस्तेमाल होगी, उस परिवार में, भाग–दौड़ व अशांति रहेगी। यद्यपि यह तमोगुणी निधि से ज्यादा शुद्ध हैं। अब रजोगुणी व्यक्ति जब दान–पुण्य भी करेगा, वहाँ भी उसको स्पर्धा की भावना रहेगी, कि उसने एक कमरा बनाकर दान दिया है। आश्रम में, मैं चार बनाकर दान दूँ। उसने एक लाख रुपया यज्ञ में खर्चा है, तो मैं 10 लाख र्खचूं! दान–पुण्य के पीछे उसका नाम, यश व होड़ का भाव बना रहेगा। यह रजोगुणी धन का प्रभाव है।

तीसरा सर्वोत्तम लक्ष्मी का स्वरूप है सतोगुणी। जहाँ सत्य से परिपूरित लक्ष्मी का परिवेश होता है, वही शांति होती है, सुख होता है, ईश्वर भजन होता है, वही संत होते हैं। वहाँ सत्संग के अलावा कोई बात नहीं होती। ब्रह्मचिंतन होता है और स्वतः ही दान–पुण्य के लिये धन निकलता रहता है, सेवा के लिये और जहाँ भी वह धन खर्च होता है। वह पुनः फलीभूत होता है और मानसिक शांति होती है, भय नहीं होता। यह सतोगुणी लक्ष्मी के लक्षण हैं। रोग नहीं होता वहाँ, कोई दोष नहीं होता। हम स्वयं अपने आप निर्णय कर सकते हैं, कि किस प्रकार की लक्ष्मी हमारे घर मैं आ रही है।'

दो विशेष बातें महापुरुषों ने मायिक लोगों के लिये कहीं है। **प्रथम–मायिक व्यक्ति वे हैं जिन्हें सिवाय धन के और कुछ सूझता ही नहीं है**। उनको कोई भाई, बहिन, परिवार, समाज नज़र नहीं आता। बस, उनकी दृष्टि केवल धन की ओर ही होती है। **दूसरा–मायिक पुरुष सत्संग से डरता है।** आइए, सर्वोत्तम मनुष्यों की तरह अपना जीवन बितायें और जीवन में दर्शन का समावेश करे।

।। जय जय श्री राम।।

कर्म कर्मबंधन एवं पुरुषार्थ

मैं बल–बुद्धिविद्या हीन, असमर्थ एवं पूर्ण अशान्त अपने आराध्य देव प्रभु श्री हनुमान जी की प्रेरणा एवं शक्ति से, आज एक दिव्य विषय को आपके सम्मुख नये रूप में रख रहा हूँ। यह विषय है–**'कर्म, कर्त्तव्य, पुरुषार्थ एवं कर्मबन्धन से मुक्ति'**।

सर्वप्रथम प्रश्न यह उठता है कि कर्म क्या है? अर्थ सीधा है, जो कुछ भी हम कर रहे हैं, वह कर्म है। उस कर्म को करने के लिए प्रभु ने विशेष प्रकार की हमारी देह और हमारी इन्द्रियों का निर्माण किया है। ऐसा ही जानवरों में भी है और पक्षियों में भी। मैंने इस कर्म को दो विशिष्ट भागों में विभक्त किया है–प्रथम वो कर्म जो समस्त जीवधारी और विशेष कर हम मानव पूरी सृष्टि में, अपने जीवन के लिए कर रहे हैं। हम जन्म–जन्मांतरों में कर्म करते हुए पैदा होते हैं और कर्म करते–करते मर जाते हैं। फिर पैदा होते हैं और फिर मर जाते हैं। विशेष प्रभु कृपा से एक समय ऐसा आता है, कि कुछ जिज्ञासु लोग यह विचार करने के लिए बाध्य हो जाते हैं, कि आखिर हम कर क्या रहे है? किस लिए कर रहे है? इस का अन्त कहाँ है? इससे मुक्ति कहाँ है? आपने देखा होगा कि जब किसी व्यक्ति को कुछ लाभ होता है, तो हम अक्सर कहते हैं, कि इसने कुछ शुभ कर्म किए होंगे। जब कोई हानि, रोग–दोष या किसी कष्ट से पीड़ित हो जाता है, तो हम अक्सर कहते हैं, कि यह किसी बुरे कर्म का फल है। तो यह दर्शन क्या है? इसकी गहराई में जायें तो हमें कुछ सत्य का भास होता है। मैं इस विषय को आपके सम्मुख विस्तार से रखना चाहता हूँ।

कोई भी विवेकशील मानव असंख्य कर्म करते हुए जब जीवन की उधेड़–बुन से थक जाता है, तो वह सोचने के लिए मज़बूर हो जाता है कि बार–बार यह कर्म जो मैं कर रहा हूँ, इसके आगे क्या है? जीवन के लिए ही कर रहा हूँ और जीवन समाप्त हो जाता है। ऐसे में वह सोचने के लिए बाध्य हो जाता है, कि **आखिर जीवन काहे के लिए मिला है?** अब दष्टिकोण बदल जाता है। **पहले वह जीवन के लिए कर रहा होता है, अब जीवन काहे के लिए मिला है, उसके कर्मों की धारा की दिशा उस तरफ मुड़ जाती है।** तो दूसरे प्रकार के वे कर्म हैं, जो इस उद्देश्य से किए जाते हैं कि 'मानव जीवन काहे के लिए मिला है? वास्तव में यही

मानविक कर्म है।

विचार का विषय है कि जो हमारी देह इस प्रकार बनी है कि हमें बुद्धि मिली है, अंग–प्रत्यंग मिले हैं, हाथ–पैर मिले हैं, इन्द्रियां, ज्ञान–इन्द्रियों, कर्म–इन्द्रियाँ मिली हैं, तो निश्चित रूप से कुछ करने के लिए ही तो मिली होंगी। मानविक कर्म जब हम करते हैं तो उन कर्मों को हम ईश्वरीय कर्म में किस प्रकार परिवर्तित कर सकते हैं? जैसा कि मैंने अपने पिछले अध्याय **'जीवन दर्शन'** में **शून्य का सिद्धान्त** वर्णित किया है, कि किस प्रकार यदि हम प्रत्येक मानविक कर्म ईश्वर के निमित्त करके चलें, तो हमारे द्वारा किये गए कर्मों की महानता बढ़ती जाती है, उनकी गुणवता बढ़ती जायेगी और उनका प्रभाव भी। मैंने बताया था कि ईश्वर निमित्त किए गए कर्म स्वतः भाव में होते हैं और ये तीन आनन्दों से युक्त होते हैं।

एक– कर्म के प्रारम्भ में आनन्द,

दो – कर्म के मध्य में आनन्द,

तीन– कर्म का अन्त भी आनन्दमय होता है।

अब जब मानव के मन–मस्तिष्क में यह भाव आता है, कि मैं बार–बार जन्म ले रहा हूँ, मर रहा हूँ और कुछ न कुछ जीवन के लिये कर रहा हूँ परन्तु यह जीवन काहे के लिए मुझे मिला है' क्या अर्थ है इस जीवन का? क्यों ले रहा हूँ मैं बार–बार जन्म, क्यों? इसमें सार्थकता क्या है' जब यह तीव जिज्ञासा मानव बुद्धि में उत्पन्न हो जाती है, तो वह एक विशिष्ट श्रेणी में आ जाता है, उसे हम जिज्ञासु कहते है– जिज्ञासु और कभी–कभी यह जिज्ञासा जुनून बन जाती है। इसको अंग्रेज़ी में कहते है–क्रेज़। उसके बाद वो कर्मों की दिशा को बदल देता है। जप–तप, दान–पुण्य, साधन, साधना उसके कर्म हो जाते हैं। उन कमी को हम ईश्वर प्रेरित कर्म कहते हैं। वास्तव में वही मानविक कर्म हैं।

जब मनुष्य केवल जीवन के लिए ही कार्य कर रहा है, तो वह एक पशुवत् जीवन जी रहा है। ऐसे मनुष्य 84 लाख योनियों में नरपशु ही होते हैं। कभी वह मनुष्य रूप में भेड़िए बन जाते हैं, कभी सूअर, कभी बाज, कभी गिद्ध और न जाने मानव देह में ही क्या–क्या बनते हैं, जब वह कर्म केवल जीवन के लिए ही करते हैं।

दूसरी स्थिति इससे भिन्न है। जब हम कर्म ईश्वर निमित्त करके करते हैं, तो

मानव देह में वास्तविक मानव कहलाने के योग्य हो जाते हैं और जब उस सीमा तक पहुँच जाते हैं कि आगे क्या है? यह मानव देह क्यों मिली है? उसके बाद हमारे कर्मों की दिशा बदल जाती है। हम मानव देह में जिज्ञासु कहलाने लगते हैं। सत्य के जिज्ञासु। यह श्रेणीबद्ध है। पशुवत् स्तर अर्थात्. नरपशु, जिसमें 84 लाख योनियाँ हैं, फिर मानविक स्तर और उसके बाद जिज्ञासु मानव और अन्त में मुमुक्ष, जो सत्य को खोजने के लिए अग्रसर हो जाता है। उसमें हम विभिन्न प्रकार के ईश्वर प्रेरित साधन अपनाते हैं। यहाँ एक बात पर ध्यान देने की जरूरत है, कि यदि वह कर्म हम यह समझकर करें कि, 'मैं कर रहा हूँ' तब उन कर्मों का फल भी हमें आगे पंहुचने नहीं देता। हमें सत्य के दर्शन नहीं हो सकेंगे। ऐसे में ईश्वर प्रेरित कर्मों को भी, यह जानते हुए कि वे ईश्वर प्रेरित हैं, हमें मन से, बुद्धि से, चित्त से, उन्हें ईश्वर के अर्पण करना आवश्यक होगा। तभी हम आगे अग्रसर हो सकेंगे। तभी हमें ईश्वर की कृपा का भास होगा। जब हम निष्काम अर्थात् ईश्वर निमित्त कर्म करने लगते हैं, तो वह कर्म हमारे दिव्य हो जाते हैं और एक स्थिति पर आकर हमें मानव देह का रहस्य मालूम होने लगता है, उस ईश्वरीय सत्ता के सान्निध्य की अनुभूति होने लगती है और धीरे–धीरे हम कर्म–बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। हम एक विशेष आनन्द के सागर में हिलोरे खाने लगते हैं। यह एक सुखद, और आनन्द की स्थिति है। यही मानव का लक्ष्य है। हमें अपने भीतर उस सच्चिदानन्द ईश्वर का दर्शन होने लगता है, ये है–**'ईश्वर प्रेरित कर्म।'**

पुरुषार्थ क्या है? पुरुषार्थ का सधिविच्छेद है–पुरुष+अर्थ। साधारण भाषा में हम पुरुषार्थ को यह मानकर चलते हैं, कि कुछ न कुछ कर्म करना, जीविका–अर्जन करना, कहीं आना, कहीं जाना, इसको पुरुषार्थ कहते हैं। पुरुषार्थ का बहुत गहन अर्थ है, पुरुष+अर्थ। यह पुरुष क्या है? **यहाँ पुरुष का अर्थ है–चेतन सत्ता, मनुष्य का वास्तविक सच्चिदानंद स्वरूप। उस स्वरूप को देखने के लिए, उसका दर्शन करने के लिए जीव प्रेरित होता है, कुछ कार्य करता है, तो उसको कहा गया है पुरुषार्थी।** वास्तव में वही पुरुषार्थ है। जब हम अपने अन्दर स्थित उस महान खजाने की खोज करें कि मेरा सच्चिदानंद स्वरूप कहाँ है? उसके लिए जो भी कार्य करते है, उसको कहा गया है **'पुरुषार्थ'**।

अब प्रश्न उठता है कि निष्काम कर्म क्या है? जब हम किसी भी कर्म, किसी भी कार्य को कर्त्ता भाव से करते हैं अर्थात् यह मैंने किया है, जहाँ हम कर्त्ता बनेंगे, वही हमको देर–सवेर भर्ता भी बनना पड़ेगा। इसका फल कष्टदायी भी हो सकता है। प्रश्न उठता है, कि जो कुछ हम जीवन में पा रहे हैं, क्या यह हमारे कर्मों का फल है? जैसा कि हम अक्सर समझते हैं, जबकि ऐसा नहीं है। अनुभव से देखा जाए, तो दस व्यक्ति एक ही प्रकार का कर्म करें परन्तु दसों को उसका फल अलग–अलग मिलता है, ऐसा क्यों होता है' विचार करने पर जो अनुभूति हुई है, उसके आधार पर कहा जा सकता है, कि कर्म महत्वपूर्ण नहीं है, कर्म के पीछे भाव महत्त्वपूर्ण है। हम कर्म को जिस भाव से करते हैं और कर्म करने के बाद जो हमारे भाव बन जाते हैं, वह ही देर–सवेर हमारे जीवन के विभिन्न पहलू बनकर, विभिन्न परिस्थितियाँ बनकर हमारे सम्मुख खड़ी हो जाती हैं जिसे हम कहते हैं–हमारा जगत। तो क्या भाव उत्पन्न करने के लिये कर्म करना आवश्यक है? नहीं, यह जो भाव है यह बिना कर्म किए भी बन जाते हैं। यदि हम ध्यान के द्वारा, प्रभु की कृपा से, किसी विशिष्ट वृत्ति का निर्माण कर लें तो वह वृत्ति भी हमारे बाह्य जगत में कोई न कोई रूप धारण करके प्रकट हो जाती है। यहाँ यह आवश्यक नहीं है कि किसी कृति को प्रकट करने के लिए पहले कर्म करने की आवश्यकता है और न ही किसी कर्म को करने के लिए वृत्ति की आवश्यकता है। कई बार कुछ ऐसे कर्म हो जाते हैं, कि जिनके पीछे हमारी वृत्ति कुछ और होती है, लेकिन प्रगटीकरण कुछ और हो जाता है। यह बहुत गहन विषय है। जन्म–जन्मान्तरों से हम कमी का बोझा ढोते चले आते हैं। कोई संचित कर्म, कुछ आगामी कर्म, कुछ वर्तमान कर्म। कभी हम पुण्यी बन जाते हैं, तो कभी पापी बन जाते हैं। कभी शुभ कर्म करने वाले, कभी अशुभ, कभी अच्छा, कभी बुरा। यह सिलसिला जन्म–जन्मातरों तक चलता रहता है।

प्रश्न यह उठता है कि किस प्रकार कर्म–बन्धन से मुक्ति पायी जाए? यह बड़ा रोचक विषय है। मानवों की मानसिक स्थिति के अनुसार, कर्म–बन्धन से मुक्ति पाने के लिये कुछ व्यवहारिक उपाय बता रहा हूँ, जिनके प्रयोग के लिये ईश्वरीय विश्वास अति आवश्यक है। हम कर्मों का बहुत बोझा सा ढोते रहते हैं। गौर करने का विषय है, कि कमी का बोझा नहीं, बोझा **सा** है। मैंने पुण्य कर्म किया, मैंने पाप कर्म किया

है। मैंने शुभ किया, मैंने अशुभ किया आदि। तो एक स्थिति ऐसी आ जाती है, जब हम इस प्रक्रिया से हताश हो जाते हैं। अब जब कोई व्यक्ति किसी चीज़ से ऊब जाता है, तंग आ जाता है, तो कभी–कभी बगावत कर बैठता है। अतएव कर्म–बन्धन से मुक्ति का पहला मार्ग है–**बगावत।** ईश्वर की, उस विशिष्ट न्यायमूर्ति की अदालत में, वह न्यायमूर्ति जो पर्दे के पीछे बैठा समस्त दलीलों को सुन रहा है जन्म–जन्मान्तरों से और हम कटघरे में खड़े हैं। हमारे ये वकील, ये पण्डित, ये मौलवी, ये पादरी हमको अलग–अलग दिशायें सुझाते हैं, कि हम यह करें, हम वह कहें। इस प्रकार जन्म–जन्मातरों से हम कटघरे में खड़े हैं, कोई फैसला नहीं हो रहा है। हम कर्म के बोझ से लदे हुए हैं, थके हुए हैं। अब बगावत होते ही मानव पहले इन वकीलों को हटा देता है। हटा देता है इनको, जब व्यक्ति बागी हो जाता है। उसके बाद उसे मृत्यु की परवाह नहीं रहती। स्वयं ही गरज पड़ता है, क्या कहता है वह–***मैं करूँ खता और तू बख्शे, यह रोज का झगड़ा कौन करे?***

ऐ मेरे आका, ! मी लार्ड! मेरे खुदा! बहुत खताएँ की हैं मैंने। मैं पापी हूँ, पाखण्डी हूँ, झूठा हूँ, ठग हूँ, चोर हूँ, दुष्ट हूँ, सब कुछ हूँ मैं और तू मुझे बार–बार क्षमा करता है। बहुत लम्बा केस खिंच गया है। मुझे अपने पाप–कर्मों से भय नहीं है, मुझे अपनी खताओं से भय नहीं है, मुझे चिन्ता है, तो यह कि तुम्हें बार–बार क्षमा करना पड़ता है। थक जाओगे तुम! आज मैं अपने केस की पैरवी खुद करूँगा, मैं तुम्हें वह फैसला सुझाता हूँ मेरे प्रभु! जो इन वकीलों की पैरवी ने तुम्हें सुझाने नहीं दिया। तुम चाहते तो मैं खताएँ न करता, लेकिन ऐसा लगता है कि मैं खताएँ करता रहूँगा, करता रहूँगा, मैं पापी हूँ और तुम माफ करते–करते थक जाओगे। इसलिए आज मैं तुम्हें यह फैसला सुझाता हूँ, कि ''तू बर्क गिरा, अरे। तुम बिजली गिरा दो!"

तू बर्क गिरा मैं जल जाऊं, तेरा हूँ तुझ में मिल जाऊँ।

मेरे खुदा! आज मुझे फनाह कर दो, समाप्त कर दो मुझे और अपने में मिला लो। मेरे आका! मिला लो अपने में मुझे। यही सज़ा दो मुझे। क्यों? क्योंकि जब तक मैं रहूंगा, मैं खताएँ करता रहूँगा, लेकिन एक बात का ध्यान रखना मेरे प्रभु! कि दुनियावी अदालतें जब कभी सज़ाये मौत देती हैं, तो आखिरी खाइश, अंतिम इच्छा मुज़रिम से जरूर पूछ लेती है। इसलिए तू भी मुझसे पूछ, मेरी अंतिम इच्छा क्या है?

बर्क गिराने से पहले मेरी अन्तिम इच्छा पूछ ले। मेरी अंतिम इच्छा है प्रभु! कि एक बार मेरे सामने आ जाओ, पर्दा हटा दो, मैं तुम्हारा दीदार करना चाहता हूँ, मैं तुम्हें सलाम करना चाहता हूँ।

तू सामने आ मैं सज़दा करूं, फिर लुत्फ है सज़दा करने का,
तू और कहीं, मैं और कहीं, तेरे नाम का सज़दा कौन करे?

मेरे आका! एक बार मेरे सामने आ जाओ। लेकिन प्रश्न उठता है, कि जब तुम बर्क गिरवाना चाहते हो, खत्म होना चाहते हो तो फिर उसे सलाम क्यों करना चाहते हो? उस वक्त वो भक्त आर्त्तनाद कर उठता है कि, 'मेरे प्रभु! मैं तुम्हारी झलक इसलिए चाहता हूँ क्योंकि मैं तुमसे इश्क करता हूँ।' जब यह आर्तनाद होती है तो जीव कर्म–बन्धन से अवश्य छूट जाता है। विभीषण जी ने भी जब प्रथम बार राम की शरण में आकर ऐसी ही आर्त्तनाद की थी तो प्रभु राम ने अपना संकल्प सुनाया था–

"सन्मुख होई जीव मोहि जबहीं, जन्म कोटि अध नासहि तबही''

हे विभीषण! जब जीव मेरे सन्मुख आ जाता है, तो मैं उसके करोड़ों जन्मों का पाप काट देता हूँ।

यह वह पागलपन की स्थिति है, जब मानव पूर्णतया स्वीकार कर लेता है, मैंने सब पाप कर्म किए हैं, मैं पापी हूँ, खताएँ की है मैंने। आज मुझे खत्म कर दो। बस, एक बार मुझे अपनी झलक दे दो। इस पागलपन में वह कर्म–बन्धन से मुक्त हो जाता है। यह मात्र बातें नहीं है, **मानसिक स्थिति जब वहाँ तक पहुँच जाती है, तो उस वक्त मनुष्य जिज्ञासु से ऊपर उठकर मुमुक्षु बन जाता है।** इस तरह पहली स्थिति मैंने कही थी–साधारण मनुष्यों की, जिनकी तुलना हम पशुओं से भी कर सकते हैं। उसके बाद जिज्ञासु और जब जिज्ञासा तीव्र हो जाती है, तो मुमुक्ष की स्थिति आ जाती है अर्थात् बन्धन–मुक्त! तो यह एक स्थिति है बगावत।

दूसरी स्थिति है, **साफ मुकर जाना।** यह भा एक उपाय है कर्म–बन्धन से मुक्ति का। अपनी सरकार के सामने, अपने इष्ट के सामने कि, ''हे प्रभु, मैंने कुछ नहीं किया। मैंने कुछ नहीं किया, प्रभु! अच्छा–बुरा, पुण्य–पाप, शुभ–अशुभ, जप–तप, दान–पुण्य, यज्ञ–हवन आदि, मैंने कभी कुछ नहीं किया। मुझे बख्श दो।

जाने–अनजाने में यदि कुछ किया है तो मुझे क्षमा कर दो। हे क्षमा के सागर! मुझे अभी क्षमा कर दो। मुझे कर्म–बन्धन से मुक्त कर दो, मैंने कुछ नहीं किया।" वास्तविकता है इसमें। वह सर्व–शक्तिमान परमात्मा प्रत्येक कर्म के लिए हमको प्रेरित करता है, हमसे कर्म करवाता है। हम निरर्थक कर्मों का बोझ अपने कधों पर, अपने मस्तिष्क मे ढोते रहते हैं, जन्म–जन्मांतरों तक।

ऐसे में एक तीसरा रास्ता है, एक उपाय और है जिसके द्वारा हम कर्म–बन्धन से मुक्त हो सकते है। वह क्या है?

खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर से पहले,
खुदा बन्दे से खुद पूछे, बता तेरी रज़ा क्या है?

जब हम अपनी **खुदी को विशाल कर लेते हैं** तो मनुष्यत्व से हम परे हो जाते है। हम महा–समर्थवान स्थिति में आ जाते हैं। ऐसी स्थिति में हमें कर्म–बन्धन नहीं बाँध सकता। ***''समर्थ को नहीं दोष गोसाई''***। प्रश्न यह उठता है कि समर्थ का अर्थ यहाँ पर क्या है? यहाँ समर्थ का अर्थ शारीरिक बल, धन–धान्य अथवा भौतिक शक्तियों से नहीं है। यहाँ समर्थ का अर्थ है, कि जो अपने प्रारब्ध को काट चुका है, अपनी किस्मत से परे हट चुका है।

जब कोई व्यक्ति बहुत ऐश्वर्यवान, धनवान या अन्य प्रकार की प्राप्तियाँ कर लेता है, तब हम उसे कहते हैं कि यह बहुत भाग्यवान है, बहुत किस्मतवाला है। जो बेचारे कष्ट भोगते हैं उन्हें बदकिस्मत कह देते हैं। यह किस्मत क्या है? यह प्रारब्ध क्या है? आप गौर कीजिए, जब मानव की मृत्यु हो जाती है, तो यह भौतिक शरीर जो पाँच महाभूतों अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश से बना है, उनसे निर्मित यह हमारा शरीर मृतक पड़ा रहता है और जड़ हो जाता है। उस समय इसमें से चेतन–सत्ता, जीवात्मा अलग हो जाता है। क्या जड़ का कोई प्रारब्ध होता है?–नहीं। यह जड़ देह है, जो बिना प्राण के एक लकड़ी के लट्ठे की तरह, किसी जड़ पदार्थ की तरह पड़ी रहती है। इसका कोई प्रारब्ध या किस्मत हो नहीं सकती और जो ईश्वरीय सत्ता हमसे बाहर निकल गयी है, जिसको हम आत्मा कहते है, उसका प्रारब्ध हो नहीं सकता। क्या कभी ईश्वर की किस्मत भी हुई है? प्रश्न यह उठता है कि हम तो जीवित मानव है, **एक तो हमारे साथ यह जड़ देह है और दूसरी चेतनता**

है, ईश्वरीय अंश है उसे हम आत्मा कहते हैं। इन दोनों का अलग–अलग कोई प्रारब्ध हो नहीं सकता। फिर प्रारब्ध किसका हुआ? जब हम यह प्रश्न किसी मुनि, ऋषि से, किसी विद्वान से करते हैं, तो कुछ देर के लिए वे दिग्भ्रमित हो जाते हैं, कि बात तो सत्य है। प्रारब्ध होता है इस जड़ और चेतन की ग्रन्थि का। जब यह कहा जाता है कि मैं डा0 शिव कुमार हूँ, मैं मुरारी लाल हूँ, मैं गिरधारी लाल हूँ, ऐसे में हम उस नाम–रूप से अपने आपकी पहचान कराते हैं। तादात्मय हो जाता है उस नाम–रूप से हमारा। उस नाम–रूप के तादात्मय का प्रारब्ध है लेकिन जब हम अपनी समर्थ स्थिति में पहुँच जाते हैं, समर्थ स्थिति का अर्थ है कि जब हमको इस रहस्य का ज्ञान हो जाता है कि मैं विशुद्ध चेतन–सत्ता हूँ, मैं जड़ देह नहीं हूँ, उस समय हम उस प्रारब्ध, उस किस्मत के बयान से मुक्त हो जाते हैं और उस अवस्था में इस शरीर के जीवित रहते हुए हम जो भी कर्म करते हैं, वे अकर्त्ता भाव से होते हैं। उन कर्मों का हमें कोई बन्धन नहीं होता, हम उनसे मुक्त हो जाते हैं।

यहाँ कर्म–बन्धन से मुक्त होने के जो तीन रास्ते बताए है पहला पूर्ण–समर्पण कि, "प्रभु। मैंने सब कुछ किया है। मुझे बख्श दो, क्षमा कर दो या बर्क गिरा दो और मुझे खत्म कर दो।" **दूसरा साफ मुकर जाना** कि मैंने कुछ भी नहीं किया है, न अच्छा, न बुरा, न शुभ, न अशुभ, न पुण्य, न पाप। इसमें गौर तलब यह है कि जब हम अपने पापों के लिए मुकरते हैं, तो हम अपने पुण्यों के लिए भी साफ मुकरना होगा और **तीसरा** इस प्रारब्ध नाम की वस्तु से ऊपर उठ जायें, **समर्थ स्थिति में आ जायें।** इन तीनों स्थितियों में हमें कर्म का बन्धन बांध नहीं सकता। हम अकर्त्ता हो जाते हैं और **जन्म–जन्मान्तरों से जो कर्मों का बन्धन सा हमें पड़ा हुआ है, बन्धन–सा आवश्यक है, क्योंकि बंधे हुए नहीं है हम, बंधे–से है, उससे मुक्त हो जाते हैं। यहाँ मुक्ति और मोक्ष शब्द को दोहराया गया है।** यह मुक्ति क्या है? क्या है यह मोक्ष? आवश्यकता क्या है इसकी?

हम यदि गम्भीरता से विचार करें तो पता चलेगा, कि सारा संसार, हमारा सम्पूर्ण जगत, हमारी मान्यताओं पर ही आधारित है। एक माँ शिशु को जन्म देती है

और उस बच्चे को नर्स ले जाती है। नहला–धुला कर जिस बच्चे को माँ के साथ लेटा जाती है, माँ उसी बच्चे को चूमने चाटने लगती है, प्यार करने लगती है अपना शिशु समझकर, अपना बच्चा मानकर। यद्यपि उस शिशु को देखकर उसके पास कोई ऐसा प्रमाण नहीं होता, कि वह सिद्ध कर सके कि यह बच्चा उसी का उत्पन्न किया हुआ है। इसी प्रकार यदि हमसे कोई पूछे कि किसी ने अपना जन्म होते देखा है? या हमको उसका स्मरण है, तो हम कहेंगे कि 'नहीं'। जिस माँ ने हमको जन्म दिया है, उस माँ के लिए उसका बालक भी एक मान्यता है और उस बालक के लिए जिस स्त्री को वो अपनी माँ कहता है, वह भी उसकी एक मान्यता है। पिता भी एक मान्यता है। पिता कभी–कभी अपने बच्चों का परिचय देते हैं लोगों से, कि यह मेरा बड़ा लड़का है, यह मेरी बिटिया है, यह मेरा छोटा लड़का है, इत्यादि–इत्यादि। कोई उससे प्रश्न करे कि यह आप ही का बच्चा है, आप ही की संतान है, आप ही के अंश से उत्पन्न हुआ है, क्या पिता उसका प्रमाण दे सकते हैं? भले ही आज ऐसी वैज्ञानिक विद्या पैदा हो गई है और पिता इस का प्रमाण भी दे सकते हैं। पर क्या जिस बालक का वह बचपन से अपना पुत्र मानकर लालन–पालन कर रहे है और ऐसी स्थिति में भले ही वैज्ञानिक विद्या से मालूम भी चल जाए, कि यह उसका बालक नहीं है, उसके अंश से उत्पन्न नहीं हुआ है तो क्या वह उसको अपना बेटा मानना छोड देंगे? 'नहीं'। यहाँ मेरे इस उदाहरण का तात्पर्य यह है कि **सारा संसार, सारे सम्बन्ध, माँ–बाप, भाई–बहन, पति–पत्नी, यह सभी सम्बन्ध हमारी मान्यता पर आधारित है।**

ये मान्यताएँ ही एक दिन हमें कष्ट में डाल देती हैं। जिस संसार को, जिन सम्बन्धों को, जिन वस्तुओं को हम जन्म–जन्मान्तरों से मानते चले आए हैं, वे समस्त वस्तुएँ नश्वर हैं। एक न एक दिन उनका रूपान्तर हो जाता है। वे हमारे से अलग हो जाती हैं, तब वे सम्बन्ध हमें कष्ट देने लगते हैं। धन की मान्यता है। सम्पत्ति की मान्यता है। पद की मान्यता है। यह समस्त मान्यताएं कभी न कभी हमारे मानसिक विक्षेप का कारण बन जाती हैं। जो मुमुक्षु लोग हैं, वे इसके लिए कोई रास्ता ढूँढते हैं कि क्या कोई तरीका है? कोई ऐसा विचार है? कोई ऐसी विधि है कि जिसके द्वारा हम बार–बार इन कष्टों से जो हमें मान्यताओं के देने के बाद मिलते हैं, उनसे

छुटकारा पा सकें? जिन व्यक्तियों में यह भाव पैदा होता है, उनको हम **मुमुक्षु** कहते है। मुमुक्षु अर्थात् मोक्ष के इच्छुक, का मैंने स्वतः अनुभव किया है कि इसके लिए एक विशिष्ट उपाय है और वह है कि किसी **एक से जुड़े बिना किसी दूसरे को छोड़ा नहीं जा सकता।** तो क्यों न हम ऐसा तरीका अपनायें, कि किसी एक वस्तु में, एक व्यक्तित्व में, एक ऐसी सत्ता में अपनी मान्यता दृढ़ कर दें, कि हमारी अन्य मान्यताएँ स्वतः ही ढीली पड़ जाये। मान लीजिये, एक बच्चा गुब्बारे से आनन्दपूर्वक खेल रहा है। हम उससे अकस्मात् गुब्बारा छीन लेते हैं, तो वह चिल्लाएगा, रोएगा अब हम कोई वस्तु या खिलौना उसके सामने रख दें, तो शायद वह उस खिलौने से खेलने लगेगा और गुब्बारे को स्वतः ही छोड़ देगा। ऐसा ही **सुन्दर तरीका हम अपने जीवन में भी अपना सकते हैं, यदि हम अपनी मान्यता को उस ईश्वरीय सत्ता, जो अजर है, अमर है, सच्चिदानन्द है, सौन्दर्यवान, ऐश्वर्यवान, बलवान, ख्यातिवान, ज्ञानवान और त्यागवान है, जो नित–नूतन है, उसमें लगा दें। नित्य अभ्यास द्वारा धीरे–धीरे यह मान्यता इतनी सुदृढ़ हो जायेगी, कि सांसारिक मान्यताएं स्वतः ही कम हो जाएंगी।** इसके लिए हम, कुछ नहीं करना, हम संसार में खेलते रहेंगे लेकिन हमें उसके साथ कोई ज्यादा लगाव नहीं रहेगा, उस अवस्था में हमें आनन्द आएगा।

लोग पूछते हैं कि जब हमे संसार में दिलचस्पी नहीं रहेगी, तो फिर हम संसार के कर्मों को आनन्द से और सुरुचि से नहीं कर सकेंगे। नहीं, ऐसा नहीं है। हम सिनेमा या नाटक देखते हैं, इसमें नकली सम्बन्ध बना लिए जाते हैं। नाटकों में परिवार बना लिए जाते हैं, किसी को पत्नी, किसी को बहन, बेटी, भाई, पिता। वे जो कार्य करने वाले उसमें नायक, नायिका होते हैं, वे अपना किरदार बाखूबी निभाते हैं, प्राकृतिक सम्बन्धों से भी ज्यादा अच्छा। इस प्रकार हम इस रहस्य को पकड़ लेते हैं। जब हमारी मान्यता उस ईश्वरीय सत्ता में बहुत दृढ़ हो जाती है, तो हमारी सांसारिक मान्यताएँ स्वतः ही कम हो जाती हैं। लेकिन हम किरदार बहुत सुन्दर और बहुत आनन्दपूर्वक निभाने लगते हैं। हमें सांसारिक सम्बन्धों का भय नहीं रहता। हमारे मन में कोई तनाव नहीं रहता जीवन–मरण, यश–अपयश, हानि–लाभ इत्यादि का। इन चीज़ों के उत्पन्न होने से, सामने आने से, हमें कोई भारी विक्षेप या अति हर्ष नहीं

होता। यह मोक्ष की परिभाषा है कि **जब हमारी संसार से मान्यता हट जाती है, तो उस पद का नाम है—मोक्ष**। महापुरुषों ने इस मोक्ष के पाँच प्रकार बताए है।

कैवल्य मोक्ष कैवल्य मोक्ष ज्ञानियों के लिये हैं जो अपने स्वरूप में स्थित होते हैं। लेकिन यह मार्ग बहुत शुष्क है, बहुत रूखा है। भक्तों के लिये जो द्वैत में विचरते हैं, अपने इष्ट के प्रेम में, इश्क में, भक्ति में लीन रहते हैं, उनके भावानुसार अन्य चार मोक्ष बताए गए हैं—**सायुज्य मोक्ष, सामीप्य मोक्ष, सारूप्य मोक्ष और सालोक्य मोक्ष।**

सायुज्य मोक्ष—जिसमें भक्त, प्रेमी अपने भगवान अपने आराध्य देव के, अपने इष्ट के साथ जुड़ना चाहता है और वह जुड़ जाता है उससे भाव द्वारा। कोई इष्ट के तन का वस्त्र बनकर, कोई पाँव की खड़ाऊँ बनकर, कोई उसके माथे का मुकुट बनकर, कोई उसके गले का हार बनकर जुड़ जाता है और यह भाव जब परिपक्व हो जाता है, तो उपासक को ऐसा वास्तव में ही भासने लगता है, कि वह सदा अपने इष्ट के साथ उसी स्वरूप में ही जुड़ा हुआ है। उसकी परिपक्वता इतनी दृढ़ हो जाती है कि जन्म—जन्मान्तरों से वह जन्म भी लेता रहता है, मृत्यु भी होती है और सांसारिक सारे कार्य भी करता है, लेकिन उसकी मानसिक स्थिति, अपने इष्ट के साथ जुडने का वे भाव, हमेशा उसके साथ बना रहता है। इस मोक्ष का नाम है—**सायुज्य मोक्ष**। **सांसारिक सम्बन्ध, क्रिया—कलाप और सांसारिक मान्यताएँ इसकी दृढ़ ही नहीं होती, वह संसार का आनन्द भी लेता है और इष्ट के साथ तो जुड़ा ही रहता है।**

भक्तों के लिए, उपासकों के लिए **दूसरा मोक्ष है—सामीप्य मोक्ष**। कुछ उपासक अपने इष्ट के सदा समीप रहना चाहते हैं किसी न किसी सम्बन्ध से, कोई उसकी पत्नी बनकर, कोई उसका पुत्र, कोई माँ, कोई सेवक, कोई स्वामी बनकर व अन्य किसी भी भाव से। जो भाव किसी उपासक का हैं, वे अपने इष्ट के समीप रहना चाहता है और परिपक्व होते—होते वह उस भाव में जुड़ जाता है, न केवल इतना ही बल्कि उस भाव में विचरने लगता है सदा। उसको सुषुप्ति में, जागृति में, तुरीय अवस्था में, समाधि में और सब स्थानों पर ऐसा भास होने लगता है, कि वह अपने इष्ट के समीप है किसी न किसी प्रकार से, उसी भाव से जिसकी उसने दृढता की है।

तीसरा है सारूष्य मोक्ष–कुछ भक्त अपने इष्ट का स्वरूप ले लेते हैं। ऐसे अनन्य भक्तों को आप ध्यान से देंखे, तो उनके चेहरे पर, उनके इष्ट की, उनके आराध्य देव की झलक आने लगती है और वह अपने इष्ट के ही स्वरूप में लीन रहते हैं। सांसारिक कार्य होते रहते हैं, लेकिन उन कर्मों का बन्धन इनको नहीं पकड़ता। सांसारिक मान्यताओं का, सम्बन्धों का कष्ट उनको नहीं होता। यह है सारूप्य मोक्ष। **चौथा,** जो भक्तों के लिए मोक्ष है, वह है–**सालोक्य मोक्ष**। उपासकों को ऐसा लगने लगता है, कि सदा वह अपने इष्ट के लोक में ही वास कर रहे हैं, हमेशा उसी के लोक में ही रहते हैं किसी न किसी रूप में। ऐसे भक्तों को भी सांसारिक बन्धन और मान्यताएं परेशान नहीं करती, कष्ट नहीं देती। यह है सालोक्य मोक्ष।

जिज्ञासा और मोक्ष यह सबके लिए नहीं है। यह केवल जिज्ञासुओं और मुमुक्षुओं के लिए है। ऐसा व्यक्ति, ऐसा मानव जब जीवन काल में उन भावों में विचरने लगता है तो वह जीवन–मुक्त कहलाता है और ऐसे व्यक्ति की एक विशेष आभा होती है, एक विशेष मस्ती होती है। वह संसार में आनन्द से जीता है और आनंद में ही देह त्यागता है। उसकी उस मस्ती को केवल वह ही जान सकता है। अब एक साधारण व्यवहारिक क्षेत्र में कुछ प्रश्न उठते हैं, कि किसी को हम अच्छा कर्म कहते हैं, किसी को हम बुरा कर्म कहते हैं। यह एक वाद–विवाद का मुद्दा है। वास्तव में अच्छा कर्म कौन सा है और बुरा कर्म कौन सा? इस पर बहुत विचार किया और अन्ततः इष्ट कृपा से मैं जिस निष्कर्ष पर पहुंचा हूँ, वह मैं आपके सम्मुख रखता हूँ।

एक बहुत ही व्यवहारिक बात है कि जब हम किसी स्थान की दूरी नापते हैं, तो स्वाभाविक तौर पर हम किसी दूसरे स्थान से नापते हैं। उदाहरण के लिए कि वह स्थान मेरे घर से कितनी दूर है? उस दूरी की नाप आपको एक विशेष स्थान से करनी पड़ती है। मैं बहुत सामान्य ढंग से आपके सामने प्रस्तुत करने की कोशिश कर रहा हूँ। यदि हमारे पास एक शून्य स्तर है और उस स्थान पर हम खड़े हो जायें, जहाँ हम न पापी हों, न पुण्यी ही, न कर्त्ता ही, न अकर्त्ता हों, न ज्ञानी हों, न अज्ञानी ही और जहाँ न कोई कर्म और न कोई अन्य मान्यता हो जो हमें विक्षिप्त कर सकती हो, वह स्थान है हमारा सच्चिदानंद स्वरूप, ईश्वर। यदि हम अपने उस स्वरूप, उस

शून्य स्तर पर, उस स्थान पर ध्यान द्वारा, विचार द्वारा, पूजा–पाठ द्वारा प्रतिदिन आ सकें, तो उसके बाद हम जितना भी परे हो जाते हैं उस शून्य स्तर से, हमें मालूम चल जायेगा, कि हम अपने स्वरूप से, अपने वास्तविक सच्चिदानंद स्वरूप से कितने परे हट चुके हैं और उस खेल–तमाशे के बाद जो हम संसार में रहते हुए करते हैं, पुनः हम सुबह या शाम अपने उस स्वरूप में आ जाते हैं तो हमारा सांसारिक जीवन एक लीला बन जाता है। हम इसका भरपूर आनन्द उठाते हैं। परन्तु यदि हम कुछ ऐसा कर बैठें, कि हम अपने उस वास्तविक स्तर पर न आ सकें, यदि हम उस अपने वास्तविक गृह में लौट न सकें तो वह कार्य, वह कर्त्तव्य जिसको हम कर रहे है, हमारे लिए शुभ कर्म नहीं हो सकता।

शुभ कर्मों की मेरी अपनी परिभाषा है। वह कोई भी कर्म जिसको करने के बाद हम अपने वास्तविक स्वरूप, उस ईश्वरीय स्वरूप की झलक लेने के लिए किसी प्रकार के बाधक नहीं होते, वह कर्म हमारे लिए शुभ ही शुभ है, चाहे वह कैसा भी हो। आप देखेंगे कि जब कोई ऐसे कुकर्म हम कर बैठते हैं, तो बाद में हृदय में ग्लानि होती है, हमारा कभी भी अपने वास्तविक स्वरूप में आने का, उस सच्चिदानंद परमात्मा के पास एकाग्रता का साहस ही नहीं होता। यद्यपि यह परिभाषा बहुत संक्षिप्त है लेकिन बहुत सार गर्भित है।

।। जय जय श्री राम।।

तप

आज हम जिस विषय पर चर्चा करने जा रहे हैं वह है **'तप'**। तप का अर्थ क्या है? महात्म क्या है? उपलब्धि क्या है? मध्य क्या है और अन्त क्या है? आपने देखा होगा कि हम दूध से ज्योति नहीं जला सकते। ज्योति जलाने के लिए घी की आवश्यकता पड़ती है। जिस प्रकार दूध से घी निकालने की एक प्रक्रिया है और घी निकालने के बाद घी पुनः दूध में परिवर्तित नहीं हो सकता, इसी प्रकार मानव हर तरह से किसी भी प्रक्रिया द्वारा, कोई भक्ति मार्ग से, कोई ज्ञान मार्ग से, कोई अज्ञान मार्ग से, अपने भीतर से दिव्यता को प्रकट करता है। बड़ी विचित्र बात कह रहा हूँ– अज्ञान मार्ग सब कुछ जानते हुए भी अनजान बन जाता है। मेरा अज्ञान मार्ग से अर्थ है, कि जब वह देखते हुए भी नहीं देखता, चलते हुए भी नहीं चलता, सुनते हुए भी नहीं सुनता, उस मानसिक स्थिति को मैंने अज्ञान मार्ग कहा है। जब संसार से उसकी रुचि हट जाती है, सांसारिक पदार्थों से उसका मन हट जाता है, परे हो जाता है, तो उसे अज्ञान मार्ग कहा है, व्यक्तिगत तौर पर उसे अज्ञान मार्ग की संज्ञा दी है। मानव से दिव्यता के प्रगटीकरण की प्रक्रिया को तप कहते हैं।

तप एक प्रक्रिया है। तप प्राप्ति नहीं, प्रक्रिया है। अब यह जानना आवश्यक है, कि क्या यह प्रक्रिया आवश्यक है? क्या इस प्रक्रिया के बिना मनुष्य से दिव्यता प्रकट नहीं की जा सकती? मेरे विचार से यह एक भ्रम है, क्योंकि उस दिव्य शक्ति सच्चिदानंद की सृष्टि में कुछ भी ऐसा नहीं है, जो दिव्य न हो। हम मायिक आवरण में स्वयं को उस दिव्यता से परे मान बैठे हैं। परे से हैं हम, उस दिव्यता से। हम दिव्य है। स्वयं में सच्चिदानंद है। उस ईश्वर की सन्तान हैं, लेकिन हम स्वयं को उस दिव्यता से परे सा मान बैठे हैं। हमारी इस गफलत से हर तरह से छुटकारा पाना ही तप है। कुछ लोग इस भ्रम में रहते हैं, कि तप से शक्तियों का अर्जन होता है। एक शब्द है–शिव, शिव से छोटी 'इ' की मात्रा हटा दी जाये, तो रह जाता है शव। शव का अर्थ है–लाश, मृतक शरीर। तप द्वारा या तो हम शव बन जायें या शिव। यदि हमें संसार को आनन्दपूर्वक भोगना है, **जीवन को आनन्दपूर्वक जीना है, आनन्दपूर्वक जन्म लेना है और आनन्दपूर्वक ही अगर हम अन्त चाहते हैं इस मनुष्य जीवन का, तो या तो हमको शिव बनना पड़ेगा या**

शव। बहुत रहस्यमय बात है। शव का कोई धर्म नहीं होता, कोई कर्म नहीं होता, उसको किसी से मोह नहीं होता, उसकी कोई आकांक्षा नहीं होती, कोई–इच्छा नहीं होती। परन्तु जो शिव है, सारे धर्म उसी के होते है, सारे कर्म उसी के होते है, सारी आकाक्षाएँ उसी की होती हैं। वही इच्छा होता है, वही इच्छुक होता है, वही इच्छापूरक और वही इच्छाफल। जिस प्रकार **शव निर्लिप्त है, शिव लिप्त होते हुए भी निर्लिप्त है। शव अथवा शिव जो हमारा वास्तविक स्वरूप है, दोनों ही पूजनीय है।** शव को भी लोग नमन करते हैं, भले ही वह किसी का भी हो और शिव को भी। यहाँ एक बात बहुत स्पष्ट कर देना चाहता हूँ, कि तप द्वारा हम शव बनें अथवा शिव, हमारी उपलब्धि नमन करवाना नहीं है। यह तो हमने एक उदाहरण दिया है। जहाँ शव का दहन होता है वहाँ शिव का वास होता है। **शिव और शव का दामन चोली का साथ है। दोनों संसार में विद्यमान होते हुए भी संसार से परे रहते हैं।** शिव का वास श्मशान में है। यहाँ कोई औपचारिकता नहीं है। कोई भी, कभी भी, आ सकता है। **वस्तुतः जहाँ शव है, वहाँ शिव है और जहाँ शिव है, वही शव है।** तप द्वारा जब हम अपने इस वास्तविक स्वरूप में, जीवन के रहते हुए प्रवेश कर जाते हैं, तब हमारे दिव्य स्वरूप का प्रगटीकरण हो जाता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि वह कौन सा तप है, जो हमको शव बना देता है या शिव बना देता है? अपने अनुभव से जो मैं आपको बनाना चाहूँगा कि यह तप की कोई विशेषता नहीं है, यह उपासक का दृष्टिकोण है, उपासक का भाव, जो उसको शव या शिव बनाने के लिये प्रेरित करता है। उसकी परिस्थितियाँ, उसकी भावनाएँ, उसके जन्म–जन्मांतरों के संस्कार और अन्य कई वातावरण के प्रभाव उसको इन दोनों में से एक तरफ ले जाते हैं। यह तप की उपलब्धि है क्योंकि दोनों स्थितियों में वह संसार में रहते हुए संसार से परे हो जाता है। हम जन्म लेते हैं। अपना व अपने परिवार का पालन–पोषण करते हैं। कुछ न कुछ हम सांसारिक उपलब्धियाँ करते हैं और फिर काल के ग्रास में प्रवेश कर जाते हैं। मृत्यु हमारा आलिंगन करती है अवश्य। जिसका जन्म हुआ है, वह मरेगा भी। **यदि जन्म है तो मृत्यु भी है, यदि जन्म नहीं है तो मृत्यु भी नहीं है।** यह विषय अति गंभीर है। जिस प्रकार

जब दूध से घी निकल जाना है, तो घी पुनः दूध मे, परिवर्तित नहीं हो सकता। इसी **प्रकार जब मनुष्य अपनी दिव्यता में प्रवेश कर जाता है, तो उसका आवरण हट जाता है, जो पुनः नहीं पड़ता।** उसकी मलिनता समाप्त हो जाती है, उसके विक्षेप समाप्त हो जाते हैं और अतः में उसका आवरण हट जाता है, पर्दा हट जाता है और उसके बाद वह अपने सहज वास्तविक स्वरूप में प्रवेश कर जाता है किसी भी तरह से। वे जो साधन है, वह है तप।

अब यह साधन क्या है? यह एक व्यक्तिगत चुनाव है। जब बुद्धि के अति प्रयोग द्वारा मनुष्य इस संसार की निरर्थकता को समझ लेता है कि मैं बार–बार जन्म लेता हूँ, मरता हूँ तो उसमें मुझे मिलता क्या है? तब वह तप की ओर प्रेरित होता है, अपने वास्तविक स्वरूप की ओर, जो न कभी जन्मा है न कभी मरेगा। जो एक आनन्द ही आनन्द है। आनन्द का स्त्रोत है। अपने उस सच्चिदानन्द स्वरूप को पाने के लिये वह अत्याधिक लालायित हो जाता है। तब वह किसी न किसी तप का विवेक द्वारा आश्रय लेता है। कभी–कभी जब स्वतः ही कुछ जन्म–जन्मान्तरों के किसी विशेष तप का प्रभाव या माता–पिता की विशेष कृपा या सत्संग या किसी संत के मिलने से उसमें यह भाव जाग्रत हो जाये, कि मेरा यह वास्तविक स्वरूप क्या है? तो उसको पाने की जिज्ञासा, लालसा, अति आकांक्षा उसको किसी न किसी तप के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार ऐसे एक नहीं अनेक कारण हैं, जो हमें तप के लिए प्रेरित करते हैं और उसका अन्त होता है अपने वास्तविक स्वरूप को पाना, जो हमारी अपनी निधि है, हमारी अपनी धरोहर है।

इस प्रकार मनुष्य का मल, विक्षेप और अंत में आवरण हट जाता है। शास्त्रों में कहा गया है कि मनुष्य का आवरण जब एक बार हट जाता है, तो वह पुनः आवृत नहीं होता। तप द्वारा उसको अपने वास्तविक स्वरूप की झलक मिल जाती है कि ''मै कौन हूँ"? वह दोबारा अपने प्राथमिक मलिन व विक्षिप्त स्वरूप में कभी भी प्रवेश नहीं करता, यदि एक बार उसका आवरण सचमुच हट गया हो तो। तप एक महज प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया का कोई स्वरूप नहीं है। जैसा कि हम बता चुकें हैं, कि यह एक व्यक्तिगत पहुँच है, चाहे वह भावमय हो, चाहे ज्ञानमय हो, चाहे भावप्रधान ज्ञान हो, चाहे ज्ञानप्रधान भाव हो, किसी भी प्रकार से। जो अन्तिम इंसका निष्कर्ष है, वह

है अपने स्वरूप में स्थित होना। अपने स्वरूप की स्थिति जो अविरल आनन्द, नित–नूतन, सच्चिदानन्द स्वरूप और आनन्द का सागर है, इस आनन्द में प्रवेश करने के बाद पुनः वह सांसारिक वस्तुओं में और संसार में लिप्त नहीं होता, भले ही वह संसार में रहे, संसार के कार्य करे। संसार का प्रत्येक कार्य, उसे दिव्यता की ओर ले जाने का ही एक कारण बनता है।

इस बात को मैं विस्तार से कहना चाहूंगा। गौर कीजिए कि जब हम देह धारण करते हैं और संसार में विचरते हैं, पति बनकर, पत्नी बनकर, पिता बनकर, पुत्र बनकर, माँ बनकर, बहन बनकर, मित्र बनकर, शत्रु बनकर, ज्ञानी बनकर, अज्ञानी बनकर और कुछ भी बनकर, तब हमें सांसारिक कार्य करने ही पड़ते है अपनी रुचि के अनुसार, अपने संस्कारों के अनुसार, अपनी बुद्धि के अनुसार, अपनी परिस्थितियों के अनुसार, अपने वातावरण के अनुसार, देश के अनुसार, काल के अनुसार। आवरण हटने के बाद यह क्रियाएं बन्द नहीं होतीं, लेकिन उस जिज्ञासु, उस महामानव, उस तपी और उस अनावृत जिसका आवरण हट चुका है, उसके लिए प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक सांसारिक व्यवहार उसका तपमय हो जाता है और प्रत्येक सांसारिक क्रिया उसको उसके वास्तविक स्वरूप की ही झलक देती है। जो क्रिया उसको अपने वास्तविक स्वरूप की झलक नहीं देती उस क्रिया से वह विमुख हो जाता है, भले ही संसार में वह आलोचना का विषय बन जाए।

यह बात यहाँ बहुत गौर करने योग्य है, कि जो लोग तपी है, संसार में विचरते हैं, जिनका आवरण हट चुका है, उनका व्यवहार साधारण मनुष्यों जैसा नहीं रहता। वे आलोचना या प्रशंसा का विषय बनते ही हैं, कारण बनते ही हैं। इसकी वास्तविकता क्या है? वास्तविकता यह है, जैसा कि मैं पहले बता चुका हूँ, कि उनका व्यवहार, जो उनको वास्तविक स्वरूप की झलक नहीं देता या वास्तविक स्वरूप से परे रखता है, वह व्यवहार वो कभी नहीं करते। इसलिए वे अक्सर सांसारिक लोगों की आलोचना का विषय बन जाते हैं, जिसकी उन्हें कोई परवाह नहीं होती। उनका इस जगत में रहते हुए अपना एक जगत हो जाता है। उनका एक व्यवहारिक क्षेत्र होता है, उनके विशेष आध्यात्मिक सम्बन्ध होते हैं। दो प्रकार के सम्बन्ध होते है–एक तो शारीरिक सम्बन्ध, कोई आपकी पुत्री, कोई बहिन, कोई भाई, कोई पति और कोई

पत्नी इत्यादि। दूसरे आध्यात्मिक सम्बन्ध–यद्यपि इनका प्रगटीकरण भी शरीर के द्वारा ही होता है, लेकिन वह सांसारिक सम्बन्ध नहीं होते जैसे आध्यात्मिक बहिन आध्यात्मिक भाई, आध्यात्मिक माता–पिता आदि। जो आध्यात्मिक लोग हैं उनका आध्यात्मिक क्षेत्र होता है, जगत होता है, वे खून के सम्बन्ध से नहीं बंधते। वे सांसारिक नियमों का पालन नहीं करते। अगर वे करते भी हैं, तो उनका एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण होता है। यह प्रकरण जो दूध से धृत निकालने का है और वह धृत ज्योति जलाने के लिए सक्षम होता है, दूध नहीं होता। यद्यपि धृत, दूध से ही निकलता है लेकिन दूध ज्योति नहीं जला सकता। इसी प्रकार दिव्य पुरुष पुनः सांसारिक कार्य करते हुए भी, सांसारिक लोगों से ज्यादा सुन्दर ढंग से व्यवहार करते हुए भी सांसारिक नहीं होते क्योंकि उनका आवरण हट चुका होता है।

इस तप का स्वरूप क्या है? मैं आपको बता चुका हूँ कि **यह एक व्यक्तिगत रुचि है, जिसके पीछे व्यक्ति के संस्कार, उसकी परिस्थितियाँ, उसका संग और अन्य कई चीजें निर्भर करती हैं। उसका अर्थ क्या है? या तो हम पूर्ण सशक्त बन जायें, शिव बन जाये या पूर्ण अशक्त बन जाये, शव बन जायें।** अक्सर इस संसार में विचरने के लिए हम शिव और शव के मध्य का मार्ग अपना लेते हैं। सांसारिक लोग न शव होते हैं, न शिव होते हैं। जिस प्रकार शव किसी भी धर्म–कर्म, किसी भी इच्छा से विमुक्त होता है, जिस प्रकार सूर्य का कोई धर्म नहीं, वायु का कोई धर्म नहीं, आकाश अथवा पृथ्वी का कोई धर्म नहीं है, इसी प्रकार शव का भी कोई धर्म नहीं होता। वह किसी भी बन्धन में बंधा हुआ नहीं होता, भले ही सांसारिक लोग उसे किसी बन्धन में बाध लें, वह स्वयं बन्धन–मुक्त होता है और पूजनीय होता है। इसी प्रकार शिव भी पूजनीय है। तप के बाद हम इन दोनों स्वरूपों में से एक स्वरूप ले लेते हैं। इसका निर्णायक व्यक्ति स्वयं होता है। उसे स्वयं मालूम चल जाता है कि वह शव बन गया है अथवा शिव। यही एक बात और उल्लेखनीय है कि **ये दोनों परिस्थितियाँ व स्थितियाँ ऐसी हैं–शिव और शव, जो एक दूसरे में परिवर्तित हो सकते हैं। शव, शिव भी बन सकता है और शिव, शव भी बन सकता है।** दोनों में बहुत थोड़ा अंतर है। यह एक अनुभव का विषय है। जब वह अनुभव होने लगता है तो उसके बाद कुछ अन्य

बातें मालूम चल जाती हैं, जो कि अनिर्वचनीय पद है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

अपने 'स्वरूप' में स्थित व्यक्ति की पहचान क्या है? उसके बारे में अनुभव के आधार पर थोड़ा वर्णन करूँगा। अगर आपको कोई ऐसा व्यक्ति मिले, तो आप पाएंगे वह अक्सर सांसारिक लोगों से अलग–अलग सा होगा। उस व्यक्ति को गहन अध्ययन करने से मालूम चलेगा, कि उसके प्रत्येक कार्य में बहुत परिपूर्णता है। जिस प्रकार कि कोई कलाकार, कोई अभिनेता या अभिनेत्री जब चल–चित्र में कोई भूमिका निभाते हैं, तो उस भूमिका में वह अधिक से अधिक पूर्णता का प्रगटीकरण करते हैं। इसी प्रकार वह व्यक्ति जिस भी भूमिका को निभाता है, वह उसमें अधिकतम परिपूर्ण होना है। न्यूनतम परिपूर्ण या अधिकतम परिपूर्ण एक आध्यात्मिक शब्द है अर्थात् उसमें वह इस प्रकार की भूमिका निभाता है, जो कि एक साधारण व्यक्ति नहीं निभा सकता। उसकी आदतों में, उसके भावों में, उसके विचारों में एक विशेष विचित्रता होती है। उस एक व्यक्ति में कई व्यक्तित्व समाहित होते हैं।

उदाहरण के लिए भगवान श्री कृष्ण को सोलह कला अवतार माना गया है। महायोगीराज श्री कृष्ण के 16 स्वरूप थे, 16 व्यक्तित्व थे। महाभारत के युद्ध में वे एक महान नायक योद्धा के रूप में सारथी बने खड़े हैं, उधर महाज्ञानी बनकर गीता का उपदेश दे रहे हैं, इधर एक प्रेमी के रूप में गोपियों के साथ रास रचा रहे हैं व गुरु संदीपन के आश्रम मैं विद्यार्जन कर रहे हैं एक आदर्श शिष्य की तरह। तो इस प्रकार उनमे कई व्यक्तित्व समाहित होते हैं और उनका प्रत्येक व्यक्तित्व अपने में परिपूर्ण होता है। जब वह शत्रु की भूमिका निभाते हैं तो वह महाशत्रु, मित्र की भूमिका निभाने हैं तो महामित्र, पति के रूप में विशिष्ट पति इत्यादि–इत्यादि। उस व्यक्ति के जीवन में एक विशेषता यह आ जाती है, कि उस एक व्यक्ति में कई व्यक्तित्व समाहित हो जाते हैं। वह सौन्दर्यवान होता है, ऐश्वर्यवान होता है, ज्ञानवान एवं त्यागवान होता है, वह महासशक्त होता है। ईश्वर के विशिष्ट छः गुणों में से प्रत्येक गुण का कुछ न कुछ अंश उसमे अवश्य होता है और उसका जीवन त्यागमय और दूसरों के लिए होता है। क्योंकि उसे अपने जीवन से कोई विशेष मोह नहीं होता। यहां दूसरों के लिए का अर्थ यह नहीं है कि उसको दूसरों के जीवन से मोह होता है

क्योकि शरीर धारण करके कुछ न कुछ खेल तो करना ही होता है, लीला तो करनी ही होती है। उनकी यह लीला परोपकार के लिए ही होती है। वे व्यवहार में भी अति कुशल होते हैं। इस प्रकार तप द्वारा जब मनुष्य स्वयं को पहचान लेता है तो आध्यात्मिक उन्नति के साथ–साथ वह भौतिक जगत में भी अति व्यवहार कुशल हो जाता है।

व्यवहारिक कुशलता शब्द बहुत सामान्य प्रतीत होता है लेकिन बहुत कम लोग इसका अर्थ समझते हैं। आपने भी अनुभव किया होगा, कि हमें किसी विशेष परिस्थिति मैं जब कोई व्यक्ति अनुकूल नहीं बैठना तो हम अक्सर कह देते हैं, कि इसे व्यवहारिक कुशलता नहीं आती, व्यवहार नहीं आता। इसका अर्थ क्या है? प्रत्येक व्यक्ति में कुछ व्यक्तित्व होते हैं, उदाहरण के लिए मान लीजिए कि एक पुरुष अपनी सन्तान, अपने बच्चों के साथ आनन्दमय स्थिति मैं बैठा है। उस वक्त वह बच्चों के साथ बच्चा बना हुआ है, उस व्यस्क पुरुष के अन्दर उसके बचपन का प्रगटीकरण हो जाता है। अपने बच्चों के सम्मुख वह बच्चा बना हुआ होता है, ऐसे में यदि उसकी पत्नी कुछ और आकांक्षा करती है, तो उस परिस्थिति में वह पति उसकी उस आकांक्षा को पूर्ण नहीं कर सकता। वह क्रुद्ध हो जाता है। यह बात बड़े गौर करने की है, कि हम किसी व्यक्ति से किस समय, किस परिस्थिति में, उससे क्या चाहते हैं? इसका निर्णय होना बड़ा आवश्यक है कि उस व्यक्ति का उस समय कौन सा व्यक्तित्व प्रगट रूप में है।

यदि हम उस व्यक्तित्व के अनुसार उससे व्यवहार करें तो उसको कहते हैं व्यवहारिक कुशलता और यदि हम उसके अनुकूल व्यवहार न करें, तो वह व्यवहारिक अकुशलता है। आज के युग में पति–पत्नी के बीच जो बहुत ज्यादा तनाव व्याप्त है, उसका एक कारण व्यवहारिक अकुशलता भी है। इसको पकड़ना और उस व्यवहार में विचरना जिस व्यक्तित्व में वो व्यक्ति है तो यह व्यवहारिक कुशलता है और इस व्यवहारिक कुशलता से, संसार में हम किसी भी सम्बन्ध में बहुत सुन्दर विचर सकते हैं और आनन्दमय जीवन बिता सकते हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि तप के बाद हम कहीं संसार से परे, किसी वन में, किसी पर्वत पर जाकर बैठ जाएं। तप के बाद हमारी मानसिक स्थिति ऐसी हो जाती

है कि हम संसार में भी विचरतें है और अन्य लोगों से ज्यादा अच्छे विचरते हैं, लेकिन संसार का कोई कर्म, कोई धर्म हमारे लिए बंधन से नहीं होता, क्योंकि हम अपने शव या शिव स्वरूप में आ जाते हैं और यह शव और शिव किसी भी धर्म–कर्म के बंधन से कोसों दूर होते हैं। सब कुछ करते हुए भी हम कर्त्ता भाव नहीं रखते। जब कर्त्ता नहीं होते तो हमको भर्त्ता नहीं बनना पड़ता। हम कर्म–बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। हम कर्म बन्धन से मुक्त होने की चर्चा कर चुके है अध्याय–3 में।

कर्मबन्धन से मुक्ति के बाद जिज्ञासु जिस स्थिति को प्राप्त करते हैं, उसका नाम **मोक्ष** है। किसी भी तरह से उस **परम–सत्ता की झलक को पाने का जुनून ही मनुष्य को तप की ओर प्रेरित करता है। तप के द्वारा ही वह अपने खोए हुए स्वरूप को पाता है। ऐसे में या तो वह शिव बन जाता है या शव बन जाता है या शिव और शव दोनों भी बन जाता है। यह बन्धन–मुक्त, कर्म–मुक्त, धर्म–मुक्त स्थिति है, जिसका एक विशेष आनन्द है। बन्धन में कभी आनन्द नहीं होता और बंधन से मुक्त होकर आनन्द ही आनन्द होता है और उस आनन्द का जब उसको एक बार भास हो जाता है, एक झलक मिल जाती है, तो इसका आवरण हट जाता है और उस आवरण के हटने के बाद वह पुनः आवृत नहीं होता।** मल–विक्षेप–आवरण, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, हमारी मलिन बुद्धि हमारे विक्षेप का कारण बनती है और यह मलिनता हमको आवृत करके रखती है, कि मैं निम्न कोटी का मनुष्य हूँ, मैं पापी हूँ, मैं पुण्यी हूँ इत्यादि–इत्यादि। जब मल और विक्षेप हटते हैं, तप द्वारा, उसके बाद आवरण स्वयं ही हट जाता है और हमें अपने वास्तविक स्वरूप की झलक आ जाती है, जो बहुत ही आनन्दमय है, इतनी आनन्दमय है कि जो अनिर्वचनीय है, वर्णन से परे है, बुद्धि से परे है, इन्द्रियों से परे है।

तुम वो बात क्यों पूछते हो, जो बताने के काबिल नहीं है।

एक विशेष मानसिक स्थिति आ जाती है, भावमय तप द्वारा–

पड़ा रहने दो अपने दर पे, मुझको क्यों उठाते हो?
मेरी किस्मत संवरती है, तुम्हारा क्या बिगड़ता है?

कि, ''ऐ मेरे आका! अपने दर से मुझे न उठा, थक गया हूँ मैं कर्म करते–करते,

मत उठाओ मुझे अपने दर से।

मेरे टूटे हुए पाय तलब का मुझपे एहसां है,
कि तेरे दर से उठकर अब कहीं जाया नहीं जाता।

अर्थात् बहुत मेहरबानी है तेरी, कि मेरे पाँव टूट गये हैं। अब मैं तुम्हारे दर से उठ नहीं सकता। उसका आवागमन समाप्त हो जाता है, ऑखों से देखते हुए वह अंधा हो जाता है, कानों से सुनते हुए वह बहरा हो जाता है, त्वचा से स्पर्श करते हुए स्पर्श–रहित हो जाता है। यह एक बड़ी अटपटी स्थिति हो जाती है, **उसको चाहे शव कह दो या शिव कह दो।**

उसको मोह हो जाता है अपने स्वरूप से, अपने इष्ट से, उस सच्चिदानंद परमात्मा से उसको मोह हो जाता है। मोह और प्रेम में अन्तर है। **जहाँ बन्धन युक्त प्रेम हो उसको मोह कहते है,** जिस प्रकार हमें सांसारिक व्यक्तियों से मोह होता है, अपने स्वयं से मोह होता है, अपने शरीर से मोह हो जाता है, इसी प्रकार उसे अपने इष्ट से मोह हो जाता है। उसके जीवन की प्रत्येक प्रक्रिया अपने इष्ट से युक्त होती है और जो प्रक्रिया उससे युक्त नहीं होती, वह उस कार्य की तरफ प्रेरित ही नहीं होता, उसको करता ही नहीं। वह अपने इष्ट के बिना मर भी नहीं सकता। जीवन की अन्तिम घड़ी में उसको अपने इष्ट की ही याद आती है।

भाव प्रधान ज्ञानमय तप करते–करते उपासक को जब कभी निराशा भी होती है तो वह अपने इष्ट के लिये होती है, अपने उस परमपिता के लिए होती है। 'हे मेरी माँ, मेरे पिता! मैं जन्म–जन्मान्तरों से भटक रहा हूँ। तुमने मेरी सुध ही नहीं ली। तुम जानते हो मैं कहाँ हूँ, पर मैं नहीं जानता कि तुम कहाँ हो'। अरे! तुम चाहते तो मुझे मिल सकते थे, मिल सकते हो और मैं चाहते हुए भी तुम्हें मिल नहीं सकता। यह कैसा आलम है?'

किष्किन्धा पर्वत पर जब भगवान श्री राम और लक्ष्मण को आते देखकर सुग्रीव भयभीत हो जाता है और हनुमान जी को भेजता है कि, "जाओ पवनपुत्र! यह मालूम करो कि यह कौन आ रहे हैं?" तो हनुमान जी विप्र का रूप धारण करके उनसे मिलने के लिए जाते हैं। उस समय श्री राम का दर्शन कर हनुमान जी के हृदय में विशेष प्रसन्नता और प्रेमभाव उत्पन्न हो जाता है। हनुमान जी का विप्र का रूप धारण

करना अनूठा है। कहते है–

को तुन्ह स्यामल गौर सरीरा, छत्री रूप फिरहु बन बीरा।
कठिन भूमि कोमल पद गामी, कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी।।

भगवान श्री राम उस विप्र रूप में हनुमान को पहचान लेते हैं, परन्तु क्योंकि वह मर्यादा पुरुषोत्तम हैं, वह उसी के अनुसार उत्तर देते है–

कोसलेस दसरथ के जाए, हम पितु वचन मानि बन आए।
नाम राम लछिमन दोउ भाई, संग नारि सुकुमारि सुहाई।।
इहाँ हरी निसिचर बैदेही, बिप्र फिरहि हम खोजत तेही।
आपन चरित कहा हम गाई, कहहु बिप्र निज क्या बुझाई।।

हनुमानजी ने जब यह सुना कि कौसलेस दशरथ के पुत्र, मेरे इष्ट भगवान ही राम मेरे सन्मुख खड़े हैं, जिनकी वे बचपन से तलाश में है और भटक रहे हैं, तो उनकी देह कम्पायमान हो जाती है और आँखों से अश्रु की धारा बहने लगती है। उनकी एक विचित्र परिस्थिति हो जाती है। वह अपने प्रभु के चरणों में गिर पड़ते हैं। अपनी सुध बुध खो बैठते हैं। कुछ देर बाद जब होश आती है, तो उन्होंने भगवान श्री राम को निहोरा दिया, कहते हैं–

मोर न्याउ मैं पूछा साईं, तुन्ह पूछहु कस नर की नाईं।

हे साई, मेरा न्याय है, मैंने कुछ गलत नहीं किया, जो मैंने आपका नाम पूछा। मैं आपकी माया में भटका हुआ आपको पहचान नहीं पाया। इसलिए मैंने आपका नाम पूछ लिया कि आप कौन हैं? लेकिन आपने तो मुझे पहचान लिया था फिर आप विप्र–विप्र कहकर क्यों पूछ रहे हैं, कि मैं कौन हूँ ? इन शब्दों के साथ हनुमान जी अपने स्वरूप में प्रकट होते हैं, तो प्रभु ही राम उनको अपने गले से लगा लेते हैं। भगवान शंकर, माँ उमा को जब यह क्या सुना रहे होते हैं, तो अति आत्मविभोर होकर उनकी समाधि लग जाती है। भगवान शंकर स्वयं हनुमान है। कहने का अर्थ यह है कि जब जीव जन्म–जन्मान्तरों में प्रभु की माया में भटकते–भटकते उसकी विशिष्ट कृपा से भावमय तप द्वारा अपने स्वरूप को देखता है, अपने इष्ट का दिग्दर्शन करता है, उसके बाद उसकी ग्लानि समाप्त हो जाती है, वह निर्दोष हो जाता है। इस ग्लानि के समाप्त होते ही वह आवरण रहित हो जाता है। उसमें और इष्ट मे, कोई

भेद नहीं रहता। वह अपने स्वरूप को देखकर, जानकर, उसी में समाहित हो जाता है। यह जो समाहित शब्द है कि समाहित हो गये अर्थात् हनुमान जी अपनी सुध–बुध खो गए। जो उनके आराध्य है, जिनका वो स्मरण करते है, ध्याते हैं, उस अपने इष्ट को अकस्मात् अपने सम्मुख पाकर वह अति आनन्द विभोर होकर अपनी सुध–बुध खो गए कि, 'मैं कौन हूँ? कहाँ हूँ?' उधर भगवान श्री राम, अपने अनन्य भक्त का स्पर्श पाकर स्वयं सुध–बुध खो गए और इस प्रसंग को भगवान शंकर, माँ पार्वती को सुनाते–सुनाते इतने भाव विह्वल हो गए, कि वह भी इस विशेष प्रसंग में सुध–बुध खो गए। भगवान शंकर कहते हैं, कि उस विशेष परिस्थिति ***'सो सुख उमा जाइ नहीं बरना'***। सभी को सुख मिल रहा है। भगवान राम और हनुमान जी को और इस प्रसंग को वर्णन करने वाले भगवान शंकर भी उस वक्त सुध–बुध खोकर समाधिस्थ हो गए।

भूलना–एक साधिका के स्वयं के दोष प्रगट करने पर कि, 'मैं भूल जाती हूँ, गुरुदेव ने उसकी सहज सुन्दरता से व्याखा की है। वह कहते हैं, कि अंतिम लक्ष्य भूलना ही है। विशेषकर ज्ञानमय तप का अंतिम लक्ष्म भूलना है। जब किसी लड़के–लड़की की शादी होती है तो बाराती नृत्य करते हुए जाते हैं, बैंड–बाजे बजते है, आतिशबाजी होती है, फिर लड़का–लड़की विवाह–मंडप में पहुँचते हैं और विवाह होता है। बारातियों का महत्व तब तक होता है, जब तक विवाह नहीं हो जाता। इसी प्रकार **वेदान्त, प्रवचन, चितन, मनन, यज्ञ–हवन, जप–तप इत्यादि यह सब बाराती हैं। इनका महत्त्व तब तक होता है, जब तक जीव और ब्रह्म का मिलन नहीं हो जाता।** दो चीजें तब तक आपस में नहीं मिलती जब तक उनकी अलग–अलग पहचान होती है। जब वे आपस में मिल जाते हैं, तो मिलने का प्रमाण यह होता है कि दोनों अपनी पहचान खो जाते हैं। **इसे कहते है एकाकार हो जाना**। इस एकाकार स्थिति में यह गौर करने की बात है, कि पहले तो यह सब विचारधाराएं, ये श्रुतियाँ, ये उपनिषद संतों की वाणी इत्यादि–इत्यादि, उस अंतिम मिलन के लिए जीव याद करता है, फिर सब भूल जाता है, मिलने के बाद वह अपना जीवत्व खो देता है। **भूलना ही अतिम लक्ष्य है।** जब उसका मिलन हो जाता है तो जिससे मिलता है वह भी भूल जाता है। तब जीव, जीव नहीं रहता और ब्रह्म, ब्रह्म

नहीं रहता। स्वामी रामतीर्थ ने लिखा है :

न मैं बन्दा था, न खुदा था।
दोनों इल्लत से जुदा था, मुझे मालूम न था।
चाँद बदली में छिपा था, मुझे मालूम न था।
मैं खुद ही खुद में पर्दा बना था, मुझे मालूम न था।।

इल्लत कहा है, जीवत्व को भी और ब्रह्मत्व को भी। जब यह स्थिति वास्तव में उत्पन्न हो जाती है, तो वह स्वयं को भूल जाता है। हम जो कुछ भी ध्यान करते हैं, समाधि में जाते हैं, पहले हम श्रवण करते हैं, श्रवण के बाद हम मनन करते हैं और मनन करने के बाद हम उसका नित्याध्यासन करते हैं, कि यही सत्य है, यही सत्य है, इस तरह सत्य हमारे अन्दर समाहित हो जाता है, कि यह सत्य है। हम जिसे ब्रह्म कहते हैं, ईश्वर कहते हैं, यह मन, बुद्धि, चिंतन, मनन का विषय नहीं है, यह इससे हट कर है। सत्य अर्थात् सत्य। तो उस सत्य को वह पकड़ने की कोशिश करता है। उस सत्य के साथ वो एक होने की कोशिश करता है। एकाकार होने का लक्षण है कि वह अपना आपा खो देता है!

जीव और ब्रह्म का पहले साक्षात्कार होता है। साक्षात्कार का अर्थ है एक दूसरे के सम्मुख आ जाना, जब वे मिलते हैं, तो मिलने के बाद जीव, जीव नहीं रहता और ब्रह्म, ब्रह्म नहीं रहता। उसके बाद जो अनुभव होते हैं उसे न तो जीव सुना सकता है न ब्रह्म सुना सकता है। जब दो चीज़ें मिल जाती हैं, वे दोनों अपनी पहचान खो देते हैं। **'न मैं बन्दा था, न खुदा था' ये जीव और ब्रह्म दोनों इल्लत बन जाते हैं।** मिलने के बाद यह अपने जीवत्व से या ब्रह्मत्व से भी परे हो जाता है। उस स्थिति में आने के बाद आप उसका वर्णन नहीं कर सकते, उससे उतरकर कर सकते हैं। इसलिए उस परमसत्य का अनुभव करने के बाद एक शब्द प्रयोग किया है शास्त्रों में अनिर्वचनीय, वह सोच का, बोलने का, सुनने का विषय ही नहीं रहता। सत्य तो यह है जब हम ज्ञानमय तप करते हुए मनन करते हैं, श्रवण करते हैं, समाधिस्थ होते हैं, बहुत कुछ करते हैं तो एक स्थिति में आकर यह सब चीज़ें अपनी पहचान खो देती हैं। जब आप अपने सत्य स्वरूप में विचरने लगते हैं, तो व्यवहार तो चलता है परन्तु उसका महात्मय समाप्त हो जाता है। हम किसी चीज़ का भोग

तब कर सकते हैं ज**ब हम उस चीज़ का महात्म्य समाप्त कर देते हैं। अगर धन का भोग करना है तो धन का महात्म्य समाप्त कर दीजिये। पद का महात्म्य होगा, तो इसका अर्थ पद हमको भोग रहा कुछ भी मिथ्या नहीं है।** ज्ञानमय अथवा ज्ञानप्रधान भावमय तप करते हुए इष्ट कृपा से अनुभूति हो जाती है, कि कुछ भी मिथ्या नहीं है, सब सत्य है। **ईश्वर सच्चिदानन्द है, तो जगत मिथ्या हो ही कैसे सकता है? मिथ्या मानना ही मिथ्या है। ईश्वर की परिभाषा है सच्चिदानन्द, अर्थात् जो सत्य है, चेतन है और आनन्द है वही ईश्वर है।** सारी सृष्टि का निर्माता, संहारकर्त्ता, पालनकर्त्ता ईश्वर है। जो सच्चिदानन्द ईश्वर है, उसके महामस्तिष्क में मिथ्या नामक दृष्टिकोण ही कैसे आया होगा? जहाँ प्रकाश है, वहाँ सूर्य है, वहाँ अँधेरे का क्या काम? जहाँ ईश्वर है, सच्चिदानन्द है, वहाँ मिथ्या का क्या काम? सत्य स्वरूप जो ईश्वर है वह मिथ्या का निर्माण कर ही कैसे सकते है? जो मिथ्यात्व है किसी वस्तु का, उसका आधारक्या है' सत्य। इस भौतिक युग में कुछ भी मिथ्या नहीं है क्योंकि सब सत्य पर आधारित है। अंधकार का आधार है प्रकाश, अशक्त का आधार है सशक्त। इसी तरह मिथ्या का आधार सत्य है। अगर सत्य न होता तो मिथ्या भी न होता। अगर ईश्वर न होता तो जीव न होता। अगर राम न होता तो रावण न होता।

यह सृष्टि की रचना है। इसलिए हमारे पुराणों में रजोगुण, तमोगुण, सतोगुण तीनों का सन्तुलन है। जगत ईश्वरमय है। सत्य और आनन्द की सराहना के लिए चेतन का होना आवश्यक है। जड़ सराहना कर नहीं सकता तो चेतन का सत्य और आनन्द की प्रशंसा करने के लिए होना आवश्यक है। सत्य, चेतन और आनन्द का नाम है– ईश्वर। सारा जगत ईश्वरमय है। सभी सत, चित्त, आनन्द का स्वरूप है। राम अपनी जगह सत्य है, रावण अपनी जगह सत्य है। एक ही सत–चेतन–आनन्द के असंख्य रूप है, कहीं गीध बनकर बैठा है, कहीं बगुला बनकर, कहीं साधु बनकर और कहीं डाकू बनकर बैठा है। सबमें एक और एक में सब।

मैंने यार को जां बजा देखा, कहीं बन्दा कही खुदा देखा

परमसत्य जानकर व्यवहार का आनन्द आने लगता है। बाह्य जगत, भीतरी जगत का ही बाह्य प्रगटीकरण है। सम्पूर्ण महासृष्टि उस ईश्वरीय सत्ता पर ही

आधारित है। उस ईश्वरीय सत्ता को हटा दें, तो पूरी सृष्टि उसी समय ढह जाएगी। ईश्वर खुद महाब्रह्माण्ड का कारण है, अधिष्ठाता है और स्वयं में सच्चिदानंद है और स्वयं छ. गुणों से परिपूर्ण है—त्यागवान, ऐश्वर्यवान, बलवान, ख्यातिवान, सौन्दर्यवान, ज्ञानवान। इन छ. महागुणों से युक्त उस ईश्वरीय सत्ता पर आधारित जितना ब्रह्माण्ड है, वह भी छ. गुणों से परिपूरित है, लेकिन अज्ञानवश या दुर्भाग्यवश हम इस सृष्टि को मिथ्या अथवा दुखों का हेतु या कारण समझ लेते हैं, जबकि ऐसा नहीं है। सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड उस कोटि—कोटि ब्रह्माण्ड नायक के भीतर ही समाहित है। इस सम्पूर्ण सत्य की किसी भी साधन अथवा प्रकिया द्वारा अनुभूति हो, वही तप है।

।। जय जय श्री राम।।

परिवर्तन

आज मैं अपने आराध्य देव प्रभु श्री हनुमान जी की प्रेरणा एवं आदेश से जो विषय प्रस्तुत करने जा रहा हूँ, यह अपने में एक बहुत सामान्य परन्तु अति गम्भीर विषय है। इस विषय का नाम है **'परिवर्तन'**। हम अपने नित्य के जीवन में, सम्पूर्ण जीवन में, प्रकृति में, निरन्तर परिवर्तन का आभास करते हैं। हर क्षण, हर पल परिवर्तन है, यह परिवर्तन क्या है? क्यों है? इसका अन्त कहाँ है? इसकी परिभाषा क्या है? इस परिवर्तन के अन्दर छिपा रहस्य क्या है? यह एक विचारणीय विषय है और इस रहस्य को पाने के बाद उसका हमारे नित्य प्रतिदिन के जीवन में और सम्पूर्ण जीवन में क्या महात्म्य है? उसको जानने से हमारा जीवन अति आनन्दमय हो सकता है। परिवर्तन का आरम्भ होता है ईश्वरीय सत्ता से। वह कोटि–कोटि ब्रह्माण्डनायक ईश्वर जिसकी परिभाषा दी है शास्त्र ने सच्चिदानंद, जो सत्य है, चेतन है और आनंद है और इन तीनों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इन तीनों का सम्पूर्ण सम्मिश्रण है, उसका नाम है ईश्वर और स्वयं में वह ठोस–घन–शिला है।

स्वयं में ईश्वर परम स्थिर है। इस काल–चक्र में पूरे ब्रह्माण्ड के जितने परिवर्तन होते हैं, उसका वह साक्षी है। किसी भी परिवर्तन का आभास करने के लिये एक वस्तु का स्थिर होना अति आवश्यक है, क्योंकि परिवर्तन एक सापेक्षिक शब्द है। किसी की अपेक्षा परिवर्तन होता है। सबसे स्थिर सत्ता जो है महाब्रह्माण्डों में, वह है ईश्वरीय सत्ता। 'ऊँ' शब्द सारी सृष्टि का बीज है तो इस ऊँ शब्द से ईश्वरीय मन व माया का प्रगटीकरण हुआ, जिनसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों सत्ताओं का व साथ में सरस्वती, लक्ष्मी एवं महाशक्ति दुर्गा का सृजन हुआ, जो अपने में परिपूर्ण है। ईश्वरीय सत्ता ब्रह्मा बनकर करोड़ों ब्रह्माण्डों का निर्माण करती है, विष्णु बनकर उनका पालन–पोषण करती है और शंकर बनकर उनका संहार करती है। यह तीनों परिवर्तन अपने में अपना अलग–अलग अस्तित्व रखते हैं और सृष्टि का निर्माण, पोषण एवं संहार क्रमशः होता रहता है। इस परिवर्तन का पूरे ब्रह्माण्ड में प्रगटीकरण होता है।

प्रकृति और पुरुष का दामन–चोली का साथ है। प्रकृति पुरुष की है और पुरुष प्रकृति से बंधा हुआ है। इस महापरिवर्तन में पुरुष की इस प्रकृति के तीनों गुण जो

सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण है, ये तीनों परिवर्तन के स्वरूप है। प्रकृति इन तीन गुणों में विचरती है और संसार का निर्माण, पालन व संहार, इन्हीं के भीतर ही होता है। यह तीनों ही महान परिवर्तन के द्योतक है और अपने में पूर्ण है व अपना–अपना अस्तित्व रखते हैं और यह आवश्यक भी है। आप लोग अति विचारपूर्वक इसका पठन एवं मनन करें। वायुमण्डल, जल, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, पृथ्वी के सातों तल, वनस्पति जगत, समस्त जितनी भी ईश्वरीय विधाएं हैं, इनमें इन तीन गुणों का होना अति आवश्यक है। कुछ लोग जिन्हें हम सात्विक कहते हैं, वे सतोगुण प्रधान होते है। जिनमें रजोगुण ज्यादा प्रगट होता है, उनको हम रजोगुणी लोग कह देते हैं और तमोगुणी लोगों में तमोगुण प्रधान होता है। अर्थ यह नहीं कि जो तमोगुणी हैं, उनमें कभी सत्य या रजोगुण का समावेश नहीं होगा, लेकिन उसमें प्रधानता तमोगुण की ही रहती है। यह निर्माण क्यों होता है? कैसे होता है? यह गहन रहस्य है।

एक दिन की दिनचर्या ले लीजिये, रात्रि समाप्त होती है, सूर्य भगवान उदय होते है, सुबह होती है, दोपहर होती है, संध्या होती है फिर रात्रि होती है। इसी प्रकार जीवन में पहले जन्म होता है, बाल्यकाल आता है, जवानी आती है, बुढ़ापा आता है, उसके बाद मृत्यु और अगले जन्म में फिर वही प्रकरण। इस प्रकार कालचक्र चलता रहता है। यहाँ आवश्यक बात जानने की यह है कि कालचक्र जब चलता है तो उसकी एक धुरी होती है जिस पर वह चक्र चलता है। तो वह धुरी ही दृष्टा है। यदि चक्र की धुरी न हो, तो हम चक्र की चाल की गणना नहीं कर सकते। निद्रा से जागृत अवस्था में आते ही हम एक सृष्टि का निर्माण करते हैं। आप कहेंगे सृष्टि तो पहले भी विराजमान थी लेकिन जब हम निद्रा में होते है, वहाँ सृष्टि का लोप हो जाता है। निद्रा खुलते ही तुरन्त सृष्टि का निर्माण हो जाता है। हमें अपना अस्तित्व मालूम हो जाता है।

हमें अपने परिवार का अस्तित्व, अपने कारोबार, आस–पड़ोस, देश, काल इत्यादि का सारा अस्तित्व केवल हमारी दृष्टि के खुलने से ही होता है, जिसको हम कह सकते है **ब्रह्मापद।** उस पद में आने के बाद हम उस सृष्टि का पालन करते है। यथा–आवश्यक विभिन्न प्रकार के कार्य करने लगते हैं। तो वह हमारा **विष्णुपद** है और रात्रि के समय हम अपने विष्णु पद से भी थक जाते हैं, हम सोना चाहते हैं।

अपनी देह, स्त्री, संतान, सम्पत्ति, पद, धर्म–कर्म, सबको भूलकर हम विश्राम चाहते है, यह हमारा **शंकरपद** है, **महेशपद,** जिसको हम निद्रा कहते हैं। उस शंकरत्व से भी हम ऊब जाते हैं फिर हम अपने ब्रह्मापद में आ जाते हैं। इसी प्रकार सुबह की जागृति और दिनभर उसका पालन–पोषण और रात्रि में निद्रा, यह हमारी चेतन सत्ता की तीन विधाएं हैं। अब इस परिवर्तन की आवश्यकता क्यों पड़ी?

करोडों ब्रह्मांड बनते रहते हैं, समाप्त होते रहते हैं, चलते रहते हैं, अनादि काल से चल रहे हैं और चलते रहेंगे। यह एक ईश्वरीय लीला है, मात्र लीला। लेकिन यह लीला मिथ्या नहीं है। यह लीला आनंद के लिये है। जब हम इस कालचक्र के साथ घूमने लगते हैं, तो हम अक्सर सुखी, दुखी, अति दुखी, फिर सुखी, अति सुखी इत्यादि–इत्यादि होते रहते हैं। जब इस कालचक्र की सत्यता का हमें भास होता है तो हम कालचक्र से संकल्प करके कूद जाते हैं। कालचक्र के हम दृष्टा बन जाते हैं और इसका हमें आनंद आने लगता है। बस यही अंतर है कि जो स्थिर है, वह परिवर्तन को देखता है। जो स्वयं परिवर्तित हो रहा है, वह उस परिवर्तन का भाग हो जाता है और उस परिवर्तन की विभिन्न विधाओं के अनुसार वह सुखी–दुःखी होता रहता है।

ईश्वर को कालेश्वर कहा है, महाकालेश्वर। इसका संधिविच्छेद करें, तो काल+ ईश्वर, **जो काल का ईश्वर है, जो काल का अधिष्ठाता है, नायक है, प्रभु है अर्थात् जिसके इशारे से काल चलता है, उसको कहा है कालेश्वर।** सारा जगत, काल के अधीन है, काल इसको चलाता है। हमारा जन्म होता है, हमारा बाल्यकाल होता है, विवाह–शादी होती है, बच्चे होते हैं, फिर उनके साथ भी यही प्रकरण चलता है। हमारे जीवन की प्रत्येक प्रक्रिया, प्रत्येक विधा, किसी न किसी काल की विधा से बंधी रहती है और इस प्रकार जन्म–जन्मान्तरों से हम इस काल चक्र में बंधे चलते रहते हैं और स्वयं को हम विभिन्न रूपों में देखते रहते हैं। कितना विचित्र विषय है, कितना विचित्र विचार है कि काल–चक्र के साथ हमारे जीवन में जो परिवर्तन आते हैं, हम अपने आपको उसी परिवर्तन के साथ तद्‌रूप होकर देखने लगते हैं और सुख–दुख का आभास करने लगते हैं। यह बड़ा विचारणीय विषय है, इसकी मैं व्याख्या करना चाहूँगा।

यदि आप सुबह या शाम किसी समय किसी अलग बंद कमरे में बैठकर अपने जीवन के अतीत पर, जबसे आपने होश संभाली है, विचार करें, तो कभी आपको अपनी बाल्यकाल की, कभी युवावस्था की, तो कभी किसी और अवस्था की बातें याद आती हैं। आप स्वयं से प्रश्न करें कि इसमें से कौन सा मेरा स्वरूप है? जब मैं छोटा था, स्कूल में पड़ता था, प्रथम क्या मैं था, मैं वह हूँ या मैं हाई स्कूल में पढ़ने वाला हूँ? विवाह से पूर्वोत्तर वाला स्वरूप है मेरा, जब मैं विवाहित हुआ या जब मैं एक बच्चे का पिता हुआ, वह हूँ या मैं दो बच्चों का पिता हुआ वह हूँ? इनमें से जो भी परिवर्तन मैंने अपने जीवन में देखते हैं, उनमें से मेरा वास्तविक स्वरूप कौन सा है? इस पर हम विचार करें, तो हम आचम्भित हो जायेंगे। फिर यह विचार करें कि मेरे इन सारे स्वरूपों को देखने वाला कौन है? वह धुरी कौन सी है, जिसने कालचक्र के मेरे जीवन के आज तक के सारे स्वरूप देखे और जो स्वयं नहीं बदली।

अगर वो धुरी बदल जाती तो इन स्वरूपों का आज तक कौन स्मरण रखता? कौन हिसाब रखता? बहुत रोचक बात है कि जितने स्वरूप हमें अपने–अपने जीवन के याद आते हैं वे सारे परिवर्तनीय थे, सारे परिवर्तित हो गये। जो स्वरूप हम आज देख रहे हैं, वह भी परिवर्तित हो जायेगा। इसमें भी परिवर्तन आयेगा, तो क्या यह मेरे विभिन्न स्वरूप जो बदल रहे हैं यदा–कदा, और बदलते जा रहे हैं, क्या यह मेरा स्वरूप है? यदि यह मेरा स्वरूप नहीं है, तो मैं इसमें लीन क्यों होता हूँ? क्योंकि आज तक मेरा कोई भी स्वरूप, आज तक मेरी कोई भी विधा का प्रगटीकरण स्थिर नहीं रहा और न रहेगा। मेरा जन्म हुआ है, मेरी मृत्यु अवश्य होगी, निस्सन्देह। जिस स्वरूप में मैं इस समय हूँ, वह स्वरूप भी अवश्य बदलेगा। तो इस स्वरूप से मैं बँधता क्यों हूँ? तो परिवर्तन के बारे में मनन करने से हमारी सांसारिक लीनता अवश्य समाप्त हो जायेगी।

यदि सब कुछ परिवर्तनीय हैं, तो सुख कैसा और दुःख कैसा? यदि यह सब परिवर्तन मेरे आनन्द के लिये हैं, तो मेरा वह आनन्द स्वरूप कौन सा है, जो सारे परिवर्तन को देख रहा है, लेकिन वह स्वयं नही बदल रहा है। क्यों न मैं अपने उस विशिष्ट स्वरूप, उस वास्तविक स्वरूप, सच्चिदानंद स्वरूप में प्रवेश कर जाँऊ? इस परिवर्तनशील स्वरूप के साथ तद्रूप होने की बजाय यदि मैं अपने उस वास्तविक

स्वरूप में जिसने सारे परिवर्तन देखे हैं और जो स्वयं नहीं बदला, जो मेरा अपना स्वरूप है, मैं अपने उस स्वरूप को क्यों न पकड़े और जिस क्षण हम अपने उस स्वरूप को स्पर्श भी कर लेगें हमारे दुख–सुख समाप्त हो जायेंगे। आप कहेंगे सुख भी समाप्त हो जायेंगे? हाँ। **क्योंकि सुख और दुख सापेक्षिक हैं, परिवर्तनीय हैं। सुख और दुख समाप्त होने के बाद महाआनंद की अनुभूति होती है।** यह एक बड़ा विचारणीय विषय है। जो परमानंद की स्थिति है, उसमें सुख और दुख दोनों समाप्त हो जाते हैं, क्योंकि सुख और दुख दोनों भौतिक हैं और आनन्द, आध्यात्मिक। मेरा स्वरूप आनन्द है, सच्चिदानंद है। सुख और दुःख मेरी दैहिक स्थितियाँ हैं, जो इस काल चक्र के साथ मेरी मानसिक लीनता का परिणाम है। उस समय मैं उस स्थिति के साथ तद्रूप हो जाता हूँ और यही अज्ञान है।

हम सो रहे होते हैं, स्वप्न देखते हैं। उस स्वप्न में हम विभिन्न रूपों में विचरते हैं। जागृति में जब उस स्वप्न का वर्णन करते हैं, तो उस स्वप्न में जो हमारा रूप होता है, जो हमारा व्यक्तित्व होता है उसको भी हम 'मैं' करके ही बोलते हैं, कि उसमें मैंने ऐसा देखा, मैं वहाँ गया, मैंने यह पाया, यह खोया। बस, यही अज्ञान है। स्वप्न मिथ्या नहीं है क्योंकि स्वप्न आपकी सृष्टि है और स्वप्न में जो आप अपनी देह देख रहे हैं, अगर उसके साथ आप तद्रूप हो गये हैं, मात्र यही अज्ञान है। मैं इस बात की और व्याख्या कर रहा हूँ। स्वप्न सृष्टि असत्य नहीं है लेकिन स्वप्न सृष्टि में जो हमारी देह है, उसको स्वयं का रूप मान लेना ही अज्ञान है। बड़ा बारीक विषय है।

प्रभु कृपा से मनन करने से शायद यह पल्ले पड़ जाये। स्वप्न सृष्टि में हम अपनी जिस देह में विचरते हैं, उस देह के साथ तद्रूप हो जाना, कि यह मेरी देह है, यह अज्ञान है। स्वप्न अज्ञान नहीं है, स्वप्न मिथ्या नहीं है। जीव स्वयं कहीं भी आता नहीं है, जा ता नहीं है। कितनी सृष्टियाँ बन जाती हैं, कितनी विचारधाराओं का प्रगटीकरण होता है। स्वयं में उनका पालन होता है और उसी में समाहित हो जाती है। यह काल–चक्र की धुरी जो है, इसकी धुरी न हो तो काल–चक्र की गति का मालूम नहीं चलता। इस प्रकार जब हम अपने स्वरूप में स्थिर हो जाते हैं, तो इस परिवर्तन का हम आनन्द लेते हैं और जब हम इस कालचक्र में स्वयं घूमने लगते हैं तो हम उस कालचक्र के एक अंग हो जाते हैं। हमें दुख और सुख भासने लगते है।

यह बार–बार दोहरा रहा हूँ, क्योंकि यह एक साधारण दिनचर्या है, जो हम हर रोज देखते हैं। समय का परिवर्तन, मौसम का परिवर्तन, प्रकृति में विभिन परिवर्तन, हमारी देह का परिर्वतन, हमारे परिवार का परिवर्तन, यह समस्त परिवर्तन हमारी विभिन्न मानसिक स्थितियों का बाह्य प्रगटीकरण हैं। जैसे मैं अपने पहले अध्यायों में वर्णन कर चुका हूँ, हमारा भीतरी जगत ही बाहरी जगत बनकर प्रगट हुआ है, बाहर कुछ नहीं है और हमारे भीतर जो परिर्वतन होते हैं, बाह्य जगत में वही परिवर्तन हमको दृष्टिगोचर होने लगते हैं।

देह की तीन अवस्थाएं स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण है। हमारा कारण शरीर ही सूक्ष्म बनता है और इस शरीर में हमारा स्थूल शरीर अंश मात्र में विराजमान रहता है। आप कभी हवाई जहाज में उड़िए, जैसे–जैसे आप ऊँचे उड़ते जायेंगे, भूमण्डल के बड़े–बड़े खंड, छोटे–छोटे से टुकड़े नज़र आने लगते हैं। बहुत ऊँचा उड़ने के बाद बहुत विशाल समुद्र, बड़ी–बड़ी झीलें, बड़े–बड़े वन, बड़े–बड़े शहर, मात्र बिंदु से नज़र आने लगते हैं। इसी प्रकार जब हम अपने स्थूल शरीर से परे हटते हैं, अपने सूक्ष्म में प्रवेश करते हैं, तो सूक्ष्म शरीर में प्रवेश करने के बाद हमें अपना स्थूल शरीर बहुत छोटा नज़र आने लगता है और यहाँ तक कि स्थूल शरीर कभी–कभी नज़र आना भी बन्द हो जाता है और जब हम उससे ऊँचे उठते हैं, तो हम अपने कारण शरीर में प्रवेश कर जाते हैं, जो ईश्वरीय सत्ता है। उसके बाद हमारे सूक्ष्म शरीर का महात्म्य भी समाप्त हो जाता है। यह परिवर्तन हमारी मानसिक स्थितियाँ हैं। जिस प्रकार हम ऊँचे उड़ते जाते हैं, हमारी विचारधाराएं, हमारे विचार और हमारी मानसिक अवस्थाएं ऊँची–ऊँची हो जाती हैं, तो हमारे लिये यह जगत नगण्य हो जाता है। जितना हम जगत की तरफ प्रेरित होते है, नीचे आते रहते हैं तो जगत का अपना अस्तित्व हो जाता है। जगत का निर्माण हम करते हैं, इसका पालन हम करते हैं, इसका संहार हम करते हैं आनंद के लिये। **केवल आनंदमय स्थिति हमारी ऐसी स्थिति है, जो कि अपरिवर्तनीय है।**

अब प्रश्न यह उठता है, कि यदि हमारा वास्तविक स्वरूप आनन्दमय है, तो परिवर्तन की तरफ हम लालायित क्यों होते हैं? प्रेरित क्यों होते हैं? इस परिवर्तन की हमें आवश्यकता क्या है? बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है कि यदि हमारा स्वरूप आनन्दमय

है, हमारा वास्तविक स्वरूप तो उसके बाद हम परिवर्तन की इच्छा क्यों करते हैं? क्या हमारे आनन्द में कोई न्यूनता आती है? **जिस प्रकार ईश्वर स्वयं में सच्चिदानंद और छः अति सुन्दर गुणों से विभूषित, कभी ब्रह्मा बनते हैं, कभी विष्णु बनते हैं और कभी महेश। यह इनकी तीनों विधाएं आनन्द से आनन्द में हैं। आनन्द से शुरू होती है और आनन्द में अन्त होती है लेकिन हम जीव–कोटि में आकर इस परिवर्तन को अपने आनंद का कारण मानते हैं, ईश्वर इन तीन विधाओं में आनन्द से आते हैं और हम आनन्द के लिये आते हैं।** बस, अतंर यह हो जाता है।

एक बार मैं इसको और स्पष्ट करूँगा। ईश्वरीय सत्ता जब अपनी तीनों विधाओं में, ब्रह्मा, विष्णु और महेश में विचरती है, तो वह आनन्द में विचरती है। तीनों का अपना अस्तित्व अलग है, इनकी भूमिका अलग है लेकिन **हम जीव–कोटि में जब कोई भी परिवर्तन चाहते हैं, तो आनन्द के लिये चाहते हैं, आनन्द के लिये! और ईश्वरीय सत्ता में जो परिवर्तन आते हैं वे आनन्द से आते हैं, आनन्द में आते हैं। आनन्द से शुरू होते हैं और आनन्द में समाप्त होते हैं।** अपने पिछले अध्याय में मैं यह वर्णन कर चुका हूँ कि जीव सत्ता में, जीव कोटि में हम परिवर्तन चाहते हैं आनन्द के लिए लेकिन मिलता क्या है? जैसे एक पेड़ के चारों ओर एक पागल भाग रहा है, स्वयं अपने आपको पकड़ने के लिये, हमारी यह स्थिति होती है और उसी दौड़ में हमारा यह जीवन समाप्त हो जाता है। पुनः उसी दौड़ में हमारा जीवन फिर शुरु हो जाता है। हम स्वयं को पकड़ना चाहते हैं दौड़ कर और हम सायं को बहुत व्यस्त मानते हैं। हमारे पास कुछ सद्विचार करने का, सत्संग का समय ही नहीं है, क्योंकि हम दौड़ रहे हैं, हम क्यों दौड़ रहे हैं? हम नहीं जानते।

आज संसार में एक निरर्थक दौड़ है, जिसको हम डंके की चोट पर निरर्थक दौड़ कह सकते हैं। सब व्यस्त हैं। क्या आप शाम को अपने कारोबार से आकर यह विचार करते हैं कि आप क्या रहे हैं? आप क्यों कर रहे हैं? यह मात्र पांच मिनट, दस मिनट बैठकर विचार करें, तो आपकी थकावट दूर हो जाएगी। आपको अपनी निरर्थक दौड़ का भास हो जाएगा। कुछ लोग प्रश्न पूछते हैं, तो क्या सभी लोग कार्य

करना बन्द कर दे? मेरा अर्थ कार्य बंद करने से नहीं है, मेरा अर्थ है कि इस पर विचार करने से हमें कम से कम यह ज्ञात अवश्य हो जायेगा, कि जो हम कार्य कर रहे हैं, उसकी कोई आवश्यकता है अथवा नहीं। यदि उसकी आवश्यकता नहीं है केवल समय बिताने के लिये कार्य कर रहे हैं, तो उसकी निरर्थकता का भास हो जायेगा। हम कुछ अन्य कार्य ऐसा करेंगे, जो हमारे लिये सार्थक होंगे, निरर्थक नहीं। बहुत बड़े–बड़े बुद्धिजीवी और कर्मठ लोग भ्रमवश जिनको हम कर्मयोगी मान लेते हैं, उन्होंने भी अपना अधिकांश जीवन निरर्थकता में ही बिताया होता है।

आप इस विषय में कुछ व्यक्तियों का जीवन–चरित्र लेकर स्वयं ईमानदारी से विचार करें तो आपको मालूम चल जायेगा कि संसार भेड़–चाल चल रहा है। एक को जो हम संज्ञा देते हैं, दूसरा भी उसको वही संज्ञा दे देता है, जब दूसरा देता है तो बीस आदमी और दे देते हैं, जब बीस आदमी देते हैं, तो दो हज़ार दे देते हैं। इसी प्रकार वह व्यक्ति एक दिन कर्मयोगी अथवा कर्मठ कहलाने लगता है। वह क्या कर रहा था? उसने किया क्या? उसके किए का अन्त क्या हुआ? अर्थ क्या हुआ? यदि इस पर हम विचार करें, तो हमें मालूम चलेगा कि वह भी अपना निरर्थक जीवन बिता कर ही गया है। जिनको हम अकर्मण्य कहते हैं, वे कितने कर्मठ है, यह गहन चिन्तन से ही हमें मालूम चल सकता है।

इसको सरलीकरण करने के लिये मैं एक उदाहरण देता हूँ.– भगवान ने अति विशाल, विशालतम् महासृष्टि का निर्माण किया है। बहुत बड़ा सागर है, सागर में पलने वाले असंख्य जीव–जन्तु हैं, वनचर हैं, आकाशचर हैं, पृथ्वी में कितने प्रकार के जीव हैं। विशिष्ट जीवों के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता है वायु की, एक मिनट से ज्यादा अगर हमारा श्वास रुक जाए तो मृत्यु हो जाएगी, तो प्रभु ने पूरा ब्रह्माण्ड वायु से भर दिया है। द्वितीय आवश्यकता होती है हमें जल की, प्रचुर मात्रा में जल है संसार में, और फिर वनस्पतियों हैं खाने के लिए। यदि मनुष्य देह धारण करके हम अपनी जीविका–उपार्जन के लिये ही अपना जीवन व्यर्थ कर देते हैं, तो हम तो पशुओं से भी गये गुज़रे हैं क्योंकि पशु भी अपनी जीविका–उपार्जन के लिये कुछ कारोबार नहीं करते। जिस सृष्टि का प्रभु ने निर्माण किया है उसका पालन भी वही कर रहा है। यदि हम अपनी इस मनुष्य बुद्धि का प्रयोग अपना पेट पालने के लिये

ही लगा लें, तो क्या हमारे जीवन का यही लक्ष्य है ? कुछ लोग इतने धनाढ्य है कि उनको जीविका–उपार्जन के लिये धन कमाने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन फिर भी वे परोपकार की बजाय धन कमाने के लिये कार्य किये जा रहे हैं। क्या यही जीवन का अंत है? हम अपने–आपको व्यस्त समझते हैं, व्यस्तता का कारण क्या है? यह विचारने से हमें अपने जीवन में अपनी निरर्थक दौड़ का आभास हो जाएगा।

यदि हम कुछ समय निकाल कर विचार करें, कि हम कर क्या रहे हैं? अब उसी कृत्य को, उसी कार्य को यदि हम प्रभु की इच्छा मानकर करते हैं और अपना कुछ स्वार्थ नहीं साधते, तो वह कार्य हमारा, तय हो जाता है। वह कार्य हमें अगर देवत्व की ओर नहीं तो मनुष्यत्व की ओर जरूर प्रेरित करता है। संसार के बहुत लोग पशुवत् जीवन बिता रहे हैं। पशु संचय नहीं करते, उपार्जन नहीं करते, अर्जन नहीं करते, लेकिन हम मनुष्य बुद्धि को पाकर वे सब कुछ करते हैं, जिसकी आवश्यकता नहीं है। जन्म हुआ है, मृत्यु अवश्य होगी। हम सभी संसार में नंगे पैदा होते हैं, वस्त्रहीन, दिगम्बर और जब संसार से विदा होते हैं, तो यहाँ की एकत्रित समस्त चीज़ों को हम छोड़ जाते हैं। यह एक नग्न सत्य है, लेकिन इसके बावजूद भी सत्संग के अभाव के कारण हम कुछ न कुछ एकत्रित करते रहते हैं।

मृत्यु कोई कल्पना नहीं है। यदि हम दस मिनट, बीस मिनट उस मृत्यु देवी का ही चिंतन करें, उसी का ध्यान करें, कम से कम उस परमसत्य का जिसका आज नहीं तो कल, कल नहीं तो कुछ वर्ष पश्चात कभी हमको सामना करना ही है। मृत्यु की कल्पना कोई कल्पना नहीं है। कल्पना वह होती है जिसका आधार नहीं होता, लेकिन यह तो सत्य है और यदि उस सत्य का प्रतिदिन दिग्दर्शन कर लें, तो हमारे कई मानसिक क्लेश व झगड़े समाप्त हो जायेगें और जीवन एक अति आनन्दमय गति में, आनन्दमय परिस्थिति में हो जायेगा। **दृष्टा आनन्दमय, दृश्य आनन्दमय, सब आनन्दमय हो जायेगा, चिंताओं से रहित हो जाएंगे हम।**

ईश्वरीय सत्ता का परिवर्तन आनंदमय होता है, आनन्द में शुरु होता है और आनन्द में ही खत्म होता है। जिस दिन हमें यह रहस्य पल्ले पड़ जाएगा, हमारे मनन में आ जायेगा, उस दिन से हमारे जीवन की प्रत्येक प्रक्रिया कुछ भी हो, वे इन तीनों आनन्दों में विचरने लगेगी। **क्रिया का आदि आनंद में, मध्य आनंद में**

और अंत आनन्द में।

लोग पूछते हैं कि हम यह ध्यान, यह पूजा–पाठ, यह सत्संग, यह संतों का संग, क्यों करते हैं? क्या यह समय का दुरुपयोग नहीं है, नहीं। हम उस सत्य को पाने के लिये, उस सत्य के नित्याध्यासन के लिये, मनन के लिये, चिंतन के लिये व उस सत्य को स्वयं में समाहित करने के लिये यह करते हैं, ताकि जब जीवन का अंत होने लगे, जब हमारी इन्द्रियों शिथिल होने लगें, जब यह देह हमें छोड़ने लगे, यह संसार हमें छोड़ने लगे, तो अपने स्वरूप की वास्तविक स्थिति का आनन्द हमें आने लगे। जब हम अपने वास्तविक सच्चिदानन्द स्वरूप का हर रोज़ चिन्तन करते हैं, दिग्दर्शन करते हैं, आभास करते हैं, मनन करते हैं, तप करते हैं उसको पाने के लिए, तो इन परिवर्तनों का हमको वास्तविक अर्थ मालूम चल जाता है। तो ईश्वरीय परिवर्तनों की तरह ही हम अपने जीवन के परिवर्तनों को आनन्द के लिये नहीं बल्कि आनंद में मानने लगते हैं।

हमारे जीवन की प्रत्येक विधा हमें आनन्द का ही भास करवाती है। इस प्रकार जीवन आनन्द में बीतने लगता है। आनन्द के लिये अगर हम जीवन बिताना चाहते हैं, तो वह आनन्द हमको कभी नहीं मिलेगा। ईश्वरीय परिवर्तन का भाव यदि हम अपने जीवन में समाहित कर लें और प्रत्येक परिवर्तन को ईश्वरीय मानकर चलें, तो उसमें दोहरा आनन्द हो जायेगा। एक तो हमारी प्रत्येक प्रक्रिया हमको संतुष्टि देगी क्योंकि उसके साथ ईश्वरीय सत्ता का समन्वय हो जाएगा और दूसरा हमारा जीवन आनंद में बीतेगा, आनन्द के लिये नहीं। यदि हम आनंद के लिये जीवन बिताना चाहेंगे, तो वह आनन्द कभी हमारी पकड़ में नहीं आयेगा, क्योंकि प्रत्येक परिवर्तन ही आनंद से शुरू होता है और आनन्दमय होता है।

आपने अनुभव किया होगा कि जब हम कभी किसी आनंदमय परिस्थिति में होते हैं, तो समय बहुत जल्दी बीतता सा प्रतीत होता है। घण्टों बीत जाते हैं परन्तु ऐसा लगता है कि कुछ मिनट ही बीते हैं। जब हम किसी कष्टमय स्थिति में होते हैं, तो थोड़ा सा समय भी हमको बहुत लगने लगता है। क्या आपने कभी विचार किया है कि ऐसा क्यों होता है? इसका आधार क्या है? किसी रोगी को पेट दर्द है और हम चिकित्सक उसको सुई लगा देते हैं और कहते हैं कि दस मिनट में यह दर्द ठीक हो

जायेगा। वह दस मिनट में पचास बार घड़ी देखता है, कि दस मिनट कब बीतेगें? इस रहस्य को समझने की कोशिश करिए। वह अपने भूतकाल में जाना चाहता है, अपनी उस अवस्था में जाना चाहता है, जब उसको दर्द नहीं था। वह रोगी अपने उस दर्द रहित सामान्य व्यक्तित्व में जाना चाहता है, जो बीता हुआ समय है, लेकिन कालचक्र बढ़ रहा है, समय आगे बढ़ रहा है, आगे बढ़ते हुए समय को, वह अपने भूतकाल की ओर खींचना चाहता है। मैं एक बार फिर इसका वर्णन कर रहा हूँ, कि मरीज को चिकित्सक ने दस मिनट का समय दिया कि दस मिनट में तुम्हारा दर्द ठीक हो जायेगा।

वह रोगी अपने सामान्य रूप में जबकि उसको दर्द नहीं था अर्थात् जो उसका भूतकाल था, उसमें जाना चाहता है और समय भविष्य की ओर बढ़ रहा है, इस बात को आप अब तक समझ गये होंगे। जब दो गाड़ियाँ विपरीत दिशा में जा रही होती हैं तो एक दूसरे की अपेक्षा उनकी गति जुड़ जाती है। एक गाड़ी 20 किलोमीटर प्रति घंटा और दूसरी 30 किलोमीटर प्रति घंटा की रफ्तार से यदि विपरीत दिशाओं की तरफ जा रही है तो उन दोनों की सापेक्षिक गति जुड़ जायेगी व 50 किलोमीटर प्रति घंटा हो जायेगी। इस बात पर आप बार–बार मनन करें, तो यह रहस्य आपको समझ में आ जायेगा, कि वह मरीज अपने भूतकाल में जाना चाहता है और समय उसको भविष्य की ओर ले जा रहा है, तो भूत और भविष्य के समय में टकराव हो जाता है, विपरीत दिशाओं में चल रहे हैं दोनों। इसलिये वह समय बहुत लम्बा हो जाता है। दूसरे, जब हम किसी आनन्दमय स्थिति में होते हैं, तो हम समय को वर्तमान में बाँधना चाहते हैं, लेकिन समय भविष्य की तरफ चल रहा है। कोई गाड़ी या कोई व्यक्ति आगे बढ़ रहा हो और हम उसे पीछे खींचना चाहें तो उसकी गति में कमी आ जायेगी। समय भविष्य की ओर बढ़ रहा है, हम उसे वर्तमान में रोकना चाहते हैं, तो बहुत लम्बा समय हमको छोटा लगने लगता है, तो यह रहस्य है। समय परिवर्तन भी एक हमारा, भास मात्र है।

समय की गणना हमारी मानसिक स्थिति है। समय का अपने आपमें कोई महात्म्य नहीं है। समय का लम्बा होना, छोटा होना, जल्दी बीतना और बहुत देर में बीतना, यह हमारी मानसिक स्थितियाँ हैं, जिसका आधार है हमारी स्थिर स्थिति। हम

समय को पीछे खींचना चाह रहे हैं या भूतकाल में ले जाना चाह रहे हैं, लेकिन जब हम समय के साथ चलते हैं, तो समय की सामान्य गति का भास होता है। समय की गणना भी एक सापेक्षिक है, वे भी परिवर्तनीय है, यह हमारे प्रतिदिन का अनुभव है कि हम कहते हैं कि वह दस मिनट भी हमें ऐसे लगे जैसे दो घंटे बीते हों। कभी हम कहते हैं कि समय इतनी जल्दी समाप्त हो गया। यह प्रतिदिन के अनुभव की बातें है। यदि हम इस पर विचार करेंगे, तो हमें मालूम चल जाएगा कि समय भी सापेक्षिक है। जब हमारा जीवन अति द्रुत गति से बीतने लगता है, अति आनंदमय बीतने लगता है तो हमारी आयु से अक्सर लोग भ्रमित हो जाते हैं।

जिस व्यक्ति की देह में कोई विशेष परिवर्तन न आये जो सामान्य तौर से आप आशा करते हैं, तो समझिए उस व्यक्ति का समय बहुत आनन्दमय बीत रहा है। यह एक रहस्य है यदि इसको पकड़ लिया जाये तो बहुत अच्छा स्वास्थ्य बनाए रखा जा सकता है। जब किसी की परिस्थितियों खराब हो जाती है, उसका समय बड़ा कष्टपूर्ण हो जाता है, तो जीवन के एक–दो वर्ष, उसको पाँच–दस वर्ष की तरह लगने लगते हैं। उस व्यक्ति में बहुत जल्दी ही बुढ़ापे का पदार्पण होने लगता है, क्योंकि मानने में वह एक वर्ष हैं लेकिन उस व्यक्ति के लिये वह एक वर्ष कैसे बीता है? यदि वे पाँच वर्ष के बराबर बीता है, तो उस एक वर्ष में उसकी देह में पाँच वर्ष के बराबर परिवर्तन अवश्य आ जाएगे और यदि वह आनन्दमय जीवन बिता रहा है, तो उसके दस वर्ष भी एक वर्ष जैसे ही लगेगें। दस वर्ष बाद भी उस व्यक्ति को आप देखेंगे, तो वो वैसे का वैसा ही नज़र आएगा। इन प्राकृतिक रहस्यों का हम अपने जीवन में सदुपयोग कर सकते हैं, अपने जीवन की सुन्दरता को बढ़ाने के लिये, दीर्घायु के लिये।

परिवर्तन आनन्द के लिये है या परिवर्तन आनन्दमय है? **यदि परिवर्तन आनन्दमय है तो वह ईश्वरीय है। यदि परिवर्तन आनन्द के लिये है तो वह जीवीय है।** ईश्वर ने आनन्द में अपनी विभिन्न विधाओं को प्रगट किया है। ब्रह्मा आनंद में, विष्णु आनंद में, महेश आनंद में, तीनों आनन्द में। जीव–कोटि में आकर जब हमारी प्रत्येक प्रकिया आनंदमय होती है, आनन्द में शुरु होती है और आनन्द में समाप्त होती है तो वह ईश्वरीय प्रक्रिया बन जाती है और हमारा जीवन

आनन्दमय बन जाता है। बहुत समय जीवन का बीतने के बाद भी हमारी देह में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आते। क्योंकि यह जो वर्षों, महीनों व दिनों में जीवन की आयु हम नापते हैं किसी की, यह वास्तविक नहीं है। उस व्यक्ति की मानसिक आयु क्या है, वही उसकी आयु है। जिसको जीवन के क्षण बहुत लम्बे नज़र आते हैं तो वे कष्टमय स्थिति में है। वह बहुत जल्दी बूढ़ा हो जाता है और जब वह आनंदमय समय बिताता है, तो उसका जीवन बहुत वर्ष बीतने के बाद भी वैसा का वैसा ही रहता है। इस विषय का जितना भी हम विस्तार करें, जितना भी बढ़ाये, जितना भी गहन विचार करें और अपने वास्तविक जीवन में इसको उतारें तो हमें अपने जीवन को सुन्दर, सफल और आनंदमय बिताने में बहुत सहायता मिलेगी

जीवन की प्रत्येक प्रक्रिया यदि आनंद में अन्त होती है, तो वह ईश्वरीय है और यदि आनंद रहित होती है तो वह जीवीय है। यदि हम दिव्य जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, तो हमारे जीवन की प्रत्येक प्रक्रिया आनंदमय होनी चाहिये। जहाँ तक जीवन की आवश्यकताओं का प्रश्न है, हमारी प्रत्येक आवश्यकता ईश्वर ने हमारे जन्म से पहले ही परिपूर्ण कर रखी है। क्या इस हवा को हमने निर्मित किया है? क्या इस जल को हमने बनाया है? यह वनस्पतियाँ, यह वन, यह समुद्र, यह खनिज क्या मनुष्य ने उत्पन्न किए हैं? क्या मनुष्य देह मनुष्य ने उत्पन्न की है? एक छोटी सी कोशिका से विशाल छः सिस्टम, जिनके विभिन्न, विचित्र और अलग–अलग कार्य हैं, निर्मित हो जाते हैं। हम त्वचा का एक छोटा सा हिस्सा भी नहीं बना सकते। हम एक बाल का निर्माण भी नहीं कर सकते। नाखून का निर्माण नहीं कर सकते। इतनी विशाल देह, इतनी विचित्र देह, अपने में परिपूर्ण। तो इस ईश्वरीय सृष्टि में सब कुछ आनन्दमय बना है और यह परिवर्तन भी आनंदमय है।

प्रश्न यह उठता है कि इस परिवर्तन के बारे में विचार करने से हमें अपने व्यवहारिक जगत और अपने जीवन में लाभ क्या होता है? अधिकतर परिवर्तन हमारी कल्पना से परे होते हैं। न जाने किस समय क्या हमारे सन्मुख आ जाये? जीवन किस समय क्या मोड़ ले? क्या घटना किस समय हमें प्रेरित करे? कौन हमें कब मिल जाये, कब बिछुड़ जाये? हम उन घटनाओं का अनुमान नहीं लगा पाते पर जीवन में कुछ महापरिवर्तन हो जाते हैं जिनसे हम आँख नहीं चुरा सकते। उदाहरण

के लिए, यदि जन्म है तो मृत्यु अवश्य है। जो एक परिवर्तन हमारे सम्मुख आना ही है, इसको कल्पना नहीं कहूँगा मैं। **उस मृत्यु पर यदि हम विचार करें तो उस पर विचार करने से कितनी अद्‌भुत शान्ति मिलती है जीवन में! हमारा रजोगुण और हमारी तामसिक प्रवृत्तियाँ कुछ देर के लिये शान्त हो जाती हैं, सत्व बढ़ता है, सुख और शान्ति मिलती है।**

मृत्यु एक ऐसा परिवर्तन है जो अवश्यम्भावी है और अक्सर मनुष्य इससे आँख चुराता है। कुछ माया का ऐसा विशाल पर्दा पड़ा हुआ है। बुद्धि के आगे कि हम सोचते हैं कि सारा संसार भले ही मर जायेगा, लेकिन मैं नहीं मरूँगा। उस होड़ में, उस जीवन की एक परिकल्पना में हम कितना कुछ संग्रह करने में, एकत्रित करने में, कितनी लड़ाई–झगड़ों में, विवादों में हम पड़ जाते हैं। कभी नाम के लिये हम निरर्थक अपना बहुमूल्य समय व्यर्थ कर देते हैं, एक निरर्थक दौड़ जिसका मैं पहले वर्णन कर चुका हूँ। मैं जीवन में खेलने के विरुद्ध नहीं हूँ लेकिन उस खेल में भी कुछ सार्थकता हो, खेल आनन्द के लिए हो, भय के लिए नहीं, विक्षेप के लिए नहीं। यदि हम धन कमा रहे हैं, धन एकत्रित कर रहे हैं तो हमें उसका ज्ञान होना चाहिये कि हम कितना चाहते हैं? यदि हम भवन बना रहे हैं, सम्पत्ति इकट्ठी कर रहे हैं तो हमें यह मालूम होना चाहिये कि हमें कितनी चाहिये? इस महापरिवर्तन जिसका नाम मृत्यु है, यदि आप बन्द कमरे में बैठकर केवल दस मिनट इस का ध्यान करें प्रतिदिन, तो हमें अपनी सीमाओं का ज्ञान हो जाएगा।

उसके बाद यह सांसारिक खेल हमें बहुत सुन्दर लगेंगे, बहुत सुन्दर। हम निरर्थक दौड़ से बच जाएंगे और यदि हमें दौड़ने की क्षमता ईश्वर ने दी है तो उसका सदुपयोग हम परोपकार में कर सकते हैं। हम निरर्थक संग्रह से बच जाएंगे, क्योंकि यह आवश्यक है कि एक दिन हमें यह देह और दुनिया, प्रत्येक सांसारिक वस्तु अवश्य छोड़ देगी। तो इस प्रकरण से जो हमारे शास्त्रों में लय–योग के नाम से वर्णित है, हम यह मात्र कल्पना ही नहीं करते कि हमारी मृत्यु होगी, बल्कि क्षण भर के लिये सोचें, यह धारण करें कि हम मृतक हो गये हैं। यदि इस मानसिक स्थिति में हम थोड़ी देर अपने आपको रखें तो उसके बाद हमारी वृत्तियाँ नितान्त शान्त हो जाती हैं। भीतर से एक अद्‌भुत आनन्द जागृत होता है जिसको शास्त्र ने कहा है

अभावमय आनन्द। अभावमय आनन्द–उस स्थिति में कुछ भी नहीं होता, न स्त्री, न संतान, न पद, न धन, न सम्पत्ति बल्कि कभी–कभी तो देह का आभास तक नहीं होता, लेकिन आनंद होता है और वही आनंद जीव का अपना स्वरूप है–आनन्दस्वरूप। सच पूछिए, तो जितनी सांसारिक वस्तुएँ हैं यह हमारे वास्तविक आनन्द दे बाधा है।

अतः हम नित्य अपने उस मृत्यु नामक महापरिवर्तन को जो किसी भी समय हमारे सम्मुख आ सकता है, उस पर अवश्य विचार करें। यह कल्पना नहीं बल्कि यह सार्थक विचार है। आप कभी ध्यान–मग्न होकर देखिये स्वयं को, अपने आपको अध्ययन करिए, तो आपको मालूम चलेगा अधिकतर हमारी विचार श्रृंखला निरर्थक होती है। कुछ सार्थक विचार होते हैं और कुछ महासार्थक। मृत्यु के बारे में विचार एक महासार्थक विचार हैं, सत्य विचार हैं, यह कोई परिकल्पना नहीं है। जिसका जन्म है, उसकी मृत्यु होगी और उस नितान्त शान्त सत्य का यदि हम प्रतिदिन दिग्दर्शन करें तो हम बहुत बड़ी थकावट से और निरर्थक दौड़ से अवश्य बच जाएंगे। हम शिथिल हो जाते हैं, हमारी देह, हमारे मस्तिष्क की तन्त्रिकाएं पुनः सशक्त हो जाती हैं और हम मुदिता–पूर्वक, प्रसन्नता–पूर्वक, हर्ष और उल्लास से जीवन व्यतीत करते हैं।

सबसे बड़ी उपलब्धि उस विचार में यह होती है, कि जो संसारी पदार्थ, संसारी संग्रह, सांसारिक वस्तुएं हमारे मन–मस्तिष्क में एक तनाव पैदा करती हैं, भय पैदा करती हैं, तो हमारा भय तुरन्त दूर हो जाता है। जिस प्रकार कि चिकित्सा विज्ञान में, आपने सुना होगा, कि हम किसी रोग के विरुद्ध जब किसी रोगी को वैक्सिनेट करते हैं, तो उस रोग के जीवित अथवा अर्द्धजीवित जीवाणु उस मनुष्य की देह में प्रवेश करा देते हैं। उन जीवाणु के देह में प्रवेश करने के बाद उस व्यक्ति की जो प्रतिरोधक क्षमता है, रक्षा यन्त्र–रचना है शरीर की, उसको उन जीवाणुओं से लड़ने की आदत पड़ जाती है, लड़ने की क्षमता बढ़ जाती है। यदि भविष्य में वास्तव में वह बीमारी उत्पन्न हो जाये या तो वह अपना प्रभाव नहीं दिखा पाती या बहुत कम प्रभावित करती है। किसी व्यक्ति को हमने एक आने वाली बीमारी के विरुद्ध तैयार किया है जिसको हम कहते है वैक्सिनेशन। इसी प्रकार जब कोई महापरिवर्तन हमारे

सामने आना ही है तो क्या हम उसके लिये अपने–आपको मानसिक वैक्सिनेशन नहीं दे सकते? इस महापरिवर्तन के बारे में विचार करना, प्रतिदिन अपने आपको वैक्सिनेट करने के बराबर है। हम सत्य कह रहे हैं, अपने अनुभव की बात कह रहे हैं। उससे एक समय ऐसा आता है, कि हमारा आंतरिक जगत इतना सशक्त हो जाता है कि हमारे हृदय से मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। संग्रह वृत्ति समाप्त हो जाती है। संसार की कोई वस्तु हमारे मन को, बुद्धि को प्रभावित नहीं कर सकती।

वह अवस्था ऐसी है कि जब हमसे की प्रत्येक वस्तु का, प्रत्येक स्थिति का और जीवन के प्रत्येक मोड़ का, जीत का, हार का और प्रत्येक परिवर्तन का भरपूर आनन्द ले सकते हैं। ऐसा लगता है यह महाकालचक्र जिसका नाम है जीवन, हमें केवल आनन्दित करने के लिए है। एक ऐसी सत्ता है मनुष्य के ऊपर जिसने जीवन का प्रत्येक परिवर्तन देखा है और स्वयं परिवर्तित नही होती, वही सत्ता हमारा सच्चिदानंद स्वरूप, हमारा ईश्वरीय स्वरूप है जो हमारे भीतर है। प्रत्येक जीव अपने में ईश्वर है, अपने उस ईश्वर को देखने के लिये, आभास करने के लिये हमको कहीं भी भटकने की आवश्यकता नहीं है–

दिल के आईने में है तेरी तस्वीरे यार,
जब ज़रा गर्दन झुकाई देख ली।

।। जय जय श्री राम।।

जन्म–मृत्यु रहस्य व युग

ईश्वर जो सच्चिदानन्द है, जो सत, चेतन व आनन्द है, उसकी निर्मित सृष्टि में जन्म–मरण का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होना चाहिये। क्या हम जन्म और मृत्यु की अवधारणा में भ्रमित तो नहीं हैं? यह कुछ विस्मित कर देने वाला विषय है। अगर हम अति स्थिर मन से, अति गंभीरता से विचार करें–हमारा सम्पूर्ण जगत हमारी मान्यताओं पर आधारित है। हमने जब होश संभाला, हमारे लिये उसी समय हमारे जगत का निर्माण हुआ है। हमने स्वयं को सदैव चेतन ही चेतन, जागृत ही जागृत पाया है। **न किसी ने अपना जन्म देखा है, न किसी ने अपनी मृत्यु। हम लोगों की मृत्यु देखते हैं, लोगों का जन्म देखते हैं, क्योंकि जन्म और मृत्यु की एक अवधारणा जन्म–जन्मान्तरों से हमारे अन्दर बन गई है। यदि जन्म हुआ है तो मृत्यु होगी। जन्म और मृत्यु एक हमारी कल्पना ही तो है।** इसी प्रकार यदि हम प्रत्येक व्यक्ति से पूछें, तो प्रत्येक व्यक्ति के लिये उसका जन्म और उसकी मृत्यु मात्र कल्पना है। अगर शिशु का जन्म उसकी माँ ने देखा, तो माँ ने क्या अपना जन्म देखा है? उसने अपने जन्म की जो कल्पना की है, वही उस शिशु के जन्म की अवधारणा में कहीं साकार तो नहीं कर रही है? बहुत गहन विषय है, जिसने स्वयं अपने जन्म की कल्पना की है तो क्या किसी अन्य जीव में, अपनी कल्पना रूपी वृत्ति को प्रकट तो नहीं कर रही है?

अब आप सुबह से शाम तक के अपने कार्यक्रम को ही ले लीजिये–हमने स्वयं को सदा जागृत ही देखा है, सुबह उठते हैं हम, निद्रा खुल जाती है। हमने सोता हुआ तो नहीं देखा अपने आपको। दिन में हम जितना भी व्यवहार करते हैं वह जागृत अवस्था में करते हैं। हम मूर्च्छित हो, हम अवचेतन हो या सोए हुए हो, हमारे लिये ये स्थितियाँ मात्र एक कल्पना है या हम कल्पना लोक में तो नहीं विचर रहे हैं? निस्सन्देह, कोई कहता है रात में उसे स्वप्न आया, उस समय तो वह सो ही रहा होगा, तभी उसे स्वप्न आया। यदि हम उससे पूछें कि स्वप्न में तो वह सो नहीं रहा था? स्वयं में जो उसने कार्यक्रम या व्यवहार किया वह जागृत था। उस समय भी जो सोने की परिकल्पना की है उसने, वह भी जब वह स्वप्न का वर्णन कर रहा है तभी की उसने। तो **जो सोया है वही जागेगा, जो जागा है वही सोएगा, जो**

जागृत ही है, उसके सोने का अर्थ क्या है?

इसी प्रकार यह जो चार युग बने हैं सतयुग, त्रेता–युग, द्वापर–युग और कलयुग, क्या यह हमारी मात्र अवधारणा तो नहीं है? प्रश्न यह उठता है कि हमारे ऊपर उस समय जागृति में क्या युग बीत रहा है? वास्तव मैं उसी युग में हम पैदा हुए है। इतने वर्ष में कलिकाल खत्म होगा, फिर सतयुग आयेगा, इतने वर्ष वह रहेगा, फिर त्रेता आयेगा, त्रेता इतने लाख वर्ष का है फिर द्वापर आयेगा, फिर प्रलय होगी, क्या मात्र यह सब कुछ हमारी कल्पना नहीं है? बहुत गहन विषय है। **इस समय मैं किस मानसिक युग में विचर रहा हूँ, मेरा वही युग है, वही युग है मेरे लिए।** हर व्यक्ति का एक भूतकाल होता है, एक भविष्य काल होता है। हर व्यक्ति भूतकाल के बारे में, एक इतिहास के बारे में एक विशेष रुचि रखता है। हर व्यक्ति की रुचि का एक विशेष इतिहास होता है, जिसको वह बीता हुआ समय कहता है, क्या वह उसका अपना ही जीवन नहीं था?

उदाहरण के तौर पर किसी को इतिहास में विशेष राजे–महाराजाओं की घटनाओं में रुचि होती है, तो क्या वे घटनाएं जिनका वह वर्णन करता है, उसी के किसी अतीत से तो सम्बन्धित नहीं है? कुछ व्यक्तियों को आप इतिहास के बारे में पूछें, तो कुछ क्रान्ति के बारे में बोलेंगे, कुछ विशिष्ट समाज के बारे में बोलेंगे, कुछ किसी अन्य चीज़ के बारे में बोलेंगे। आप इतिहास भी छोड़ो, आप किसी से उसके बीते हुए जीवन के बारे में पूछें, तो कुछ लोग अपने बीते हुए जीवन की निर्धनता की व दुःख की घटना का ही बयान करेंगे। कुछ अपनी कायरता का बयान करेंगे कि, "मैं ऐसे–ऐसे यूँ डरा था, ऐसे मैं भयभीत हुआ था।" किसी को, जब से उसने होश संभाली है, उसके बारे में पूछिए तो वह अपने बीते हुए जीवन की कुछ सुखद घटनाओं का, आनन्दित घटनाओं का वर्णन करेगा। अन्य, कोई वीरता की, कोई शौर्य की, कोई पराक्रम की, कोई हीनता और दीनता की, इस प्रकार कोई ऐश्वर्य की, कोई सौन्दर्य की घटनाओं का वर्णन करेगा।

आप उस व्यक्ति की मूल घटनाओं पर एकाग्र करिये। उन घटनाओं से उसके अंदर के व्यक्तित्व का मालूम चल जायेगा और वे घटनाएं जिस काल में उचित ठहरती हैं, उससे आपको उस व्यक्ति के विशिष्ट मानसिक काल अथवा युग का

ज्ञान हो जायेगा। मान लीजिये कि जीवन की किसी ऐसी परिस्थिति में आप काफी वर्षों तक रहे, जिसमें अत्यंत निकृष्ट जीवन, गरीबी, दुःख, कष्ट व रोग आपने भोगा हो और बहुत प्रदूषित और दुर्गन्धित वातावरण में, दुर्गन्धित लोगों के साथ और निकृष्ट कार्य करते हुए बिताया हो। अब उसके विपरीत आप बहुत सुगन्धित, सौन्दर्यमय, ऐश्वर्यमय, ख्यातिवान एवं स्वस्थ जीवन बिता रहे हैं, तो क्या आपका युग नहीं बदल गया? इस घटना में जो आपका अतीत था, उस समय आप कलिकाल में थे, कलियुग में थे। अब आप सतयुग में हैं।

बीते हुए समय की भी बात छोड़िए, आप अपने जीवन के किसी एक ही दिन की विभिन्न परिस्थितियों को ले लीजिये, इसमें कोई समय ऐसा आता है कभी–कभी, कि आप बहुत प्रदूषित वातावरण में, स्वयं को प्रदूषित विचारों में और प्रदूषित कृत्यों में पाते हैं और एक समय ऐसा होता है कि आप बहुत सम्मानित सज्जन पुरुषों के बीच में बैठे हुए हैं और ब्रह्मचिंतन कर रहे होते हैं। बहुत सुगंधित देवमय वातावरण होता है; भोजन– सुगंधित, जल–सुगधित, वायु–सुगधित और शांत–मुदा में, आनन्दमय स्थिति में होते हैं। तो क्या एक ही दिन में, आप सतयुग में प्रवेश तो नहीं कर गये? **सतयुग, कलयुग, द्वापर, क्रेता यह आपकी जागृति में ही है, सुषुप्ति में कुछ नहीं है।** अगर हमने अपने पूर्व जन्म का अनुमान लगाना है, तो अपने इस जन्म के विशेष व्यक्तित्व को देखकर लगा सकते हैं।

जीव की दौड़ आनन्द की ओर है। कुछ लोग झुग्गी–झोपड़ियों में, गंदे नाले के पास, गन्दे वातावरण में रहते हैं। यदि कोई स्वच्छ प्रकृति का आदमी वहाँ जाकर उनको देखे तो नाक पर कपड़ा रख लेगा, उसको आश्चर्य होगा देखकर कि लोग यहाँ जीवन कैसे जी रहे है? वहाँ यदि हम प्रत्येक व्यक्ति से वार्तालाप करें, तो हम देखेंगे कि बहुत से लोगों को यह ज्ञात ही नहीं कि वे दुर्गन्ध में हैं। जिनको दुर्गन्ध से कष्ट होने लगता है, वे अपना रास्ता बनाने की कोशिश करते हैं, उस वातावरण से निकलने का प्रयत्न करते हैं और अगर उनमें क्षमता होती है, तो वातावरण बदल जाता है। जब वे शुद्ध वातावरण में रहने लगते हैं, तो कभी अपने उस पहले वातावरण में जाकर देखें, तो उनके लिए यह विचारणीय हो जाता है कि हम यहाँ रह कैसे रहे थे? व्यक्ति वही है लेकिन उसकी वृत्तियाँ बदलने के कारण, उसी व्यक्ति में

एक नया व्यक्तित्व पैदा हो जाता है, जो कि पहले वाले वातावरण में रहने वाले, उसी व्यक्ति के उस व्यक्तित्व को पसन्द नहीं करता। यदि इसको हम युग परिवर्तन कह दें तो यह भी अनुचित नहीं है, इसमें कोई त्रुटि नहीं है। यह बड़ा गंभीरतम् विषय है, गंभीरतम् विषयों में से एक तत्व है, इसे युग–युगान्तर विषय कहते हैं।

अगर इसमें हम बहुत विचारणीय दृष्टिकोण से, अति–स्थिर मन से इस पर विचार करें, तो यह चारों युग हमारी मानसिक स्थितियाँ हैं, जो सिर्फ जागृति में हुई हैं, हमारी जागृति में। यदि वे हमारी जागृति में नहीं हुईं, तो हमारे लिये उस युग का कोई अस्तित्व ही नहीं है। जिस प्रकार कि रात की निद्रा हमारी एक कल्पना है क्योंकि किसी ने स्वयं को सोते हुए नहीं देखा। हमारी मृत्यु होती है, फिर जन्म होता है, उसके बीच जो अन्तराल है, वह भी हमारी कल्पना है। वह कितना अन्तराल था किसने देखा है? मान लो किसी ने देखा भी हो लेकिन हमने तो नहीं देखा। अगर हम कहें कि वह अन्तराल था ही नहीं, जीवन एक सतत् क्रम है, सत्य यही है। **जीवन कभी समाप्त नहीं होता, जीव जन्म व मृत्यु से रहित है।।**

जीवन कभी भी समाप्त नहीं होता अगर जीवन समाप्त हो तो जगत भी ईश्वर निर्मित नहीं हो सकता। जो सच्चिदानन्द है स्वयं, इसके महा–मस्तिष्क में जन्म और मृत्यु का विचार ही कहाँ से आया? सब सत्य है, लोग कहते हैं संसार झूठा है। झूठा कुछ भी नहीं है, सब सत्य है। जिसे हम झूठ कहते हैं, झूठ का आधार भी तो सत्य होना चाहिए। जिस चीज़ का आधार सत्य है, वह झूठ हो ही नहीं सकता। हमारी देह सत्य है, हमारे सगे–सम्बन्धी सत्य हैं, तो **यदि हम कुछ देर के लिए दृढ़ संकल्प कर लें कि कपोल–कल्पना के संसार में हमे नहीं विचरना है। ये जो हम देख रहे हैं, हमें जो भास रहा है, सब सत्य है तो आप चारों युगों का अनुमान अपने एक ही दिन में लगा सकते हैं।** मृत्यु और पुर्नजन्म के बीच के अन्तराल का अनुमान रात्रि के शयन से लगा लीजिये। सोने से तुरन्त पहले, यदि हम विचार करें कि कुछ देर में निद्रा आने के बाद क्या होगा? उस ख्याल से हमको सोने से भय लगने लग जाता है, मानो सारा संसार हमसे छूट रहा हो। शायद यही मृत्यु का भय है। कहा है, **'ईश्वर अंश जीव अविनाशी', अविनाशी है यह जीव, नाश होता ही नहीं है इसका, मृत्यु मात्र कल्पना**

है।

यदि जीव को यह ज्ञान हो जाये कि वह मृत्यु से परे है, वह सदा जागृत है, सदा चेतन है, मृत्यु एक कपोल–कल्पना है तो इस धारणा से उसको मृत्यु का भय हट जाएगा। हमसे सब कुछ छूट जाता है जब हम सो जाते हैं। आपने सोया हुआ देखा नहीं है, अपने आपको। उस समय आपकी देह नहीं होती, आपकी दुनिया नहीं होती, क्योंकि वहाँ आप नहीं होते। विचार करके देखिये क्यों नहीं होती, क्योंकि आप नहीं होते। यह जो सारा संसार निर्मित था, वह आपकी देह के कारण था, मेरा यह, मेरा वो। आप कल्पना करिए कि आपने हीरो का हार पहना हुआ है, जिसे आप बार–बार देखती हैं कि किसी ने उतार तो नहीं लिया? सोते समय उसको पास में उतार कर रख लें और कोई उसको उठाकर ले जाये, आपको उसका ख्याल उसी समय आयेगा जब आप जागृत होगी, क्योंकि जिसका हार था, वह थी आपकी देह, जिसका प्रगटीकरण जागृति में ही होता है। **आपमें जब जागृति होती है उसे हम अगला दिन कहते हैं। जब हम जागृत होते हैं तो वह हमारी नई देह का जन्म होता है, इसे कहा है नित–नूतन।**

जीवन एक अविरल धारा है जिसमें शयन या मृत्यु मात्र कल्पना है। आज तक किसी ने अपना जन्म अथवा अपनी मृत्यु नहीं देखी। आज तक किसी ने अपना शयन नहीं देखा। जब भी हम अपने आपको, स्वयं को देखते हैं, हम जागृत ही होते हैं। उदाहरण के लिये यदि कभी हम चार घन्टे की मूर्च्छा के बाद उठें तो हम कहते है, ''चार घण्टे मुझे होश ही नहीं थी।' तो कोई पूछे आप 4 घटे कहाँ रहे? हम बोलेंगे, ''हमें क्या मालूम?' वास्तव में हम कभी मूर्च्छित हुये ही नहीं। हम तो सदा जागृत ही हैं। जब हमें अस्पताल में कोई आप्रेशन करना होता है, हमें किसी का पैर काटना है तो जागृत अवस्था में तो मरीज हाथ ही नहीं लगाने देगा। एन्सथीसिया जब दे दिया जाता है, तो उसके बाद देह का कुछ भी कर लो। जो देह का स्वामी है, जिसकी देह है वह प्रतिरोध इसलिये नहीं करता, क्योंकि उस समय उसकी देह ही नहीं होती। एन्सथीसिया से जो देह की अवधारणा है, वह समाप्त हो जाती है।

देह हमारी धारणा है, हमारी धारणा। हमारी मान्यता है देह। हम जब सुषुप्ति में चले जाते हैं, तो देह के प्रति हमारी मान्यता समाप्त हो जाती है। लेकिन जब हम

जागृति में होते हैं, जब हम देह के साथ होते हैं जागृत स्थिति में, वह हमारे साथ होती है। देह हमारी मान्यता है और हम स्वयं को जब भी देखते है, हम अपने साथ देह को पाते हैं।

शयन और समाधि में क्या अन्तर है? केवल तुरीय अवस्था, महासमाधि अवस्था ऐसी है, जब हम अपनी देह को स्वयं से परे देखते हैं। उस समय हम स्वयं चेतन होते हैं, चेतनता में हम देह को परे देखते हैं लेकिन सुषुप्ति में ऐसा नहीं होता। सुषुप्ति में जब हम स्वप्न भी देखते हैं, उसी स्वप्न–जगत में खो जाते हैं। सुषुप्ति में हमें यह भास नहीं होता, कि हम सोये हुए हैं। समाधि में यह भास रहता है कि इस देह को मैं धारण करने वाला हूँ, मैं देह से कुछ अलग सत्ता हूँ, बस यह अन्तर है। सुषुप्ति में यह ज्ञात नहीं होता, कि मैं सोया हुआ हूँ, मैं देह से अलग हूँ, लेकिन समाधि में और तुरीय अवस्था में तो आप अपनी देह को स्वयं से अलग देख सकते हैं, लेकिन आपकी चेतना कायम होती है। सुषुप्ति में ऐसा नहीं होता। वह एक अज्ञान की स्थिति है।

समाधि में, वास्तव में हम अपनी महा–सुषुप्ति से जागृत होते हैं, यह परम सत्य है। समस्त युग, कलयुग, द्वापर, त्रेता, सतयुग ये मात्र हमारी एक कल्पना हैं। जिस युग में हम इस समय विचर रहें है, हम उसी युग के हैं। ये हमारी मानसिक स्थितियाँ हैं। **विशेष मानसिक स्थिति में उसी युग के लोगों के जैसे लोगों के साथ ही हमारा सम्पर्क हो जायेगा। हमारा बाह्य वातावरण भी हमारे भीतरी मानसिक वातावरण के अनुसार बाहर प्रकट होता है।**

यह जो सच्चिदानन्द की सृष्टि है, वहाँ जन्म और मृत्यु का प्रश्न ही कहाँ उठता है? शिव को कल्याण स्वरूप क्यों कहा है? शिव कल्याण स्वरूप है। ब्रह्मा, सृष्टि के निर्माता हैं। विष्णु, सृष्टि के पालनकर्ता हैं। सृष्टि का निर्माण जागृति में हुआ, सृष्टि का पालन जागृति में हुआ, सृष्टि का संहार भी हम जागृति में ही करना चाहते हैं। हम थके हुए हैं धन से, स्त्री से, संतान से, अपने पद से। हम सोना चाहते हैं, विश्राम चाहते हैं, तो उस समय हम सबका संहार चाहते हैं, किस लिये–विश्राम के लिये, आनन्द के लिये। यह है शिवत्व की स्थिति, संहार जो हम चाहते हैं वह भी जागृति में ही चाहते है। जो सो गया है, वह सहार क्यों चाहेगा? जिस विषय पर हम विचार कर

रहे है, यह है परम जिज्ञासुओं, तत्वज्ञों एवं मुमुक्षुओं के लिए, जो सागर की तरह शांत व स्थिर–चित्त है। उसके बाद ही इस विषय पर चिंतन किया जाये तो उचित होगा यह जो युगों की हमारी परिकल्पना है, वह सब मात्र कल्पना है। वास्तविकता यह है कि हमारी जागृति की ही यह स्थितियाँ हैं।

जिस समय हम आनन्द और शांत वृत्ति में होते हैं, आनंदमय स्थिति में होते हैं, सुगंधित वातावरण और सब प्रकार से कोई क्लेश, कोई रोग, कोई दोष, कोई दुख हमें नहीं होता, हम उस समय सतयुग में विचरते हैं और इस स्थिति में जैसे उतराव आता है तो युग बदलते रहते हैं। किसी को हम त्रेता कह दे, किसी को द्वापर और किसी को कलयुग। हमारे एक दिन की प्रक्रिया में, जागृति की प्रक्रिया में हम चारों युगों का आभास कर सकते है। प्रश्न यह उठता है कि प्रलय क्या है? एक बार काकभुसुंडि जी के पास भगवान ने गरुड़ जी को ज्ञान प्राप्ति के लिये भेजा। काकभुंसुडि भगवान के बहुत भक्त हैं, बहुत भावुक हैं और गरुड़ जी चतुर हैं। उन्होंने बहुत से प्रश्न किये और उनका काक जी ने समाधान किया।

एक बार प्रलय का वर्णन आया तो काकभुसुंडि जी ने सब प्रकार की प्रलयों का वर्णन किया। ऐसा माना जाता है, कि एक युग समाप्त होने पर प्रलय आती है। सारा संसार नष्ट हो जाता है फिर नया युग पैदा हो जाता है। काक जी ने जल प्रलय का, वायु प्रलय का व अग्नि प्रलय का वर्णन सुनाया कि ऐसे–ऐसे प्रलय में मैंने यूँ देखा। ऐसी प्रलय में मैंने ऐसा अनुभव किया आदि–आदि। जब वो प्रलयों का वर्णन कर चुके, युग–युगान्तरों का वर्णन कर चुके, तो गरुड़ जी ने एक स्वाभाविक प्रश्न पूछा, कि 'महाराज, प्रलय में तो समस्त–सृष्टि नष्ट हो जाती है और आपने प्रलय का वर्णन किया है अर्थात् आपने प्रलय को देखा होगा! यदि समस्त सृष्टि नष्ट हो गई थी, तो आप उसमें जीवित कैसे बचे?' काकजी ने उनके प्रश्न को बहुत मान्यता दी, आदर दिया और उस का बहुत सुन्दर उत्तर दिया, ''हे गरूड़ जी, आपने बहुत उचित प्रश्न पूछा है कि जब विभिन्न प्रलय होती थी, तो मैं अपनी योग शक्ति द्वारा, उन प्रलयों का रूप ले लेता था। अग्नि–प्रलय में, मैं स्वयं अग्नि बन जाता था तो अग्नि मेरा नाश नहीं कर सकती थी। जल–प्रलय में मैं जल बन जाता था, जल मुझको डुबो नहीं सकता था और वायु प्रलय में मैं स्वयं वायु बन जाता था, तो वायु मेरा कोई

अनिष्ट नहीं कर सकती थी। इस प्रकार सब प्रलय मैंने देखी और जो युग परिवर्तित हुए, वे भी मैंने देखे।' तो **यह योगी की योग स्थिति ही है, जिसमें वह युग परिवर्तन का भास कर सकते हैं, यदि वे देहाध्यास से ऊपर उठ जाये तो!**

जब युग परिवर्तित होता है, तो दोनों युगों के बीच में जो अन्तराल आता है उसे हम कहते है प्रलय। एक युग समाप्त हुआ, दूसरा युग शुरू हुआ। इसी प्रकार जब हमारे भाव बदलते हैं, उदाहरण के लिये मान लीजिये हमारी बहुत अच्छी मानसिक स्थिति है, उसके बाद कोई प्रदूषित स्थिति बनती है, तो उस अच्छी स्थिति से प्रदूषित स्थिति में आने के लिए, यदि हम अपनी देह से थोड़ा परे हट कर विचार करें, तो हम उस परिवर्तन के कारणों को देख सकते हैं। यदि हमारी देह–वृत्ति हो जाये तो हम परिवर्तन का कारण नहीं देख सकते। विचार करिये जो भी ज्ञानी लोग हैं, ईश्वर के भक्त हैं, वे अपने आपको, स्वयं को देह में होकर नहीं, देह से हटकर देखते हैं, काग जी की तरह। जो भक्त और ज्ञानी होते हैं वे अपनी जागृति की परिस्थितियों को मात्र अपनी देह और वृत्तियों का प्रगटीकरण मानकर चलते हैं, इसके साथ तादात्म्य भाव नहीं होता उनका।

एक कैसेट है, उसमें रिकार्डिंग हो रखी है। उसको हम वी सी. आर. में लगाते है और टी. वी. सेट पर उसका दिग्दर्शन करते हैं। तो यह रिकार्डिंग देख रहे हैं हम, दृष्टा अलग है और दृश्य अलग है। जो रिकार्डिंग हुई उसको दृष्टा देख रहा है। जो ज्ञानी पुरुष है, ईश्वर के भक्त है, वह इस जागृति की विभिन्न स्थितियों को परे हटकर देखते हैं। जो बीच का प्रलय समय होता है जिसमें परिस्थिति बदलती है, उसमें वे स्वयं नहीं बदलते क्योंकि जो परिस्थिति घट रही है, वह भी उन्हीं के ऊपर घट रही है, वह परिस्थिति में नहीं हैं, परिस्थिति उन पर है और परिस्थिति के परिवर्तन में भी वे अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं। इसलिये उनको स्थिति के परिवर्तन का लेश मात्र भी असर नहीं होता। **जो लोग केवल बुद्धि का ही प्रयोग करते हैं, अपनी बुद्धि तक ही सीमित रहते है, यह परिवर्तित परिस्थितियाँ उनके जीवन को विनष्ट कर देती हैं। जो बुद्धि से परे हट कर स्वयं को उस असीम का अंश मानकर चलते हैं, उस ईश्वर के साथ**

जुड़ जाते हैं, वो मात्र एक दृष्टा बनकर इन परिस्थितियों का अवलोकन करते हैं और उनको स्वयं इनका कोई भी प्रभाव नहीं होता। हर्ष की परिस्थितियों में वे अधिक हर्षित नहीं होते, दुख की परिस्थितियों में दुखी नहीं होते *'उदित सूर्य जेहि भांति अथवत् ताहि भाति'*। जिस प्रकार उदय होते समय सूर्य का जो रंग रूप होता है, डूबते हुए सूर्य का भी वही रंग–रूप होता है, उसी प्रकार जो काक जी की तरह महापुरुष होते हैं, वे सुख और दुख में समान रहते हैं।

स्थिर–प्रज्ञ किसे कहते है? जो पुरुष प्रत्येक स्थिति में समान रहते हैं, उन पुरुषों को स्थिर प्रज्ञ कहते हैं। वे युग को बदलते हुए देखते हैं, युगों के बीच में प्रलय होती देखते हैं, युगों का परिवर्तन देखते हैं लेकिन वे स्वयं नहीं बदलते, क्योंकि वे ईश्वर के आनन्द में, ईश्वर के ज्ञान में, अपने को देह से परे मानकर चलते हैं, जो कि वास्तविकता है देह हमारे लिये है हम देह के लिये नहीं है। **जीवन की निरन्तर बदलती परिस्थितियों के अनुसार यदि हम अपना मानसिक स्वरूप बदल लें, तो जीवन को बहुत आनन्दपूर्वक बिता सकते हैं।** जैसे हनुमान जी के चरित्र में, हमने अपने पिछले एक प्रवचन में कहा,

''मसक समान रूप कपि धरी,
विकट रूप धरि लंक जरावा,
सूक्ष्म रूप धरि सियहि दिखावा,
भीम रूप धरि असुर संहारे,
बिप्र रूप धरि कपि तहँ गयऊ'',

यहाँ मूल व्यक्तित्व हनुमान हैं। हनुमान नहीं बदलता, हनुमान की देह बदलती है। अपनी देह का रूपान्तर वह परिस्थितियों के अनुसार कर लेते हैं। उनको ज्ञात है कि, 'मैं हनुमान हूँ।' रूपधारक वह ही हैं लेकिन आनन्दित रहने के लिये अपनी देह वैसी ही बना लेते हैं। इसी प्रकार स्थिर प्रज्ञ मानव सदा जाग्रत होते हैं, सदा चेतन होते हैं। जैसी परिस्थिति उनके सम्मुख आती हैं देव कृपा से, अपनी देह का वैसा ही रूपान्तर कर लेते हैं।

माता सीता के सम्मुख जाना है पुत्र भाव से, तो देह को पुत्र भाव से सूक्ष्म करके,

छोटा करके, विनय सा करके हाथ जोड़ कर खड़े हो जाते हैं। लंका को जलाना है तो विकट रूप, राक्षसों को मारना है, तो बड़े रूप में, लंका मे, प्रवेश करना है तो सूक्ष्म रूप बनाकर मसक के समान, लंका में प्रवेश करते हैं। किसी भी कार्य की सिद्धि के लिये विचारणीय विषय होता है, कि उस समय हम रूप कैसा धारण करें? जब यह रूप धारण की प्रक्रिया में, हमारा नियन्त्रण हो जाता है, तो हम सफल मानव कहलाते हैं। एक ही अवधारणा, अवधारक के ऊपर कई प्रकार की देह धारण करने की शक्ति बंधाती है, जिसे हम कहते हैं कि एक ही व्यक्ति में कई व्यक्तित्वों का समावेश हो जाता है।

भगवान कृष्ण महाभारत के युद्ध में एक महान योद्धा बनकर और गोपियों में वह रसिया बनकर रास कर रहे हैं, नाच कर रहे हैं। गोपियाँ उनको नचा रही हैं और उधर मक्खन चुरा कर खा रहे हैं और डाँट खा रहे हैं सबकी, गोपाल चवालों के साथ खेल रहे हैं और महाविद्वान, ज्ञानी बनकर गीता का प्रवचन कर रहे हैं। उसमें अवधारक एक ही है, परिस्थितियों के अनुसार वे अपना सम्पूर्ण व्यक्तित्व बदलते हैं। **प्रत्येक व्यक्तित्व को उनमें संसार के आगे प्रगटीकरण करने की एक क्षमता है इसलिये उनको ईश्वर कहते है, सोलह कला–अवतार।**

इस प्रकार व्यक्ति को जब अपने चेतन स्वरूप का भास हो जाता है, तो वह देह से परे हो जाता है, देह मात्र उसके लिये एक दृश्य हो जाती है और इस जीवन का आनन्द लेने के लिये वह जब चाहता है, अपने सम्मुख वैसा युग प्रकट कर लेता है। उसीके अनुसार वह देह धारण कर लेता है और देह का रूपान्तर कर लेता है कागभुसुंडि की तरह। प्रभु की भक्ति के द्वारा उन्हें यह ज्ञान हो गया था, कि वे स्वयं में देह नहीं है। देह उनकी है, यह परम सत्य है, परमतत्व है और इस तत्व को अपनी बुद्धि के द्वारा पकड़ा नहीं जा सकता। **जिस किसी को इस विषय पर संशय हो तो उसमें कोई कुतर्क न करें। ईश्वर के आगे, अपने प्रभु के आगे, अपने इष्ट के आगे, बार–बार सच्चे दिल से, सरल हृदय से प्रार्थना करे, तो उसकी कृपा से उसको यह परम रहस्य कभी न कभी पल्ले पड़ जायेगा।** यह समझ का विषय नहीं है। इस विषय को श्रद्धा से सुने और मनन करें अन्यथा यह विषय पल्ले नहीं पड़ेगा। बहुत गहन विषय है, परमतत्व है यह।

ये चारों युग बदलते रहते हैं हमारी जागृति में। यह हमारी जागृति की अवस्था है, प्रलय हमारी सुषुप्ति है और सुषुप्ति को किसी ने देखा नहीं। सुषुप्ति और समाधि में अन्तर है। जब हम समाधिस्थ होते हैं, तो हमारी चेतना परिपूर्ण रहती है। जब हम सो जाते हैं तो उस समय यद्यपि चेतना रहती है, लेकिन चेतना का हमारे चेतन स्वरूप को भास नहीं होता। यह एनसथीसिया की स्थिति है। यह और सुषुप्ति लगभग एक जैसी स्थितियाँ हैं। तुरीय अवस्था में, समाधि में, स्वयं देह से परे रहकर हम अपनी चेतना से इन घटनाओं का दिग्दर्शन कर सकते हैं। देह हमसे परे है, इस का भास हमको समाधि में होता है। अब हमने चार युगों का वर्णन किया सतयुग, इस युग में विशेष शांत, शुद्ध वृत्तियाँ, शुद्ध जीवन, आनन्द, स्वतः आनन्द, आनन्दमय जगत, भीतरी–बाहरी जगत सब आनन्दमय, कोई विक्षेप नहीं, कोई मल नहीं, कोई आवरण नहीं, करीब–करीब ऐसा सा स्वरूप होता है सतयुग का। उसके बाद जैसे–जैसे हमारी वृत्तियों में, हमारी शुद्धता में उतर आता है तो युग बदल जाता है, कभी त्रेता, कभी द्वापर, कभी कलिकाल और कलिकाल में भी घोर कलिकाल।

जब हमारी वृत्तियाँ अति विक्षिप्त और विकृत हो जाती हैं, तो हमारा समस्त भीतरी व बाहरी जगत विकृत हो जाता है। हम कष्टों से, दुखों से, भय से, त्रास से, ग्लानि से, वैमनस्य से, चिताओं से, रोगों से, दोषों से, अविश्वास से, नास्तिकता से, क्रोध से, लोभ से, सांसारिक मोह से ग्रसित हो जाते हैं। हम ईश्वरीय शक्तियों का दुरुपयोग करने लगते हैं। यह है कलिकाल और जैसे–जैसे हमारी यह अशुद्धता एवं विकृति और घोर रूप ले लेती है, रौद्र रूप ले लेती है, तो उसको कहा है महाकलिकाल, घोर कलयुग। इसका भी हम अपनी जागृति में एक ही दिन में भास कर सकते हैं।

चारों युग हमारी जागृति की मानसिक स्थितियाँ हैं। मन ही इन वृत्तियों का निर्माता है। धर्म से उसको हम अपना मन मान लेते हैं। वास्तव में यह ईश्वरीय मन है और ईश्वर की इच्छा से ही वृत्तियों का बाह्य प्रगटीकरण होता है। वृत्तियों का निर्माण होता है, वृत्तियों में परिवर्तन होता है और वृत्तियों की सम्पूर्ण समाप्ति हो जाती है। ईश्वर की कृपा से हमारे जीवन में कष्ट का समय बहुत जल्दी समाप्त हो जाता है, आगे निकल जाता है। यहाँ तक कि कुछ कष्ट मनुष्य की निद्रा में, स्वप्न में ही

समाप्त हो जाते हैं। ईश्वर कृपा तो सर्वत्र विराजमान है। उसकी कृपा की पात्रता बनाये, सत्संग द्वारा हम अपना दिल–दिमाग खोलकर चलें, तो हममें उस कृपा की पात्रता बढ़ जायेगी, पात्रता बढ़ेगी तो कृपा बढ़ जायेगी। बन्द कमरे में बैठकर हम सूर्य भगवान के प्रकाश का आभास या प्राप्ति नहीं कर सकते, हमें अपने हृदय की खिड़कियाँ, रोशनदान और दरवाजे खोलने होंगे। उस परम सशक्त ऐश्वर्यवान, सौन्दर्यवान, उस परम प्रकाश को, कृपा को प्राप्त करने के लिये हम पहले अपनी पात्रता बढ़ाए। इस पात्रता को बढ़ाने के बाद हमें प्राप्तियाँ होती हैं, दुर्लभ–प्राप्तियाँ और दुर्लभ प्राप्तियों का सत्संग के द्वारा सदुपयोग करते हैं और उनके सदुपयोग से जीवन अति आनन्दमय बन जाता है।

न केवल यह चारों युग बल्कि यह चारों धाम, बैकुण्ठ, स्वर्ग, नरक एवं घोर नरक यह भी चारों मानसिक स्थितियां हैं। यह बैकुण्ठधाम क्या है? जहाँ विष्णु वास करते है, वहाँ पर सौन्दर्य है, वहाँ न जन्म है, न मृत्यु है, कोई दुर्गन्ध नहीं है, सुगन्ध ही सुगन्ध है। कोई रोग नहीं, कोई दोष नहीं व्यापता वहाँ पर और वहाँ से आवागमन भी नहीं होता। स्वर्गधाम से बैकुण्ठधाम को विशिष्ट माना है, अति विशिष्ट माना है। स्वर्ग से आवागमन है। लेकिन बैकुण्ठधाम में कर्मों एवं कर्म–बन्धन से मुक्ति मिल जाती है तो मुमुक्षु उस धाम में ईश्वर के साथ जुड़ जाते हैं। ईश्वर के साथ किसी भी मोक्ष के पद को प्राप्त करने के बाद वे बैकुण्ठधाम के स्थायी वासी बन जाते हैं। वहीं से आवागमन समाप्त हो जाता है। बैकुण्ठधाम अलग से कोई धाम नहीं है। हमारा जीवन, जहाँ भी हम विचर रहे हैं, वहीं बैकुण्ठ बन जाता है। आवरण हट जाता है। जब मल–विक्षेप और आवरण समाप्त हो जाते हैं, सत्संग द्वारा, ईश्वर भक्ति द्वारा, तप द्वारा, प्रेम द्वारा, श्रद्धा द्वारा तो आवरण हट जाता है। आवरण हटने के बाद जब वे भक्ति के चारों मोक्षों में से किसी भी मोक्ष का अधिकारी बन जाता है, तो उसके बाद वह बैकुण्ठवासी बन जाता है। बैकुण्ठवासी, जहाँ से आवागमन नहीं होता और सब सुन्दर ही सुन्दर, अति सुन्दर, अति भव्य। उसके नीचे है स्वर्गधाम। स्वर्ग में आवागमन है, वही कर्मबन्धन रहता ही है, वहीं मानव शुभ कर्मों का फल लेकर, शुभ वृत्तियों का फल लेकर जाता है। वहाँ सब प्रकार के ऐश्वर्यों की प्राप्ति होती है लेकिन आवागमन है क्योंकि कर्मबन्धन रहता है और बंधन की वजह से आवागमन रहता है।

शुभ वृत्तियों, शुभ कर्मों का जब फल समाप्त हो जाता है, वे अपने अशुभ कर्मोंवश, अशुभ वृत्तियोंवश पुनः नरक में आ जाता है। यद्यपि यह बन्धन एक मान्यता है, बन्धन सा है, बंधन है नहीं। लेकिन जब तक यह मान्यता जीव में रहती है, तो भले ही वह स्वर्गधाम में चला जाये, वही आवागमन बना ही रहता है। बैकुण्ठधाम में आवागमन इसलिये नहीं होता है, कि वह ईश्वर कृपा से, कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है। स्वर्गधाम और नरकधाम में वह अपने कर्मों का जिनका वह स्वयं को कर्त्ता मान लेता है, उसको इनका फल भोगना पड़ता है, भर्त्ता बनना पड़ता है। **ये धाम नरक, घोर नरक, स्वर्ग, बैकुण्ठ, ये युग सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलिकाल, घोर कलिकाल ये सब हमारी जागृत अवस्था की मानसिक स्थितियाँ है।**

बहुत कृपालु हैं प्रभु हनुमान, बहुत भावुक हैं, इनकी कृपा को पाना हो, तो सुपात्र बनिए। सुपात्रता के लिये अपनी तुच्छ बल, बुद्धि, विद्या, सामर्थ्य और शक्ति इनके चरणों में समर्पित कर दीजिये और उस समर्पित भाव का भी समर्पण कर दीजिए। उसके बाद देखिए कि ये अति कृपालु किस प्रकार आप पर कृपा करते हैं? इनकी कृपा हो जाने के बाद जीवन विचित्र सौन्दर्यमय हो जाता है।

चारों जुग परताप तुम्हारा, है परसिद्ध जगत उजियारा।

चारों वर्णों में, चारों युगों में, चारों कालों में इनकी उपस्थिति है, जो इन्हीं की ही कृपा से भासती है। आइए। अति श्रद्धापूर्वक, भक्ति से हृदय को ओत–प्रोत कर दें। हम इस उत्कृष्ट परम, महाविहंगम राम–भक्त के चरणों मैं श्रद्धापूर्वक नमन करें, ताकि हमको गुरुवत्, यह स्वयं ही हमारे हृदय को, मन को, भक्ति एवं ज्ञान से परिपूरित कर दे, जिससे हम बैकुण्ठधाम के सुखों को जीवन में लें, उन्हीं की तरह अजरता और अमरता के पद को प्राप्त करें। **हमारे हृदय मे मृत्यु का भय समाप्त हो जाए, जन्म और मृत्यु से हम इसी जीवन में रहित हो जाएं और हम मुक्त हो जाए, चाहे वो सायुज्य, सारूप्य, सालोक्य, सामीप्य या कैवल्य मोक्ष हो।**

।। जय जय श्री राम।।

वर्तमान

आपके सम्मुख इस वर्तमान में, प्रभु श्री हनुमान जी की अगाध कृपा एवं प्रेरणा से जो विषय रखने जा रहा हूँ वह जीवन का परम रहस्य है। एक ऐसी वास्तविकता है जिसको अन्तर्निहित करने के पश्चात् हमारे जीवन की गतियाँ व धाराएं समस्त परिवर्तित हो सकती हैं। एक साधारण जीवन असाधारण बन सकता है, लौकिक जीवन अलौकिक बन सकता है व एक सामान्य जीवन में दिव्यता आ सकती है, विशिष्टता आ सकती है। तो ऐसा क्या मूलमत्र है? इस विषय का नाम है **'वर्तमान'**।

वर्तमान, अर्थात् जो इस समय बीत रहा है, वही जीवन है। भूत व भविष्य इस वर्तमान के सापेक्षिक हैं। किसी भी वर्तमान में, उस समय जब हम किसी अतीत पर नज़र डालते हैं या किसी अतीत का हमें ध्यान आता है, यदि विचारपूर्वक देखें, तो उस समय वह अतीत हमारे उस वर्तमान के साथ ही जुड़ा रहता है। इस बात पर मैं पुनः जोर दूँगा। जब हम भूतकाल की बात करने है या किसी भी बीते समय को याद करते हैं, तो इसका अर्थ यह है कि इस समय के वर्तमान के साथ ही हमारा वह अतीत आकर जुड़ गया है। यद्यपि वह अतीत जिसकी हम बात कर रहे हैं, वह भी किसी समय वर्तमान ही था। यदि उस विषय को छोड़कर और स्पष्टता से इस पर विचार करना चाहे, तो किसी भी विशेष वर्तमान में कोई भी अतीत उस वर्तमान के साथ जुड़ा हुआ होता है और उसको मैंने संज्ञा दी है **वर्तमान–अतीत। उस समय वह वर्तमान ही है अगर वर्तमान न होता तो उस समय के वर्तमान के साथ वह क्यों जुड़ता?** आशा है कि यह बात आपको अति स्पष्ट हो गई होगी। जो वर्तमान है उसका एक अंग हुआ अतीत–वर्तमान या वर्तमान–अतीत। यह वर्तमान–अतीत सबसे आवश्यक पहलू है सम्पूर्ण वर्तमान का, क्योंकि इस समय जो समय बीत रहा है, यह वर्तमान अतीत का ही प्रतिफल होता है। अर्थात् किसी भी विशिष्ट वर्तमान में, जो हमारा अतीत आकर जुड़ जाता है, तो हमारा वह वर्तमान उस वर्तमान के अतीत का ही प्रतिफल होता है।

हमारा मुख्य वर्तमान, जिसको मैंने वर्तमान–वर्तमान की संज्ञा दी है, यह वर्तमान का दूसरा भाग है। तो पहला भाग हुआ वर्तमान–अतीत और दूसरा जो

उसका प्रतिफल है, उसका नाम है **वर्तमान–वर्तमान**। जो इस वर्तमान में हम भविष्य की परिकल्पना करते हैं या योजना बनाते हैं या उस समय किसी भविष्य के बारे में सोचते हैं। यदि वास्तविकता से विचार किया जाये, तो वह भी अतीत की भांति ही हमारे उस समय के वर्तमान से जुड़ा होता है, उसको हमने नाम दिया है **वर्तमान–भविष्य**। तो किसी भी **वर्तमान के तीन अंग हुए अतीत–वर्तमान, वर्तमान–वर्तमान, एवं भविष्य–वर्तमान और यही जीवन का दूसरा स्वरूप है।**

जब हम किसी वर्तमान के अतीत में जन्म की परिकल्पना करते हैं, तो उस वर्तमान का जो भविष्य है, इसका नाम होता है मृत्यु। यदि वर्तमान के अतीत से हम जन्म को हटा दें, तो वर्तमान के भविष्य से मृत्यु हट जाती है। बड़ा गहन विषय है, अति विचारणीय विषय है, **यदि जन्म है तो मृत्यु है, यदि पाप है तो पुण्य है, यदि शुभ है तो अशुभ है।** इसका अर्थ यह नहीं है कि वर्तमान–अतीत का वर्तमान–भविष्य उल्टा होता है। ऐसा नहीं है। वास्तविकता यह है कि वर्तमान–अतीत का जो प्रतिफल है, वह है हमारा वर्तमान–वर्तमान और यह प्रतिफल, भविष्य–वर्तमान की आधारशिला बनाता है। इस सत्य को मैं कुछ उदाहरणों द्वारा और अधिक स्पष्टीकरण करके आपके सम्मुख प्रस्तुत करूँगा। जब हम किसी की निन्दा, चुगली या अन्य निरर्थक अतीत की कल्पनायें करते हैं, तो हम देखते हैं, कि हमारे वर्तमान–वर्तमान पर एक ग्लानियुक्त प्रभाव पड़ता है, हम भीतर से गलित से हो जाते हैं, तो समझ लीजिए कि उस वक्त जो भविष्य–वर्तमान की नींव रखी गई है, वह भी गलित ही होगी और भविष्य–वर्तमान भी बहुत विक्षिप्त होगा। जब हम वर्तमान के इन तीनों स्वरूपों, तीनों अंगों का समन्वय कर लेते हैं, वर्तमान–अतीत, वर्तमान–वर्तमान और वर्तमान–भविष्य का एकीकरण हो जाता है, तब की हुई साधना और उस साधना का प्रतिफल एक हो जाता है। तो कोई भी साधक सिद्ध हो जाता है अर्थात् उसका भविष्य उसकी साधना की सिद्धि हो जायेगा। इस विषय को समझने के लिये एकाग्रता चाहिये। **जब वर्तमान–अतीत और वर्तमान–वर्तमान में समन्वय नहीं होता, एकीकरण नहीं होता आपस में, दोनों में सन्देह का भाव बना रहता है, तो समझिये कि वर्तमान–भविष्य भी संदेहात्मक ही होगा। कार्य पूरा होने में अति संदेह होगा और कार्य**

पूरा भी होगा तो उसका आनन्द नहीं होगा।

यदि हम भौतिक जगत में दृष्टि डालें तो कोई भी भौतिक कार्य, भौतिक जगत की क्रियाएं, जो हमें रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में करनी पड़ती है या सांसारिक लोग करते हैं, उनमें यदि इन वर्तमान के तीनों अगों में एकीकरण हो जाये, तो वे कार्य भी दिव्य होते है। उनका प्रारम्भ, मध्य और अंत, तीनों जब आनन्दयुक्त होते हैं। तो वे दिव्य कार्य कहलाते हैं, वे ईश्वर की इच्छा से ही हुए कार्य कहलाते हैं और उनका अंत आनन्दमय ही होता है। उनका जो भविष्य–वर्तमान है वह आनन्दमय ही होता है, जो जीवन का लक्ष्य है। जब महापुरुष किसी को वरदान देते हैं या श्राप देते हैं या जब कोई भी संकल्प या प्रतिज्ञा की जाती है, तो उसकी परिपूर्णता के लिये यह आवश्यक है कि उस समय के वर्तमान–अतीत और वर्तमान–वर्तमान का एकीकरण हो। यदि दोनों में एकीकरण नहीं होगा, तो उस समय ली हुई कोई भी प्रतिज्ञा अधूरी रह जायेगी। उस समय किया गया कोई भी संकल्प पूरा नहीं होगा या आंशिक रूप से ही पूरा होगा।

जब किसी को वरदान दिया जाता है तो उस समय के वर्तमान के दोनों अंगों का समन्वय देखा जाता है और उस समय दिया हुआ वरदान, उसके वर्तमान–भविष्य की आधारशिला बन जाता है और यह आधारशिला जितनी मज़बूत होती है, जितनी परिपक्व होती है, उसका भविष्य भी वैसा ही होता है। किसी समय जब श्राप दिया जाता है। तो उस समय भी उस व्यक्ति के वर्तमान–वर्तमान और वर्तमान–अतीत दोनों का समन्वय कर दिया जाता है, इस महादर्शन के विचार को नज़र में रखते हुए, भले ही यह बुद्धि से समझ में न आये, कुछ निष्कर्ष निकलते हैं जो हमारे दैनिक जीवन को अत्यधिक सुन्दर बनाने के लिये बहुत उपयोगी हैं।

मान लीजिए, हम किसी अतीत की कुछ निरर्थक या सार्थक बातों की कल्पना करके, उनका स्मरण करके, उनका विचार करके दुखित है, कष्ट में है, हमारा मन विक्षिप्त है तो वर्तमान–अतीत और वर्तमान–वर्तमान दोनों का समन्वय हुआ है विक्षिप्तता में व कष्ट में। इसका अर्थ है कि जो वर्तमान–भविष्य होगा, हमने उसकी नींव भी विक्षेप में ही डाल दी है तो अब उसका उमूलन कैसे किया जाये? उस वर्तमान–भविष्य की रक्षा करने के लिये, जिसमें इस वर्तमान ने खत्म होना है,

उसको सुन्दर बनाने के लिये यह आवश्यक है कि हम सम्पूर्ण इच्छा–शक्ति द्वारा या ईश्वर के ध्यान द्वारा वर्तमान–अतीत और वर्तमान–वर्तमान में समन्वय को हटा दें, कि वर्तमान–अतीत जैसा भी था, इस समय मेरा वर्तमान–वर्तमान बहुत सुन्दर है, दैवीय है, भव्य है। जब हम अपनी प्रबल इच्छा से, अपनी विचार शक्ति से इस विचारधारा में उतर जाते हैं तो निश्चित ही हमारा वर्तमान–भविष्य सुन्दर ही होगा। जब हमारा अतीत–वर्तमान और वर्तमान–वर्तमान बहुत आनन्द की स्थिति में हो तो उस आनन्द की परिस्थिति में हम वर्तमान–भविष्य के आनन्द की परिकल्पना कर सकते हैं।

'अंत मति सो गति' ऐसा महापुरुषों ने कहा है। जीवन एक अविरल धारा है। जीवन का कभी अंत नहीं होता। मृत्यु अथवा निद्रा मात्र कल्पना है। क्या किसी व्यक्ति ने अपना जन्म देखा है? क्या किसी ने अपनी मृत्यु को देखा है? हम स्वयं के जन्म, मृत्यु अथवा निद्रा को कभी भी नहीं देख पाते, तो क्या यह कोरी कल्पना नहीं है? हम स्वयं को सदा जागृत ही देखते हैं, स्वयं को सदा वर्तमान में ही देखते हैं। क्या कोई भविष्य में पहुँचा है? यदि हम पहुँचने का प्रयास करते हैं, तो हमें वर्तमान को साक्षी बनाना पड़ता है। वर्तमान को सर्वप्रथम हमको मान्यता देनी पड़ती है। तो **जीवन का जो आधार है, जो जीवन की अविरल धारा का मूल है, वह है वर्तमान।** इस महादर्शन से कोई भी बात समझी जा सकती है। यदि हम कोई ऐसे वर्तमान–अतीत की कल्पना अथवा स्मरण करते हैं, जो कि इस समय हमारे मन को कष्ट देता है तो हमें अपनी विशेष इच्छा–शक्ति द्वारा या ईश्वर कृपा द्वारा या ईश्वर समर्पित होकर उस परिकल्पना को अवश्य हटा देना चाहिये, वरना हमारे वर्तमान–वर्तमान का जो कष्ट है, विक्षेप है, रास है, दुःख है, वह हमारे भविष्य–वर्तमान की विक्षिप्त नींव रख देगा तो यह वर्तमान कष्टमय भविष्य में उतर जाएगा।

यदि हम जीवन को अति सुन्दर, भव्य और भव्यतम् बिताना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि हम वर्तमान–अतीत और उसका प्रतिफल वर्तमान–वर्तमान अति सुन्दर और भव्य रखें, ये दोनों आनन्दमय ही और इनमें समन्वय हो। **आनन्दमयता के साथ इन दोनों में समन्वय होना, इनका एकीकरण होना अति**

आवश्यक है नहीं तो वर्तमान–भविष्य की आधारशिला कमज़ोर रह जायेगी, अधूरी रह जायेगी।

क्यों करते हैं हम नाम–जाप? क्यों करते है पूजा–पाठ इत्यादि? यह सब प्रक्रियाएं ध्यान, समाधि, चिंतन क्यों करते हैं? **ताकि हमारा वर्तमान–वर्तमान और वर्तमान–अतीत अति भव्यतम् बन जाये। इससे हमारा दिव्य व्यक्तित्व उभर कर बाहर आता है।** जब हमारा वर्तमान–वर्तमान भव्य हो जाता है, उससे हमारा वर्तमान–भविष्य भी दिव्य हो जाता है जिसमें एक विशेष शान्ति, एक मनोबल, एक सम्पन्नता, ऐश्वर्य और आनन्द की अनुभूति होती है। हम जीवन–उपार्जन के लिए भाग–दौड़ करते हैं और न जाने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये क्या–क्या करते हैं?

हम पशु–पक्षी, मनुष्य सभी दौड़–भाग रहे हैं तो क्या इन समस्त वस्तुओं के, समस्त पदार्थों के एकत्रीकरण करने से हमारे मन को शान्ति मिलती है? क्या, सुख मिलता है? जब तक हम इस वर्तमान के रहस्य को नहीं पकड़ पाएंगे, तब तक भले ही कोई भी प्रक्रिया करें, हमारे जीवन में उस आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकती। वर्तमान में की हुई कोई भी क्रिया के पीछे वर्तमान–अतीत का योगदान होता है। उसी की प्रेरणा से हम वर्तमान–वर्तमान में कोई भी भौतिक अथवा आध्यात्मिक, बौद्धिक व शारीरिक क्रिया करते हैं तो वर्तमान–अतीत हमारे वर्तमान–वर्तमान की एक नींव है, एक प्रेरणात्मक, एक क्रियात्मक स्त्रोत है। इसलिए **हमें कभी भी अपने हृदय में, बुद्धि में, मन में, किसी भी विक्षिप्त अतीत की कल्पना नहीं करनी चाहिए।**

मान लीजिए, जैसा कि बहुत लोग अनुभव करते हैं, कि रात्रि में कोई बुरा स्वप्न आया तो अक्सर वे उसकी व्याख्या चाहते हैं कि क्या यह स्वप्न सत्य तो नहीं हो जायेगा? जब सुबह उठने के बाद उस दुस्वप्न की, उस **बुरे स्वप्न की कल्पना की जाती है, तो हम मूढ़तावश, अज्ञानवश अपने अतीत–वर्तमान को दुखमय बना देते हैं। उस कष्टमय स्वन की कल्पना हमारे वर्तमान–अतीत को बिगाड़ देती है। तो निश्चय ही हमारा वर्तमान–वर्तमान विक्षिप्त हो जाता है, चिन्तित हो जाते हैं हम और यह**

समझ लीजिये कि वर्तमान–भविष्य भी चिन्ताजनक ही होगा। उस दुःस्वप्न को हम इच्छा–शक्ति द्वारा, ईश्वर समर्पित होकर जब शुभ में परिवर्तित कर देते हैं, कि यह स्वप्न शुभ था या अति शुभ था, ऐसा हम अपने हृदय में बलपूर्वक मान लेते हैं, तो हमारा वर्तमान–भविष्य अति सुन्दर हो जाता है। यह प्रतिदिन के जीवन में कार्य आने वाली एक दर्शन–विद्या है, जिसके समझने के बाद, विचार के बाद, हम किसी भी समय अपने अतीत पर नज़र डालें, तो यदि वह आनन्दमय है, हमारे वर्तमान–वर्तमान में आनन्द दे रहा है, तो हम उस अतीत को अपने साथ चिपका कर रखें, संजो कर रखें और यदि वर्तमान–वर्तमान में वह अतीत हमें विक्षिप्त कर रहा है तो उसको हर प्रकार से हटा दें। **यदि हम अपना वर्तमान–भविष्य आनन्दमय चाहते हैं, तो वर्तमान–वर्तमान को जो वर्तमान–अतीत का प्रतिफल है, इसे हमको हमेशा सुन्दर और भव्य रखना ही पड़ेगा।**

इस छोटे से कथन को मैं बार–बार दोहरा रहा हूँ। वास्तविकता पूर्वक देखें तो यही जीवन है, यही सीखना है। प्रश्न यह उठता है **कि उत्साह क्या है? आनन्द–मिश्रित कर्म का नाम उत्साह है।** कोई भी हम कर्म करें, उसमें जब आनन्द का मिश्रण होता है वर्तमान–वर्तमान में, तो उस कर्म का फल, आनन्दमय भविष्य ही होगा। यहाँ कर्म महत्वपूर्ण नहीं है, उस कर्म के साथ–साथ मिश्रित आनन्द महत्त्वपूर्ण है। यदि हम हतोत्साहित होकर, विक्षिप्तता पूर्वक, त्रसित हृदय से किसी बड़े से बड़े कार्य को करते भी हैं, वर्तमान में, और उस कार्य का हमको फल भी मिल जाता है, तो वर्तमान–भविष्य में हम उस फल का रसास्वादन नहीं कर सकते, उसका भोग नहीं कर सकते। कोई भी प्रक्रिया, कोई भी कर्म, कोई भी कर्त्तव्य उसका वर्तमान–वर्तमान आनन्दमय होना अति आवश्यक है। यह तभी सम्भव है यदि हमारा वर्तमान–अतीत आनन्दमय होगा।

कुछ लोग अपने बीते हुए कष्ट के दिनों का खूब वर्णन करते हैं। मान लीजिए, कोई व्यक्ति इस समय बहुत धनवान है और वह हमेशा अपने बीते हुए जीवन के कष्टमय दिनों की गरीबी का वर्णन करता रहता है, तो समझ लीजिये कि वर्तमान–वर्तमान में भी उसकी वृत्ति के साथ निर्धनता जुड़ी हुई है। अभी भी वह वास्तविक दृष्टि से निर्धन ही है। उसका भविष्य, वर्तमान–भविष्य भी निर्धन ही होगा।

निर्धनता और धनवानता, समर्थता और असमर्थता, अशक्तता और शक्तिवान होना, यह एक मानसिक दृष्टिकोण हैं। धन एकत्रित कर लेने से कोई धनवान नहीं हो जाता। इसलिये कभी जब अतीत का स्मरण आए और हमारा वर्तमान–वर्तमान उस वर्तमान–अतीत से सुन्दर हो, तो उसको प्रदूषित नहीं करना चाहिए। कभी भी ऐसे वर्तमान–अतीत को ह्रदय में नहीं लाना चाहिए, जिससे हमारा सुन्दर वर्तमान–वर्तमान खराब हो जाए। यदि आप किसी व्यक्ति के बारे में निर्णय करना चाहते है तो उसका वर्तमान–अतीत और वर्तमान–वर्तमान देखिए। यदि वह समर्थ और सशक्त होते हुए भी अपने अतीत के घटिया प्रकार के जीवन, निर्धनतापूर्वक बिताए हुये जीवन का वर्णन करता है और उसी में खोया रहता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसका वर्तमान–वर्तमान अभी भी निर्धन है, अभी भी निन्म है, यह परम सत्य है।

कभी–कभी किसी को प्रेरित करने के लिये हम अपने बहुत दुर्लभ अतीत का वर्णन करते हैं। यदि वह अतीत, वर्तमान–वर्तमान में हमें स्वयं में एक शक्ति दे रहा है तो यह समझ लीजिए कि जिसको हम उसके बारे में सुना रहे हैं, वह उसको भी प्रेरित करेगा। कष्टपूर्ण, तपपूर्ण बिताये हुए अतीत का अर्थ घटिया अतीत नहीं है। जब हम किसी विशेष संकल्प की सिद्धि के लिये तप करते हैं, भरसक प्रयत्न करते हैं, भले ही हमको उसमें शारीरिक व मानसिक कष्ट झेलने पड़ते हैं, लेकिन उसमें आनन्द का समन्वय रहता है। इस अतीत में और विक्षिप्त अतीत में एक अन्तर आ जाता है। मैं इसको दोबारा स्पष्ट करने की कोशिश करूंगा।

जब हम अपने उस अतीत का वर्णन करते हैं या स्मरण करते हैं, जिसमें भले ही हमने मानसिक व शारीरिक कष्ट खेला हो क्योंकि **जब हम तप करते हैं तो थोड़ा कष्टमय जीवन तो होता ही है। लेकिन उस कष्ट के साथ आनन्द अवश्य होता है। हमारा वर्तमान–वर्तमान किसी को प्रेरित कर सकता है।** किसी व्यक्ति को जब हम कोई प्रेरणा देना चाहते हैं या कोई विशेष सुझाव देना चाहते हैं या निर्देश देना चाहते हैं या हम चाहते हैं कि हमारे सुझावों का और उन निर्देशों का पालन हो, उसका प्रभाव हो तो हम उस व्यक्ति के वर्तमान–अतीत और वर्तमान–वर्तमान में एक समन्वय उत्पन्न करना पड़ता है। उसकी तंरगों (wave length) को अपने उस समय के वर्तमान–वर्तमान की तंरगों से जोड़ना पड़ता है

और उसके अनुसार हम उस व्यक्ति को जब कुछ सुझाव देते हैं, तो वह अवश्य फलीभूत होता है। यह एक नितान्त सत्य है, वरना कितना भी हम किसी को समझाते रहें, किसी को कितनी भी प्रेरणा देते रहें, उसका उस पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। किसी को किसी समय प्रेरित करने के लिये हमें अपने उस समय के वर्तमान–अतीत और वर्तमान–वर्तमान का समन्वय देखना पड़ेगा। यदि उस समय हम स्वयं उल्लसित हो रहे हैं, हमारा मन प्रफुल्लित हो रहा है, तो उसका सामने बैठे व्यक्ति पर अवश्य प्रभाव पड़ेगा। क्योंकि मन ईश्वरीय शक्ति है। केवल बौद्धिक विलास द्वारा हम किसी की मानसिक दशा से ज्यादा देर नहीं खेल सकते।

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ **'अंत मति सो गति'** आप कभी विचार कर के देखिए कि रात्रि में जब हम शयन करते हैं, सोने के लिए जाते हैं, तो जिन विचारों में उलझे हुए और जिस सोच में पड़े–पड़े हम सो जाते हैं, तो उस अन्तिम विचार के अनुसार ही हमारी अगले दिन की दिनचर्या शुरु होती है। **यदि सुबह उठते ही हम उल्लसित होते हैं तो समझ लीजिए कि हमारा वह दिन हर्षित एवं उल्लसित ही बीतेगा। यदि सुबह उठते ही हम विक्षिप्त होते हैं, तो समझ लीजिए कि हमारा वह दिन भी उसी के अनुसार ही बीतेगा।** इसलिए कहा है कि सुबह–सवेरे जल्दी उठकर अपने नित्य कर्म से निवृत होकर, हमें प्रभु के दरबार में ध्यान में बैठना चाहिए। उसके पीछे एक बहुत बड़ा दर्शन है, कि किसी भी प्रकार हमारी सुबह आनन्द में, प्रफुल्लता से, उल्लास से बीते तो उसी के अनुसार हमारा सारा दिन उल्लसित रहता है। इसी प्रकार **शाम की संध्या का अर्थ है कि उस वर्तमान में हम अति आनन्दमय समय बिताए, तो उस आनन्द के अनुसार ही हमारा जो वर्तमान–भविष्य है, रात्रि है, वह भी आनन्द में ही बीतती है।** किसी भी प्रकार से हमें अपने वर्तमान–अतीत और वर्तमान–वर्तमान को आनन्दित करने का प्रयास चाहे इच्छा–शक्ति द्वारा, चाहे ईश्वरीय उपासना द्वारा, चाहे कैसे भी, अवश्य करना चाहिए। वर्तमान–भविष्य जो है वह उसी समय वर्तमान के साथ आनन्दमय जुड़ जाता है। **जब किसी भी कार्य को करने से पहले वर्तमान–वर्तमान में हमारे हृदय में विशेष उल्लास और प्रसन्नता उत्पन्न हो तो समझिये वह कार्य अवश्य परिपूर्ण होगा, सफल होगा।**

प्रभु हनुमान जी जब सीता माता की खोज के लिये उल्लसित होते हैं, तो बड़े विश्वास के साथ कहते है, ***'होइहि काजु मोहि हरष बिसेषी'*** इस समय मेरे हृदय में विशेष हर्ष हो रहा है इसलिए निश्चित है, कि कार्य अवश्य होगा। वर्तमान–वर्तमान में हमारे हृदय की जो स्थिति है, हमारे हृदय की जो मानसिक स्थिति है, वह हमारे वर्तमान–भविष्य की द्योतक होती है। आप अपने दैनिक जीवन में जब भी कोई कार्य करने के लिये जाते हैं, तो उस कार्य पर जाने से पहले आप अपनी मानसिक स्थिति पर थोड़ा एकाग्र करिए। यदि आपके मन में संदेह है या आपके मन में प्रसन्नता नहीं है तो आप देव–दरबार में बैठकर प्रार्थना करिए, आत्म–समर्पित करिए और जब अंदर से उल्लास उत्पन्न हो जाए, तो निस्सन्देह आपका कार्य आनन्दपूर्वक सफल होगा। लेकिन दुर्भाग्यवश आज के जीवन की भाग–दौड में हम इन विशेष तथ्यों को नकार देते हैं। भाग–दौड़ बहुत है, लेकिन परिणाम न केवल शून्य है बल्कि नकारात्मक है।

वर्तमान–वर्तमान हमारे वर्तमान–अतीत का प्रतिफल है, जो हमारे वर्तमान–भविष्य का द्योतक है, उसकी आधारशिला है। किसी भी संकल्प को लेने से पहले, किसी भी प्रतिज्ञा को लेने से पहले और किसी भी कार्य को करने से पहले यदि हम क्षणिक अपने उस समय की, उस वर्तमान की मानसिक दशा पर नज़र डालें, विचार करें, तो वो आने वाले समय का आभास करा देगी। Coming events caste their shadow before यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि हमारे हाथ में कुछ भी नहीं है, उस महाकालेश्वर, उस ईश्वर जो काल के ईश्वर है, जिनके आधीन है यह समय, यह सारी प्रक्रियाएं उन्हीं की इच्छा से होती है, तथापि हमारी प्रार्थनाएं, यद्यपि प्रार्थनाएं भी उसकी कृपा से ही होती हैं, उनका एक प्रभाव अवश्य पड़ता है। तुलसीदास जी ने लिखा है

गोपद सिंधु अनल सितलाई, गरल सुधा रिपु करई मिताई।

जब प्रभु कृपा होती है जो समर्पण से होती है, तो उस कृपा से, सिंधु अर्थात् समुद्र जितने विशाल कष्ट, गाय के पैर के समान छोटे हो जाते हैं और हमारे शत्रु हमसे मित्रता करने लगते हैं। यदि हम चाहते हैं कि हम आनन्दपूर्वक जीवन बिताएं तो हमें अपने वर्तमान–अतीत और वर्तमान–वर्तमान में उस प्रभु–चिंतन और शुभ

विचारों का समन्वय करके, अपनी इच्छा शक्ति द्वारा कोई भी अतीत ऐसा नहीं जोड़ना चाहिए, जो हमारे वर्तमान–वर्तमान को प्रदूषित करे। यदि हमारा वर्तमान–वर्तमान प्रदूषित होगा, त्रसित होगा, विक्षिप्त होगा तो निश्चित है हमारा वर्तमान–भविष्य भी विक्षिप्त ही होगा। जीवन कष्टमय बन सकता है। **कर्म का इतना महात्म्य नहीं है, जितना हमारी मानसिक दशाओं का महत्व है और उसके लिये ईश्वरीय कृपा, आत्म–समर्पण, उपासना, त्याग, तप यह जो मानसिक उल्लास को, हर्ष को, उत्पन्न करने के साधन हैं, इनका कभी भी हमको परित्याग नहीं करना चाहिए। भोग भी वही भोगे जो हमें आनन्द में ले जाये, वे भोग योग बन जाते हैं। जब तीनों आनन्द, वर्तमान– अतीत, वर्तमान–वर्तमान और वर्तमान–भविष्य आनन्दित हो जाएंगे तो भौतिकता, दिव्यता बन जाती है। हम सांसारिक होते हुए भी दिव्य देह को प्राप्त हो जाते हैं। इन तीनों का समन्वय और इन तीनों का विचार ही वास्तविक जीवन की आधारशिला है।**

जीवन का दूसरा नाम है वर्तमान। भूत और भविष्य मात्र परिकल्पनाएं हैं, वास्तव में यह वर्तमान के ही अंग है। इस सत्य को हम नकार नहीं सकते, बल्कि इस सत्य द्वारा हम अपने जीवन को अति आनन्दमय बना सकते हैं, विशिष्ट आनन्द से परिपूरित कर सकते हैं। हम सांसारिक जीवन बिताते हुए दिव्यता की ओर अग्रसर हो सकते हैं। **हमारा कोई भी कार्य, कोई भी विचार, कोई भी प्रकिया ईश्वर से हटकर न हो। हमारा एक–एक श्वास, एक–एक पल, एक–एक क्षण ईश्वरीय हो जाए, यही साधना है। साधना के लिये जंगलों में जाने की आवश्यकता नहीं है, जो भी कार्य प्रभु हमारे द्वारा करवा रहे है उनको हम क्षण–क्षण, ईश्वर अर्पित करते जाए।** जब हमारे तीनों वर्तमान के अंगों में, अतीत में, वर्तमान में और भविष्य में ईश्वर और ईश्वरत्व का समावेश हो जाएगा, तो हमारा जीवन ईश्वरीय हो जाएगा। मानवता से ऊपर ईश्वरीय जीवन का हम आनन्द भोग सकते हैं। यदि हम सैकड़ों वर्ष पुरानी किसी घटना, यही नहीं युग–युगान्तरों पुराने अतीत के किसी वर्णन को आनन्दपूर्वक सुन रहे होते हैं या स्वयं वक्ता बनकर उसे बोल रहे होते हैं, तो उस कथानक के

अनुसार हमारा भाव परिवर्तित हो जाता है, हम भावुक हो जाते हैं और नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगती है, क्या अर्थ है इसका? यदि हम अति विचारपूर्वक इस का विश्लेषण करें, तो वह एक अतीत की घटना इस समय हमारे वर्तमान के साथ आकर जुड़ जाती है और उस घटना अथवा कथानक में जितने पात्र हैं, उसमें हम कसी विशेष पात्र का स्वयं ही रोल अदा करने लगते हैं और उसी के अनुसार हमारी भावनाएं वर्तमान में असर करती हैं, जिनका प्रगटीकरण हमारे नेत्रों से बहने वाले अश्रुओं से होता है। इससे स्पष्ट ज़ाहिर है, कि भले ही हम किसी अति प्राचीन घटना अथवा कुछ ही क्षण बीती हुई घटना का वर्णन करें, वह घटना, वह अतीत यदि हमारे वर्तमान के साथ न जुड़े, तो उसके अनुसार हमारे भाव और उन भावों का प्रगटीकरण हमारे चेहरे के और हमारे नेत्रों के हाव–भाव से प्रगट हो न हो। वह अतीत की घटना हमारे वर्तमान के साथ आकर न केवल जुड़ती है, बल्कि उसके साथ हमारा तादात्म्य हो जाता है। जैसे वह वर्तमान में हमारे जीवन में स्वयं अभी घट रही हो और उस घटना को वक्ता बनकर जब हम सुनाते हैं, तो उसका श्रवण करने वाले श्रोता दोनों ही भाव–विभोर हो जाते हैं। जैसा कि आपने अक्सर अपने दैनिक जीवन में अनुभव किया होगा। उस समय वह अतीत, अतीत नहीं रहता, हमारा वर्तमान बन जाता है।

बच्चों को प्रेरित करने के लिये हम महापुरुषों के कुछ प्रसंग उनको सुनाते हैं, उनको सुनाने के पीछे क्या दर्शन है? कि कुछ क्षण के लिये वे श्रोता, उन महापुरुषों के उस स्थान को अपने जीवन के वर्तमान को जोड़ लें। यदि हम अच्छे वक्ता हैं तो श्रोतागण अवश्य उन प्रसंगों को अपने साथ जोड़कर इस वर्तमान–वर्तमान में उनसे प्रेरणा लेते हैं और उसी के अनुसार उनका भविष्य प्रभावित होता है, जिसका नाम मैंने दिया है भविष्य–वर्तमान। किसी प्रेरणात्मक संदर्भ की जब हम बात करते हैं, उसके कहने के पीछे हमारा केवल यही अर्थ होता है, कि वह हमारे अथवा श्रोता के जीवन के वर्तमान से जुड़ जाये। जब तक वो हमारे या श्रोता के वर्तमान से नहीं जुड़ेगी, तब तक उस सदर्भ अथवा घटना से हम प्रेरणा नहीं ले सकते। वही अतीत हमें स्वयं के साथ जोड़ लेने चाहिये जो हमारे वर्तमान को प्रेरणा दे। उस प्रेरणात्मक शक्ति से हमारे भीतर की सोई हुई शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं। शक्ति से शक्ति

जाग्रत होती हैं और उससे हमारा भविष्य जो वर्तमान–भविष्य है, वह अति उज्जवल हो जाता है, सराहनीय हो जाता है, अनुकरणीय हो जाता है, जिससे आने वाले समय में अन्य लोग प्रेरणा लेते हैं। यही दर्शन है प्रेरणात्मक संदर्भों का वर्णन करने में, श्रवण करने में और उनसे शक्ति ग्रहण करने के पीछे।

आज जैसा कि आप विशेषकर भारत में देखते हैं, कि प्राय. राजनेता गरीबी हटाने की बात करते हैं। दलितों के उद्धार की बात करते हैं। लेकिन क्या किसी दलित को बार–बार दलित अथवा गरीब को बार–बार गरीबी की मोहर लगाने से, उसके अतीत के साथ उसकी गरीबी अथवा दलितता को जोड़ने से क्या वे कभी उससे मुक्त हो पाएगा? असम्भव। हम जो भी उपाय करें, यह राजनीतिज्ञ जो भी पारवर्तन लाये देश में, उनको यह अवश्य जान लेना होगा, कि उन विशिष्ट लोगों के अतीत से गरीबी का और उनकी दलितता का भाव हटाना होगा। आजकल इस दलितता की और गरीबी की मोहर ऐसे लगा दी जाती है, मानो यह भी कोई धर्म हो।

यह एक नितान्त विचारणीय सत्य है, कि यदि हम किसी समुदाय में, किन्हीं **विशेष व्यक्तियों में कोई परिवर्तन लाना चाहते हैं, तो उनके वर्तमान–अतीत से हमें उस वस्तु को हटाना होगा अन्यथा, यद्यपि वे वर्तमान–वर्तमान में धनाढ्य बन जाएं, उनकी सामाजिक स्थिति सुधर जाए, लेकिन जब तक उनके अतीत के साथ उनकी गरीबी व उनकी दलितता जुड़ी रहेगी, तब तक वे इससे मुक्त नहीं हो सकते।** यदि कोई वास्तव में देश की सेवा करना चाहता है, तो उसको राजनीतिज्ञ होने के साथ एक दार्शानक भी होना पड़ेगा समाज–सुधारक, हमारे संत–मुनि, ऋषि उनको इस तरफ कार्य करना चाहिये, अन्यथा जो सामाजिक लांछन और अतीत के कटु अनुभव जुड़े हैं समाज के वर्गो से, उनको हटाने के लिए उनके वर्तमान को परिवर्तित करने के लिये, उन कटु अनुभवों का हटाना अति आवश्यक है। केवल किसी को धन देने से, धन जुटाने से या धन के साधन अर्जित करने से ही कोई अमीर नहीं बन जाता, धनवान नहीं बन जाता। इस सत्य को हमें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, राजनीतिज्ञ क्षेत्र में अपनाना चाहिए और इसका पारिवारिक क्षेत्र में सदुपयोग करना चाहिए।

यदि हमारा कोई बच्चा किसी बुरी आदत से ग्रसित है और उसे मालूम है कि

उसे वह बुरी लत है तो उसको सुधारने से पहले हमें उसके वर्तमान–अतीत से उस लत का नामों–निशान मिटाना अति आवश्यक है। इस बात को सभी माता–पिता ग्रहण कर लें। उसको यह कहना अति आवश्यक है, कि तुम ऐसे कभी थे ही नहीं और न अभी हो। यह एक सकारात्मक कदम है। किसी भी बुरी आदत को हटाने के लिये यह सकारात्मक दृष्टिकोण है। अपने इस अनुभव के बल पर, इस सत्य को आपके सम्मुख रख रहा हूं, कि यदि हम किसी व्यक्ति की शराब या सिगरेट और अन्य दुर्व्यसन को छुड़ाना चाहते हैं, तो उसके वर्तमान–वर्तमान और वर्तमान–अतीत में हमको यह एहसास कराना अति आवश्यक है कि वह इस नशे को छोड़ने की पूर्ण क्षमता रखता है।

जब उसका वर्तमान–अतीत और वर्तमान–वर्तमान दोनों समन्वित हो जाएंगे तब हम उसके वर्तमान–भविष्य में उससे संकल्प ले सकते हैं और वे संकल्प कई बार ऐसा देखने में आया है कि बीस–बीस वर्ष से शराब पीने वाले व्यक्ति एकदम शराब छोड देते हैं, ऐसा मेरा व्यक्तिगत अनुभव है। हम बजाय इसके कि उस विशेष व्यक्ति के अतीत को रोएं, उसको उस गन्दे या प्रदूषित अतीत में धकेले,. हमें पहले उसके अतीत को उस दुर्व्यसन से मुक्त और उसी के अनुसार उसके वर्तमान को संशोधित करना होगा। तभी जाकर वह वर्तमान–भविष्य में उस दुर्व्यसन को त्यागने का संकल्प ले सकता है, प्रतिज्ञा कर सकता है और वह संकल्प या प्रतिज्ञा तभी काम करती है अन्यथा किसी को आप लाख समझाते रहिये, उस पर कुछ भी कार्य नहीं करेगी। इस दर्शन के पारिवारिक जीवन में और कई महात्म्य है।

हम परिवार के किसी व्यक्ति को अपने अनुकूल ढालना चाहते हैं, तो पहले हमें उसका वर्तमान–अतीत छेड़ना होगा, कि वह उस विशेष विचार को ग्रहण करे, उसका प्रारम्भ उसके वर्तमान–अतीत से हो। इसी प्रकार सामाजिक जीवन में जितने समाज– सुधारक या हमारे संत, ऋषि–मुनि हैं, उनको विशेष कहानियों की बजाय, उस विशेष समाज के साथ उसके उज्जवल वर्तमान–अतीत को जोड़ना अति आवश्यक है। भले ही हम किसी के वर्तमान–वर्तमान में कोई बात बिठा दें, उसका प्रभाव बहुत क्षणिक होता है, एक कान से सुनी और दूसरे कान से निकली। वह व्यक्ति केवल क्षण भर के लिये प्रभावित हो सकता है लेकिन अगले ही क्षण वह उस

सारे प्रभाव से मुक्त हो जाता है। समाज–सुधारकों को जब किसी विशिष्ट समाज में, किसी विशिष्ट परिवर्तन को लाना है, तो उस समाज के वर्तमान–अतीत को छेड़ना होगा, उस समय के वर्तमान–अतीत को उस पुराने असभ्य परिवर्तन से मुक्त करना अति आवश्यक है।

यदि किसी देश में परिवर्तन करना है, तो उस देश के समस्त लोगों के साथ उसके उज्जवल अतीत को वर्तमान में जोड़ना अति आवश्यक है। जैसे उज्जवल अतीत जुड़ता है, तो देश का वर्तमान–वर्तमान अति उज्जवल हो जाता है। इन राजनीतिज्ञों को जो देश के कर्णधार है, जो उन्नति की ओर देश को ले जाने का ठेका लेते हैं, उनको भी इस सत्य से अवगत होना अति आवश्यक है, कि इस वर्तमान–अतीत का क्या महात्म्य है? मान लीजिए किसी देश का वर्तमान, किसी देश की आर्थिक स्थिति, उस देश की वर्तमान अवस्था शोचनीय है, तो उसको परिवर्तन करने के लिये उसके अतीत को पकड़ना होगा, भले ही वह मानसिक हो। तभी कई वर्षों से लोग गरीबी हटाने का नारा देते हैं, विशेष करके राजनीतिज्ञ लेकिन देश नकारात्मकता की तरफ बढ़ रहा है। गरीबी घटने की जगह बढ़ रही है। हमारी मानसिकता में एक परिवर्तन चाहिये। **जिस दिन स्थाई परिवर्तन हमारी मानसिकता में आ जायेगा उस दिन वास्तव में देश में एक परिवर्तन आ जायेगा, एक खुशी, एक विशेष उन्नति के बीज प्रस्फुटित होने लगेंगे।**

आप विश्व में किसी भी समाज को, किसी भी देश को, किसी भी व्यक्ति को ले लीजिये, उसके साथ उसका उज्जवल वर्तमान अवश्य जुड़ा होता है। हमारा देश साधु–महात्माओं, ऋषियों, मनीषियों, विचारकों, दाशनिकों और आध्यात्मिक सस्कारों से ठसाठस भरा हुआ है। आज हमारे वर्तमान राजनीतिज्ञों, विचार की और मनीषियों को इस सत्य से परिचित होकर इस का सदुपयोग करना सीखना होगा और उसको अपने देशवासियों पर प्रयोग करना होगा। जब तक हमारी मानसिकता नहीं बदलेगी, भले ही हम लाखों आर्थिक संशोधन के साधन जुटा ले, तब तक हम आर्थिक रूप से उन्नत नहीं हो सकते। भले ही हम अपने पास एक से एक आधुनिक यंत्र मार–काट के और युद्ध के एकत्रित कर लें, जब तक हमारी मानसिकता में शूरवीरता और आत्म–बल नहीं आयेगा, हम विजयी नहीं हो सकते। आपने इतिहास के पन्ने

खोलकर देखा होगा, कई बार मुट्ठी भर लोग लाखों की सेना पर विजय प्राप्त करते हैं, केवल अपनी शूरवीर मानसिकता के बल पर। क्या था प्रभु श्रीराम के पास। जब रावण जैसे एक महान योद्धा और सर्वसम्पन्न व्यक्तित्व पर उन्होंने विजय प्राप्त की, उनके पास तो रथ भी नहीं था और सेना थी वानर और भालुओं की। जबकि इधर, अत्यधिक आधुनिक यंत्रों से युक्त सेना तो उसके पीछे रहस्य क्या था? एक उज्जवल, एक अति शूरवीर, एक बलवान वर्तमान–वर्तमान एवं एक वर्तमान–अतीत की मानसिकता की, कि **"विजय होगी, विजय होती आई है, हम विजयी थे, अभी भी विजयी ही है और हम विजयी ही होगे।"**

इसी प्रकार चिकित्सा के क्षेत्र में मैं अपना 27 वर्ष का व्यक्तिगत अनुभव बता रहा हूँ, कि यदि हम किसी मरीज की मानसिकता बदल दें, किसी भी मरीज को कुछ क्षणों के लिये अपने वार्तालाप से बिना दवाई के रोग मुक्त कर दें, उसके वर्तमान को हम स्वस्थ बना दें और उसके बाद हम उसे प्रसाद के रूप में औषधि दें, तो वह अवश्य प्रभावी होगी और वह मरीज तुरन्त अच्छा हो जाता है। किसी मरीज के रोग को जाँच कर लेना या उस जाँच के अनुसार उचित दवाई, उचित मात्रा में शुरु करना ही काफी नहीं है। यह तो चिकित्सा का एक छोटा सा अंग है। **लेकिन प्रमुख अंग है–उस मरीज के वर्तमान–वर्तमान और वर्तमान–अतीत को हमें स्वस्थ बनाना होगा,यदि हम चाहते हैं कि वह वर्तमान–भविष्य में स्वस्थ हो।** अक्सर होता क्या है, कि साधारणत चिकित्सक गलतीवश या स्वार्थवश उस मरीज के वर्तमान–अतीत को भयभीत कर देते हैं और वर्तमान–वर्तमान में उसकी बीमारी को कई गुना बढ़ाकर बताते हैं। इसलिए उनकी औषधि उस मरीज पर काम नहीं करती। किसी भी औषधि को लिखने से पहले या उसको समझाने से पहले हमें उस मरीज की मानसिकता पर विशेष ध्यान रखना अति आवश्यक है।

यदि कोई चिकित्सक प्रयत्न करके मरीज को विश्वास दिला दे उसके वर्तमान–अतीत को और वर्तमान–वर्तमान को यदि वह स्वस्थ बना दे और वह दी हुई औषधि को प्रसाद रूप में ग्रहण करे अपने इष्ट के नाम से तो उस मरीज़ का वर्तमान–भविष्य अवश्य स्वस्थ ही होगा। वह दवाई उसको सही असर करेगी और जो काम कुछ दिनों में होना है, वह आप देखेंगे कि कुछ घटों में हो जाता है। यह मेरा

असंख्य मरीज़ों पर किया हुआ एक प्रयोग है, जो अकाट्य सत्य है। अक्सर हम चिकित्सक लोग क्या करते हैं, कि अपनी सारी एकाग्रता उस मरीज की जाँच और उस जाँच के अनुसार उसके इलाज में लगा देते हैं, जो मात्र एक छोटा सा अंश है। **मरीज़ की मानसिकता को बदलना, परिवर्तित करना, उसमें उत्साह भरना, उसको कुछ क्षणों के लिये हर्ष से, आशा से परिपूरित करना ताकि वह औषधि खाने से पहले ही हर्षित हो जाये, उसमें यह विश्वास जागृत हो जाए कि ''मै स्वस्थ हूँ और इस प्रसाद को पाने से मैं और स्वस्थ हो जाऊँगा।"** यदि सकारात्मक दृष्टिकोण चाहते हैं चिकित्सा के क्षेत्र में तो हमें इस दर्शन को सत्य मानकर उसका प्रयोग उचिततम् मरीज़ों में, उचिततम् समय में करना अति आवश्यक है। चिकित्सा के क्षेत्र में, शिक्षा के क्षेत्र में, युद्ध के क्षेत्र में, व्यापार के क्षेत्र में जब कोई व्यापारी अपना व्यापार शुरु करता है, तो वह एक अति उत्साह व उल्लास के साथ शुरु करे, सकारात्मक सोच से। अपने वर्तमान में उस लाभ को मानकर चले जो वे भविष्य में प्राप्त करना चाहता है, तो व्यापारी देखेगा कि उस व्यापार में हर प्रकार से उसको, उसकी सोच से, उसकी योजना से कहीं अधिक लाभ हो जाता है।

जीवन के किसी भी क्षेत्र में इस दर्शन का प्रयोग, इसकी सत्यता यदि कोई अपने ह्रदय में समाहित कर ले तो उसको अवश्य लाभ होता है। यही बात आध्यात्मिक क्षेत्र में, प्रभु के चिंतन में है। वहाँ दरबार में भी हम उल्लास में बैंठे, तो शायद उनकी अति कृपा से वर्तमान–भविष्य में उनकी कोई झलक मिल जाए। यह रहस्य साधारणतः जनता के समक्ष प्रकट करने का यद्यपि नहीं है, लेकिन मेरा निवेदन इतना है कि इस क्षेत्र में भी यह दर्शन कार्य करता है। इसका अपना एक महत्व है भक्ति के क्षेत्र में, आध्यात्मिक क्षेत्र में, युद्ध के क्षेत्र में और अन्य क्षेत्रों में जिनका मैं सूक्ष्म वर्णन कर चुका हूँ। इस जीवन के अमूल्य पहलू, वर्तमान और वर्तमान के उन तीनों अंगों पर जिनको बार–बार मैं वर्णित कर चुका हूँ, हमें विशेष एकाग्रतापूर्वक ध्यान रखना होगा। किसी भी कार्य के लिए, एकदम कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए, उस समय के हमारे वर्तमान–अतीत और वर्तमान–वर्तमान पर यदि ध्यान देकर उस कार्य को करें, तो हमारा वर्तमान–भविष्य अवश्य सफलता से

परिपूरित हो जाएगा। यह कार्य को सिद्ध करने के लिए एक योजना है। यदि आप उन व्यक्तियों का इतिहास, उन ऐतिहासिक युग पुरुषों की जीवनियों को देखें जिन्होंने अपने जीवन में विलक्षण और असाधारण कार्य किए हैं, उनमें भी हम ऐसे दिव्य गुण पाएंगे।

उदाहरण के लिये महारानी झांसी जिनका बचपन का नाम मनु था, जब वह 12 वर्ष की थी, तो उनके गुरु ने उनको तलवार चलवानी शुरु की, तो कहा, बोलो मनु कि, 'मैं वीर बनूंगी।' तो मनु हँस पड़ी और बोली, 'गुरुदेव, मैं वीर क्या बनूँगी, मैं तो वीर ही हूँ। तो इस 12 वर्ष की बच्ची को किसी ने यह दर्शन नहीं सिखाया था। उस असाधारण व्यक्तित्व वाली इस महिला, जिसके सामने देश के वीर नतमस्तक होते हैं और नतमस्तक होते रहेंगे, जो भारत के इतिहास को सुशोभित करती है, उनमें यह विशेष गुण, यह विशेष प्रभाव जन्मजात थे कि, 'मैं वीर हूँ?' यही नहीं आप जितने भी असंख्य ऐतिहासिक पुरुषों, नारियों को देखेंगे, जिन्होने असाधारण कार्य किए हैं इस तरीके से, इस वर्तमान के तीनों अंगों की सकारात्मकता से वे स्वभाविक रूप से ही परिचित होते थे।

इस प्रवचन में मैंने प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के विभिन्न पहलुओं को छुआ है और उनकी सफलता के एक असाधारण तरीके को प्रस्तुत किया है, कि प्रत्येक क्षेत्र में यदि वर्तमान के तीनों रहस्यों को, तीनों अंगों को सकारात्मक कर ले, जिसकी शुरुआत वर्तमान–अतीत से होती है और उसका प्रतिफल वर्तमान–वर्तमान होता है और वे हमारे वर्तमान–भविष्य की आधारशिला है, जीवन केवल इतना ही है, केवल इतना।

हम अपने दैनिक जीवन में अनुभव करते हैं, कि बहुत से व्यक्ति बहुत लगन से परिश्रम करते हैं, बहुत सही दिशा में कार्य करते हैं और उनका कार्य सिद्ध नहीं होता। जबकि कुछ व्यक्ति इतना प्रयत्न भी नहीं करते, लेकिन उनके कार्य सिद्ध हो जाते हैं। इतने व्यस्त भी नहीं रहते और मस्त रहते हैं। उस कार्य की सिद्धि के लिये ज्यादा समय भी नहीं देते लेकिन फिर भी वे सफल हो जाते हैं। इसके पीछे क्या रहस्य है? इसके पीछे वही वर्तमान के तीनों अंगों का विवेचन आता है, कि जब कोई कार्य मंदसंकल्प से या निर्बल मन से किया जाता है, सन्देहात्मक वृत्ति से किया

जाता है कि पता नहीं यह कार्य सिद्ध होगा कि नहीं, तो प्रथम बात यह है कि वह कार्य सिद्ध नहीं होगा और यदि वह कार्य सिद्ध हो भी जाये, तो हम उसकी सफलता का रसास्वादन नहीं कर सकते। जबकि दूसरी तरफ स्वभाव से ही सफल व्यक्ति आरम्भ में ही कार्य को सफल मानकर चलते हैं। केवल इतने से मानसिक परिवर्तन से हम अपने कार्य के परिणाम को कई गुणा बढ़ा सकते हैं।

किसी लक्ष्य को साधने के लिये यह आवश्यक नहीं है, कि हम बहुत शारीरिक, मानसिक या बौद्धिक परिश्रम करें। उसके लिये हमें एक आत्मबल और आत्मविश्वास की आवश्यकता है। **क्या है यह आत्म–विश्वास**? इस आत्म–विश्वास से हम अपने वर्तमान–अतीत और वर्तमान–वर्तमान में एक विश्वास लेकर चलते हैं, कि यह कार्य मैं कर सकता था, अब भी कर सकता हूँ और यह कार्य होगा। इस आत्म–विश्वास के साथ जब हम कुछ भी प्रयत्न करते हैं, उस प्रयत्न का असर कई गुणा हो जाता है। दूसरी ओर एक भ्रमित, एक सन्देहात्मक वृत्ति वाला व्यक्ति, शंकालु और मंद–संकल्प का इसान जब उसी कर्म को सन्देह से करता है, तो वह न तो उस कर्म अथवा कार्य को करने का आनन्द लेता है और न ही उसकी सफलता का भोग ले सकता है। यदि हम विचार कर देखें, किसी भी वस्तु की प्राप्ति क्या हमारे कर्म की सफलता का द्योतक है? **प्राप्ति तो सफलता का मात्र एक अंग है। उस वस्तु की प्राप्ति के बाद जैसा कि मैं पहले वर्णन कर चुका हूँ, उस वस्तु का भोग और उस भोग से जो प्राप्त आनन्द है, वही हमारा किसी कार्य की सफलता का लक्ष्य है।** यदि सूक्ष्म विचार से देखें, तो उस आनन्द का किसी वस्तु की प्राप्ति अथवा भोग से दूर–नज़दीक तक कोई भी रिश्ता नहीं होता। यह आनन्द हमारे हृदय का, हमारे भीतर की वस्तु है, जो हमारा स्वरूप है। हम व्यवहारिक जीवन में इस सत्य को भूलकर यह समझते हैं, कि शायद हमें सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति और उसके भोग से आनन्द मिलेगा। वास्तविकता यह है कि उस **आनन्द का वस्तुओं की प्राप्ति एवं भोग से कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह हमारी आन्तरिक स्थिति है, हमारा स्वरूप है जिसको हम बिना वस्तुओं के और बिना भोग के भी प्राप्त कर सकते हैं।** क्यों करते हैं हम यह सब कुछ कर्म? यदि हमको जीवन बिताने के लिये कुछ शुगल करने भी है,

कुछ कार्य करने भी हैं तो हम उन कार्यों को आनन्दपूर्वक क्यों न करें ? किसी कर्म को बिना आनन्द के करके, त्रसित अथवा दुखित मन से करके भले ही हम उसके फल की प्राप्ति कर लें, किसी वस्तु की प्राप्ति कर लें धन की, सम्पत्ति की, पद की, शिक्षा की, हम न तो उसका भोग कर सकते हैं और यदि भोग भी कर लें, तो उसका आनन्द नहीं ले सकते। इस आनन्द की शुरुआत हमें उस कार्य को करते समय अपने वर्तमान–अतीत से शुरु करनी होगी, उस कार्य को करने में हमें आनन्दित होना पड़ेगा। यदि हम आनन्दित नहीं है, तो उस कार्य की सफलता अथवा असफलता हमारे लिये कुछ भी अर्थ नहीं रखती। उत्साही लोग वास्तव में जीवन का आनन्द लेते हैं। उनको कुछ प्राप्ति हो अथवा कुछ खो जाए, उन दोनों स्थितियों में उनका आनन्द बरकरार रहता है, जो हमारे जीवन का लक्ष्य है, जो हमारा स्वरूप है। यदि हम पूरे संसार की सम्पदा को प्राप्त भी कर लें, लेकिन हमारा आनन्द लुप्त हो जाए, खो जाए तो यह सब कुछ व्यर्थ है।।

क्यों करते हैं हम ईश्वरीय उपासना? क्यों प्रभु का चिंतन–ध्यान करते हैं? कि हम उस एक अविरल आनन्द को, अभावमय आनन्द को पाना चाहते हैं। वह आनन्द हमारा स्वरूप है, वह आनन्द ही आनन्द का स्त्रोत है। यदि हम उस आनन्द से परिपूरित हो जाये जो अभावमय आनन्द है, जहाँ न किसी वस्तु की आवश्यकता है, न किसी भोग की आवश्यकता है। उस आनन्दमय स्थिति को, अपने अविरल भीतरी आनन्द को हम ईश्वर उपासना से, चिंतन से, ध्यान से प्राप्त करते हैं। उसके बाद हम जो भी कार्य करते हैं या प्रभु इच्छा से जो भी हमसे करवाया जाता है, जो भी कर्तव्यों का निर्वाह करते हैं, जो भी कर्म करते है, उनका अतीत, उनका वर्तमान और उनका भविष्य तीनों आनन्दमय रहते हैं। उस स्थिति में हमारे जीवन की एक अविरल आनन्द रूपी नदिया बहती रहती है और अन्त में जिस प्रकार की कोई सरिता समुद्र में समा जाती है और अपना अस्तित्व खो देती है, उसी प्रकार हम आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करते–करते उस ईश्वरीय स्वरूप में समाहित हो जाते हैं। हम मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं और वहाँ पर हम किसी भी नाम, रूप की कल्पनाओं से और उनकी मान्यताओं से छूट जाते हैं। यही जीवन का लक्ष्य है। यही परमधर्म है।

कहने को तो तीर्थ–यात्राएं होती हैं चार–धामों की। वास्तव में यह चार धाम हैं अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, कि हम अर्थ द्वारा धर्म करते हुए, धर्म द्वारा अपनी कामनाओं की पूर्ति करते हुए, अन्तिम धाम मोक्ष को प्राप्त हो जाए! जहाँ हमारी समस्त नाम–रूपों की मान्यताएं छूट जाएं। यही हमारा कर्तव्य है, यही कर्म है। अतिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अति आवश्यक है, कि हम अपने जीवन के वर्तमान के तीनों अंगों को अपने भीतर के आनन्द से ओत–प्रोत कर दें। जहाँ हम अपने भीतरी आनन्द स्वरूप से विमुख हो जाते हैं, तो जीवन में किया हुआ कोई भी कार्य न तो सफल होता है और न ही हमको आनन्द देता है। यदि कोई वास्तव में पूछे, कि जीवन का स्वरूप क्या है? जीवन का स्वरूप है यह वर्तमान और इस वर्तमान के तीनों अंग; वर्तमान–अतीत, वर्तमान–वर्तमान और वर्तमान–भविष्य का आनन्द से ओतप्रोत होना और इस आनन्द की ओतप्रोतता के बाद हम भले ही कुछ करें या न करें, हम अपने स्वरूप में समाहित हो जाते हैं। यही है मोक्ष पद और यही है अन्तिम लक्ष्य।

।। जय जय श्री राम।।

डिप्रेशन
(निराशा)

डिप्रैशन अर्थात् निराशा—यह प्रत्येक बुद्धिजीवी और प्रत्येक उस व्यक्ति को, जो अपने जीवन क्षेत्र में आकांक्षाओं या महत्वाकांक्षाओं को लेकर कूदता है उसको निश्चित तौर पर होती है। आज के तीव्रगति से चलने वाले युग में, यदि सूक्ष्म दृष्टि से प्रत्येक आयु के व्यक्ति को ध्यानपूर्वक देखें, तो हम पाएंगे कि उसमें प्रायः कम या ज्यादा, निराशा जरूर मिलेगी। इसका कारण क्या है ? इसका इलाज क्या है? निराशा को मैंने तीन भागों में बाँटा है निराशा की **पहली स्थिति भूतकाल से सम्बन्धित है**, अर्थात् जो समय बीत गया है। उदाहरण के लिए कोई हमारा करीबी व्यक्ति संसार से विदा हो गया है, हम उसे न दोबारा मिल सकते हैं, न पा सकते हैं। हम रिटायर हो जाते हैं, बुढापा आ जाता है, युवावस्था समाप्त हो जाती है, हमारा स्वास्थ्य स्थाई तौर पर खराब हो जाता है। धन समाप्त हो जाता है, नाम, यश, समप्ति आदि कुछ चीजें हम स्थाई तौर पर खो देते हैं, तो यह हमारी निराशा का कारण बन जाती हैं। आपने देखा होगा कि उच्च—पदस्थ अधिकारी जब रिटायर हो जाते हैं, तो कुछ विशिष्ट लोगों को छोड़कर, आमतौर पर ऐसे लोग निराशा के शिकार हो जाते हैं। इसी प्रकार वृद्धावस्था में, जब किसी वृद्ध को अपने युवावस्था की बातें याद आती हैं, उस समय का लिया हुआ सब प्रकार का आनन्द व भोग वृद्धावस्था में निराशा या डिप्रेशन का कारण बन जाता है। क्योंकि वह उससे हमेशा के लिये हाथ धो बैठता है। यह है भूतकाल के बारे में सोचकर, निराशा के कुछ कारण।

दूसरी श्रेणी भविष्य के बारे में है। आज के इस प्रतिस्पर्धा के युग में अधिकतर व्यक्ति अपने भविष्य के बारे में, आने वाले समय के बारे में कुछ आकांक्षाएं और कुछ महत्वाकांक्षाएं रख कर चलते हैं। ऐसे लोग अपने दिमाग में एक विचार बना लेते हैं। अपने पद संतान, नाम धन, सम्पत्ति, समाज एवं अपने देश के बारे में। रफ्ता—रफ्ता उस वस्तु को पाने के लिये लालायित रहते हैं, किंतु जब ये लोग ऐसा महसूस करने लगते हैं, कि उसको पाना असम्भव नहीं, तो कठिन जरूर है। तब उनमें निराशा की स्थिति आ जाती है।

तीसरी श्रेणी वर्तमान के बारे में है। आज हम अधिकांश निराशा के जो मामले देखते हैं, वे प्रायः व्यक्तियों के वर्तमान जीवन में कई कारणों से सम्बन्धित हैं, जिसमें प्रमुख हैं–पारिवारिक कलह, पति–पत्नी में कलह, संतान का माता–पिता के प्रति प्रतिकूल व्यवहार, अपनी रोज़मर्रा की वित्तीय स्थिति के बारे में चिंता, अपने गिरते हुये स्वास्थ्य के बारे में चिन्ता, अपने सगे–सम्बन्धियों की चिंता, संयुक्त परिवार में विभिन्न लोगों के साथ मेल न खाना, सामाजिक दृष्टि से समाज में उचित नाम व यश की प्राप्ति न होना आदि–आदि।

इस प्रकार बीते समय, आने वाले समय और मुख्यतः वर्तमान के जीवन, इन तीनों की सोच हमको निराशा या डिप्रेशन में ले जाती है। यह डिप्रेशन जो एक विश्व व्याप्त समस्या है, हम इससे बाहर कैसे आयें? एक समय ऐसा आता है, कि अत्यधिक डिप्रेशन से ग्रसित होकर लोग मनोचिकित्सक के पास जाते हैं और उनको विभिन्न प्रकार की औषधियाँ लिख दी जाती हैं। धीरे–धीरे ऐसे रोगियों को दवा लेने की आदत पड़ जाती है, जिसे लत भी कहा जा सकता है। क्या हम विचार द्वारा, इच्छा–शक्ति द्वारा, इष्ट कृपा द्वारा, सत्संग द्वारा इस डिप्रेशन से बाहर नहीं आ सकते? जहाँ तक मैं समझता हूँ, यह संभव है। यदि हमें सत्य विचार हो जाये, तो हम अपना बहुत सुन्दर और हर्षित जीवन बिता सकते हैं। एक सामान्य दृष्टिकोण, विभिन्न प्रकार से और एक नए प्रकार से मैं आपके सम्मुख रखूँगा, जिसके विचार से हमें इस निराशा अथवा डिप्रैशन नामक रोग से बाहर आने में बहुत लाभ होता है।

यदि हम बहुत विचार पूर्वक जीवन पर ध्यान दें तो हम देखते हैं, कि जीवन शून्य से शुरु होता है। जब एक शिशु उत्पन्न होता है तब वह नग्न होता है। उसकी दृष्टि में उसकी कोई माँ, पिता या सगा–सम्बन्धी नहीं होता, उसकी कोई सम्पत्ति नहीं होती, उसका कोई नाम तक नहीं होता, यश–अपयश नहीं होता, कोई शिक्षा नहीं होती। शारीरिक, मानसिक अथवा बौद्धिक कोई सामर्थ्य व शक्ति नहीं होती भले ही वह किसी अरबपति परिवार में पैदा हुआ है और बहुत बड़ी सम्पत्ति का वारिस है क्योंकि शिशु को स्वयं उसका कोई भास एवं ज्ञान नहीं होता। इसको आप शून्य स्तर कह सकते है। **हमारा सबका जीवन शून्य से शुरु होता है और अन्त में जब मृत्यु होती है तो, उस मृतक शरीर के पास भी कुछ नहीं होता।** न

उसकी कोई सम्पत्ति होती है, न पद होता है और न उस वक्त उसका कोई सगा–सम्बन्धी होता है, भले ही आप उस मृतक देह के सम्मुख उसके समस्त सगे–सबन्धियों को और उसकी समस्त सम्पत्ति को आग तक भी लगा दें। कुछ भी कर दें। उसका मृतक देह को कुछ भी फर्क नहीं पड़ता अर्थात् **यह जगत विदित सत्य है कि जीवन शून्य से शुरू हुआ है और शून्य में समाप्त होगा।** जैसे–जैसे शिशु बढ़ता है, वह किसी को अपनी माँ मान लेता है, किसी को पिता, किसी को भाई, बहिन, मित्र, पति, पत्नी, फिर आगे उसके बच्चे, सम्पत्ति, धन, पद, सब बातों में लिप्त हो जाता हए। हम जो कुछ भी प्राप्त करते रहे हैं जीवन में, क्या यह हमारे मध्य का मात्र खेल नहीं है।

यदि हम शान्त चित्त से प्रतिदिन एक बन्द कमरे में बैठकर यह विचार करें, कि हमारा सबका जीवन शून्य से शुरु होता है और यह शून्य में अवश्य समाप्त होगा। निःसन्देह! तो हमने यहाँ क्या खोया है? क्या पाया है ? यदि कुछ खोया है तो हमने उसको मध्य में ही पाया था और अंत में हमको सब कुछ छोड़ना है। इस विचार से, गहनता से जब इस विषय में हम प्रवेश कर जाते हैं, तो हमारे मस्तिष्क को एक अवर्णनीय शाति मिलती है और तनाव से मुक्ति मिलती है। कुछ लोग यह प्रश्न करते हैं, कि क्या यह इतना आसान है कि हम प्राप्त की हुई वस्तुओं को भूल जाएं और उनके खोने पर हम हताश न हों। बहुत सुन्दर प्रश्न है यह। महत्त्वपूर्ण केवल यह नहीं कि हम वस्तुओं को खो चुके हैं, महत्त्वपूर्ण यह भी है कि जब वह वस्तु हमारे अधिकार में थी, हमारे पास थी, चाहे हमारा कोई सगा–सम्बन्धी था, चाहे हमारी धन–सम्पत्ति थी, हमारा कोई पद था, सामाजिक हैसियत थी, तो उसकी प्राप्ति के समय जब वह वस्तु हमारे अधिकार में थी, हमारे पास थी तो उस वस्तु से जो हमें आनन्द मिलता है, उस आनन्द का हम क्या करें? प्रायः लोग हमसे यह प्रश्न पूछते हैं। बहुत सुन्दर प्रश्न है लेकिन मैं उनसे प्रश्न पूछता हूँ कि जिन वस्तुओं को हम अपने आनन्द का कारण मानते हैं–हम समझते हैं कि अमुक–अमुक वस्तुएँ हमें आनन्द दे रही है, क्या यह हमारा आनन्द विषय–जनित है? क्या बाह्य पदार्थ हमें आनन्द दे रहे हैं?

यहाँ पूर्वी और पश्चिमी विचारधाराओं में अन्दर आ जाता है। पश्चिम देशों की

नकल में हम भी यह समझने लगे हैं, कि हमें वस्तुएँ आनन्द देती हैं, जबकि ऐसा सोचना हमारी बहुत बड़ी भूल है। उदाहरण के लिये आपके सम्मुख विभिन्न प्रकार के व्यंजन खाने के लिए तैयार पड़े हैं और यदि हमारी मानसिक स्थिति अच्छी नहीं है, हम उदास है, चिन्तित हैं, किसी प्रकार से भयभीत हैं तो वह भोजन हमको कभी भी अच्छा नहीं लगेगा। **इसका अर्थ है यदि भोजन में आनन्द होता, तो वह हमको उस स्थिति में भी आनंद देता।** दूसरा उदाहरण–मान लीजिये, हम कुछ व्यक्ति टी. वी. पर बहुत सुन्दर पिक्चर या दृश्य देख रहे हैं। इनमें से कुछ लोग बहुत गहन ध्यान और एकाग्रता से उस पिक्चर का आनन्द लेते हैं तो कुछेक बोर होकर वहाँ से उठ जाते हैं और कुछ मज़बूरी से वहाँ बैठे रहते हैं। यदि पिक्चर में आनन्द होता तो सभी लोग उससे आनन्दित क्यों न होते? दूसरा–जिस दृश्य से हम आज आनन्दित हो रहे हैं, कल शायद हम उसी दृश्य को देखना भी न चाहें अर्थात् यह दृश्य हमको आनन्द नहीं दे रहा है। यह आनन्द दृष्टा का है जो कि उस दृश्य में भास रहा है और हम समझते हैं, कि दृश्य आनंद दे रहा है। इसी प्रकार अन्य भोग–सुख हैं जैसे स्पर्श का आनंद, संगीत का आनंद आदि। यदि हमारा मन अच्छा न हो, हमें प्रसन्नता न हो, अन्दर से आनन्दित न हो, तो उस संगीत को भी हम सुनना नहीं चाहते। **जिन्हें हम वस्तु–जनित आनन्द मानते हैं, वास्तविकता यह है कि वह आनन्द हमारे भीतर का है और गफलत में हम यह मानते हैं कि वस्तुएँ हमें आनन्दित कर रही हैं। इसी गफलत के कारण आज दुनिया में भटकन बढ़ गई है। बहुत जल्दी–जल्दी हमारे विचार बदलते हैं। हम अपने कार्य बदल लेते हैं, अपने रहने के स्थान बदल लेते हैं केवल उस आनंद की होड़ में।** उस आनंद को पाने के लिये जो कि हमारे भीतर ही है और हमारा है, हमारी निजी सम्पत्ति है। उसका जगत की वस्तुओं से कोई सम्बन्ध नहीं है, यह बहुत बड़ा आध्यात्मिक रहस्य है, जिसको हमारे ऋषियों, मुनियों ने आज से हज़ारों वर्ष पहले हिमालय की कन्दराओं में बैठकर खोजा। डिप्रैशन में जब हम किसी वस्तु को खो देते हैं और उसको दोबारा पाने की कोई संभावना नहीं होती, तो उसके साथ जो हमको तथाकथित आनन्द की अनुभूति हुई थी, उसको खोने की डिप्रेशन हो जाती है। यदि हम इस सत्य को विचार ले, समझ लें, पकड़ ले

तो हमे कुछ भी फर्क नहीं पड़ेगा। हमारा जीवन उसी शान्त गति से फिर चलने लगेगा।

अब आइये, भविष्य की आकांक्षाओं हेतु निराशा या डिप्रेशन के बारे में—हम अपने बच्चों के भविष्य के बारे में, अपने भविष्य के बारे में, अपनी हैसियत, पद इत्यादि वही बातें जो मैंने भूतकाल की डिप्रेशन के बारे में, बताई हैं, कि हम अपने दिमाग में, अपने हिसाब से एक पिक्चर बना लेते हैं, कि मेरा बच्चा बड़ा होकर यह बनेगा, मैं इस उम्र में यह प्राप्त कर लूंगा, इतनी बड़ी सम्पति का मालिक हो जाऊँगा, मेरी यह पदवी हो जायेगी, मेरी शक्तियाँ इतनी बढ़ जायेगी। इन सब बातों की जब हम एक निरर्थक पिक्चर बना लेते हैं और समय आने पर जब हम अपने—आपको अक्षम पाते हैं, तो वह जो एक आकांक्षा जिसकी हमने एक पिक्चर दिमाग मे बनाई हुई थी, वह हमको खोई—खोई सी नज़र आने लगती है और हम डिप्रेशन में उतर जाते हैं। भूतकाल की डिप्रेशन का फार्मूला यहाँ भी लागू होता है।

किसी भी महत्वाकांक्षा को जब हम लेते हैं, कि मेरा बच्चा इतने वर्ष की आयु में यह बन जायेगा या मेरी सम्पत्ति इतने वर्षों बाद इतनी हो जायेगी या मेरा पद इतने सालों में यह हो जायेगा, यह सब महत्त्वाकांक्षाएं जब हम मन में पाल लेते हैं, तो उसके साथ यदि हम एक प्रश्नसूचक चिन्ह लगा लें, बहुत गौर करने का विषय है, उन महत्त्वाकांक्षाओं के साथ—साथ यदि एक प्रश्न अपने से साथ ही साथ पूछ लें कि फिर क्या? अगर मैं पूरे संसार का धन अपने घर में इकट्ठा कर लूँगा, तो क्या हो जाएगा? जिस पद की मैं इच्छा कर रहा हूँ अगर उससे बड़ी भी और सबसे बड़ी पदवी भी मुझे मिल जायेगी, तो क्या हो जाएगा? यदि मेरा बच्चा यह बन भी गया जो मैं चाह रहा हूँ, तो फिर क्या हो जायेगा? यदि इतनी बड़ी सम्पत्ति का मैं मालिक हो भी गया तो फिर क्या हो जायेगा? यह डिप्रेशन से दूर होने का बहुत विचारणीय विषय है। हमारी महत्वाकांक्षाओं के साथ यदि हम, '**तो क्या होगा**?' भी लगा दें तो उस वस्तु के प्राप्त होने पर हमें बहुत खुशी नहीं होगी और प्राप्त न होने की हमको डिप्रेशन नहीं होगी क्योंकि कोई पद, कोई हैसियत, कोई धन, कोई सम्पत्ति हमको स्थाई खुशी नहीं दे सकती, सत्य यही है।

तीसरा, जो व्यवहारिक जगत में आज बहुत अधिकतम निराशा का

समावेश है, वह है पारिवारिक कलह। पति–पत्नी की आपस में कलह रहना और संयुक्त परिवार में सास–बहू अन्य रिश्ते–नाते जो हमसे एकात्मक नहीं होते, उनके साथ रहने का मानसिक बोझ, यह हमारे रोज़मर्रा के जीवन में निराशा का कारण है। हम कार्य कर रहे हैं, व्यवसाय कर रहे हैं, उसमें कई प्रकार से असंतुष्टि, अधिक कार्य का होना, अधिक लाभ न होना और अपेक्षित संतुष्टि न होना आदि को लेकर हम अपने मन में निराश हो जाते हैं। स्वास्थ्य भी हमारे डिप्रैशन का एक कारण बन जाता है। इसके अलावा अन्तर्निहित भय, अपनी संतान का भय, उसके स्वास्थ्य का भय, अपने धर्म का, सम्पत्ति का, अपने पद की चिंता यह हमारे वर्तमान डिप्रैशन के विभिन्न कारण हैं। इनके लिये भी हमको विचार करना होगा।

दवाईयों का सेवन हमारी मूल समस्याओं को दूर नहीं कर सकता। हमको विचार करना होगा कि आखिर हम चाहते क्या हैं? क्या हम उन परिस्थितियों को जो हमें निराश करती हैं, उनको बदल सकते हैं? ऐसी परिस्थितियाँ जिनको हम अपनी इच्छा–शक्ति से, अपना मन बनाकर बदल सकते हैं और उनकी बदलने से हमारी निराशा या डिप्रेशन दूर होती है, तो थोड़ा बहुत नुकसान उठाकर भी हमको उन परिस्थितियों से छुटकारा पाने में देर नहीं करनी चाहिये, लेकिन कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं, जिनसे हम छुटकारा नहीं पा सकते और वे हमारे डिप्रैशन का कारण होती हैं। ऐसे समय में उस डिप्रैशन से हम कैसे मुक्ति पाएं? हम एक परिस्थिति को बदल नहीं सकते और वह हमारे मानसिक तनाव का कारण बनी हुई हैं, तो ऐसी अवस्था में उसको देव इच्छा समझ लें। **ईश्वर इच्छा समझकर हम अपनी इच्छा को उसकी इच्छा में तहे–दिल से विलीन कर दें और यही समझ लें कि हमारे जीवन के तप का यह अंग बन गया है। कभी देव इच्छा होगी, तो हमें इस स्थिति से छुटकारा मिलेगा।** तो यही कठिन परिस्थिति, जो हमारे मानसिक तनाव का कारण बनी हुई है, हमारे लिये आनन्दमयी हो जाती है।

दुर्भाग्य यह है कि जब यह डिप्रेशन असहनीय हो जाता है, तो लोग अक्सर दुर्व्यसनों में घिर जाते हैं। धूम्रपान तो आम बात है, शराब पीने लगते हैं, दवाएँ खाने लगते हैं। यह महादुर्भाग्य है कि यह नशे भले ही हमें थोड़ी देर तक इस सामान्य संसार से परे ले जाए, लेकिन ये हमारे लिये महाघातक बन जाते हैं। बिना नशों के,

विचार द्वारा, इच्छाशक्ति द्वारा, ईश्वर कृपा द्वारा हम डिप्रैशन से छुटकारा पाने की सोच सकते हैं, लेकिन नशों से ग्रसित होने के बाद यह कार्य और भी दुस्तर हो जाता है। लोगों के लिये तनाव से मुक्ति पाने के लिये शराब का प्रचलन आज के युग में अत्यधिक महत्व रखता है। हम लोगों के लिये जो बहुत बड़ा दुर्भाग्य का विषय है, जैसा कि मैं अपने पूर्व अध्याय में कह चुका हूँ कि **दर्शन वह विज्ञान है, वह आत्मानुभूति है, जहाँ मनुष्य–मस्तिष्क जवाब दे देता है।**

मैं उन दुर्व्यसनों की विशेषकर शराब के दर्शन को आपके सम्मुख रखूँगा। इसके भौतिक नुकसान क्या है? शारीरिक नुकसान क्या है? यह आप लोग जानते हैं, पीने वाले भी जानते हैं लेकिन शराब का जो दर्शन है, वह मैं आपके सम्मुख रख रहा हूँ, जो मैंने आत्मानुभूति द्वारा, समाधि द्वारा पाया है और अन्तराष्ट्रीय स्तर पर परखा है। यदि आप शराब पीते भी नहीं हैं और आपने घर में शराब रखी है, किसी सगे–सम्बन्धी के लिये, दोस्तों के लिये तो घर में शराब रखना भी कितना बड़ा कष्ट का हेतु बन जाता है, इसके दर्शन के बारे में बताता हूँ। **जिस घर में भी शराब है, वहाँ दो वस्तुएँ अवश्य होती हैं। उस घर में अकारण कलह अवश्य रहती है। पति–पत्नी के बीच तनावित संबंध अथवा संतान की समस्या, कोई किसी सगे–सम्बन्धियों की समस्या, विचित्र प्रकार का रोग, मुकदमेबाजी, दुर्घटनाएँ, विभिन्न प्रकार के कलह आदि उस घर में अवश्य व्याप्त रहेंगे।** अर्थ यह नहीं है, कि जहाँ शराब का इस्तेमाल नहीं है, वहाँ इस प्रकार की घटनाएं नहीं होतीं, लेकिन जिस घर में शराब का प्रवेश है, वहाँ ये अवश्य होती हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है।

दूसरे, उस घर में कभी भी धन की ओर से संतुष्टि नहीं होगी, धन की बरकत नहीं होती, भले ही आप लाखों रुपया रोज कमाएं! यदि कोई शराब रखने वाला या पीने वाला व्यक्ति यह कहे कि मुझे धन की ओर से पूर्ण संतुष्टि है और मेरे घर में कोई कलह नहीं है, क्लेश नहीं है, तो समझ लीजिये वह व्यक्ति झूठा भी है। ऐसा क्यों होता है? यह एक वेदान्तिक दर्शन है। **शराब को हमारे शास्त्रों ने घोर पाप कहा है, केवल दुर्व्यसन ही नहीं घोर पाप।** हमारे चिकित्सा–विज्ञान में पीड़ा की जिस प्रकार श्रेणियाँ होती हैं–इसी प्रकार **हमारे**

शास्त्र में छः प्रकार के पाप माने गये हैं. सामान्य पाप, पाप, जघन्य पाप, घोर पाप, महापाप और अकाट्य पाप अन्तिम अकाट्य पाप हैं, जिसको प्रभु भी क्षमा नहीं कर सकते। हाँ, संत अवश्य क्षमा कर सकता है। इसी प्रकार शराब चौथी श्रेणी के, घोर पाप में आती है, इसके लिये कोई बौद्धिक स्पष्टीकरण हम नहीं दे सकते। इसके वेदान्तिक दर्शन के अनुसार हमारा बाह्य जगत, हमारे भीतरी जगत का बाह्य प्रगटीकरण है। यूँ समझ लीजिए कि हमारे मस्तिष्क में एक कैसेट है जिसमें हमारी वृत्तियाँ अंकित हैं। कुछ वृत्तियाँ हम पैदा होते समय साथ में लेकर आते हैं और कुछ हम अपने कर्मों द्वारा, अपनी सोच द्वारा, उपासना द्वारा उत्पन्न करते हैं, बनाते हैं। वे वृत्तियाँ हमारे सन्मुख कभी न कभी हमारा जगत बनकर खड़ी हो जाती हैं और यह है किसी व्यक्ति का संसार। यह परिभाषा संसार की शायद आपने पहले कभी न सुनी हो।

प्रत्येक व्यक्ति का अपना संसार है। जो कुछ हम बाहर स्वयं प्रगट कर रहे हैं, जो कुछ हमारे बाहर प्रकट हो रहा है हमारी देह के सहित, हमारे सगे–संबधी, हमारी आर्थिक स्थिति, हमारी पढ़ाई–लिखाई इत्यादि–इत्यादि, यह सब कुछ हमारी भीतरी वृत्तियों का बाह्य प्रगटीकरण है। कुछ वस्तुओं के सेवन या चिंतन मात्र से हमारे भीतर की रिकार्डिंग में बाधा आ जाती है। जैसे किसी कैसेट में जैसी रिकार्डिंग होगी उसका प्रगटीकरण भी वैसे ही होगा। उसी प्रकार इन दुर्व्यसनों से अंदर की तमाम रिकार्डिंग गड़बड़ा जाती है। अब प्रश्न यह उठता है कि उसे हम किस प्रकार सुधारें? उस ऊट–पटांग की, उस फजूल की रिकार्डिंग को कैसे रोकें?

मनुष्य मस्तिष्क और मन हमेशा कुछ न कुछ सोचता है और कुछ न कुछ निर्माण अथवा संहार करता रहता है। आप कभी शान्त स्थान पर बैठकर विचार करें तो आपको मालूम चलेगा कि हमारा दिमाग कुछ न कुछ बना–मिटा रहा है। गहन विचार करें, तो हमको मालूम चलेगा कि छः बहुत बुद्धिमान व्यक्तियों की भी सोच, बहुधा निरर्थक होती है। उसका अर्थ जीवन की किसी उपलब्धि के साथ नहीं होता। उस सोच को हम कैसे समाप्त करें? उसको कैसे रोके, यहाँ पर हमारे महापुरुषों ने जाप का महत्व बताया है, जो एक बहुत वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक तथ्य है, सत्य है।

एक राजा ने एक भूत को नौकर रखा और भूत की शर्त यह थी कि वह कोई

तनख्वाह नहीं लेगा, लेकिन निरंतर उसको कुछ न कुछ कार्य बताना होगा। जब राजा उसको कार्य नहीं बताएगा, तो वह राजा को खा जायेगा। राजा को भूत की शर्त अच्छी लगी, क्योंकि उसके राज्य में तो हज़ारों काम थे और मुफ्त का नौकर मिला था। राजा ने उसको कार्य कहने शुरु किए। बड़ी शीघ्रता से वह कार्य कर लेता था। अंत में सारे कार्य खत्म हो गये, तो राजा चिंतित हो गया। उसके एक बुद्धिमान मंत्री ने उसको परामर्श दिया, कि महाराज ! आप राज–भवन में एक सीढ़ी लगा दीजिए और जब कोई कार्य न हो तो आप इस भूत को आदेश दीजिए, कि वह सीढ़ी के ऊपर चढ़े और उतरे, फिर चढ़े और उतरे और कार्य होने पर फिर आप इसको काम दे दें। यह सुझाव बड़ा अच्छा था और राजा को इससे बड़ी शांति मिली। इसी प्रकार हमारे अंदर अथाह मानसिक शक्ति है जिसका हम अत्यधिक सुन्दर सदुपगोग कर सकते हैं लेकिन जब हम इसको खाली बैठने देते हैं, तो यही मन हमारे लिए विनाशकारी बन जाता है।

इस मन को व्यस्त करने के लिये जब यह खाली हों, तो जाप एक बहुत उत्तम उपाय है। जीवन को सुंदर बिताने के लिए हमें किसी की निंदा, चुगली में समय व्यर्थ नहीं करना चाहिए। किसी की ज्यादा आलोचना नहीं करनी चाहिए, किसी का बुरा नहीं सोचना चाहिए। जब हमने बुरा सोच लिया, तो उस व्यक्ति का पता नहीं बुरा होगा कि नहीं, लेकिन हमारे मानस पटल पर बुरी रिकार्डिंग आ जायेगी। दुर्घटनाओं का जिक्र ज्यादा न करें, क्योंकि ऐसी निरर्थक बातों से हमारे मानस पटल पर निरर्थक रिकार्डिंग हो जाती है। वे कभी न कभी हमारे जीवन में हमें सामने दिखाई देने लगती हैं और उस समय हम परेशान हो जाते हैं। उन परेशानियों से बचने के लिये हम दुर्व्यसनों का सहारा लेते हैं और उन दुर्व्यसनों में पड़कर हम अपने जीवन को और अधिक भयानक एवं निरर्थक बना लेते हैं।

जब किसी व्यक्ति का कोई अति घनिष्ठ सम्बन्धी इस संसार से चला जाता है तो वहाँ निराशा अधिकतम होती है। यदि अति सूक्ष्म चिंतन करें, तो हम पाएंगे कि हम उस व्यक्ति को नहीं, बल्कि उसके साथ जो हमारा सम्बन्ध था, हम उस संबंध को याद करते हैं और उसकी पुनरावृत्ति की संभावना न होने के कारण हम डिप्रेस हो जाते हैं। थोड़ा गभीर विषय है। जब हम उस व्यक्ति के बारे में कुछ सोचते हैं, विचार

करते हैं, याद करते हैं, तो हमारे हृदय पटल पर हमारी मति से कुछ ऐसे दृश्य निकलते हैं, जिसमें हमने और उसने कुछ सुखद या कुछ अन्य प्रकार के जीवन के क्षण बिताए होते हैं। वे क्षण, वे यादें, हमारे डिप्रेशन को बढ़ाने का कारण बन जाते हैं। यदि उन दृश्यों में से हम स्वयं को निकाल दें, जो दृश्य, जो यादें हमें आती हैं उस व्यक्ति के साथ के कारण, तो वे यादें समाप्त हो जाती हैं। थोड़ा और सूक्ष्म अध्ययन करें तो हमारा वह व्यक्तित्व जो उस व्यक्ति के साथ था, वह अब नहीं है। वह हमारा एक रूप था, हमारे जीवन का एक भाग था, वह एक अलग व्यक्तित्व था जो उस व्यक्ति के साथ उसके जीवित रहते समय था और वह व्यक्तित्व अब समाप्त हो चुका है।

यदि अपने उस व्यक्ति और उस व्यक्तित्व को हम धारणापूर्वक, जैसे हम किसी मृतक का श्राद्ध करते हैं या अन्य कर्मकाण्ड होते हैं, उसी प्रकार अपने उस रूप और उस व्यक्तित्व को भी हम किसी कर्मकाण्ड द्वारा, विचार द्वारा, धारणा द्वारा, शक्ति द्वारा समाप्त कर दें अपने हृदय से, मन से, बुद्धि से, अपनी स्मृति से निकाल दें, तो हम देखेंगे कि हम अपने अति घनिष्ठ, अपने प्रिय को भूल जाएंगे और उसकी स्मृति हमें कोई प्रभाव नहीं डालेगी। यह गहन चितन का विषय है। इस प्रक्रिया से किसी भी प्रकार की डिप्रेशन, किसी व्यक्ति के खो जाने से या तो समाप्त हो जाती है और या बहुत कम हो जाती है।

जीवन तो जीवन ही है, न जाने किस समय यह क्या मोड़ ले ले? क्या परिस्थिति किसी के सामने आ जाए? कौन हमसे बिछुड़ जाए और कौन हमसे मिल जाए? यदि हम गहन चिंतन और विचार द्वारा इस सत्य को पकड़ लेते हैं तो हमारा जीवन सुख और शांति पूर्वक चलता रहता है। क्योंकि पैदा होते समय हम किसी सगे–सम्बन्धी को अपने साथ नहीं लाये और हमारी मृत्यु के समय, इस संसार के सारे सम्बन्ध हमसे अवश्य छूट जाएगे। यह सारे संबंध केवल मध्य के हैं। सम्बन्ध बनते रहते हैं, बिगड़ते रहते हैं। यदि हम कुछ व्यक्तियों के कारण ही अपने जीवन में डिप्रेशन को लाकर इसको बर्बाद करें, नष्ट करें तो जीवन निरर्थक हो जाएगा। हमें इस सत्य को पकड़कर इसका नित्याध्यासन करते हुए, उस पर बार–बार विचार करते–करते, अपने मन को उसी के अनुसार बना लेना चाहिए, क्योंकि जीवन का

एक क्षण भी बिना आनन्द के बिताना एक बहुत बड़ा निरर्थकता का सूचक है।

यदि कोई मुझसे पूछे कि सबसे बड़ा पाप क्या है? मैं उसका यही उत्तर दूँगा कि **जीवन का एक क्षण भी निराशा में बिताना, चाहे वह किसी व्यक्ति के लिए हो, धन–सम्पत्ति, सन्तान, पद–पदवी या किसी भी कारण से हो, वह महापाप है।** ईश्वर ने जो सच्चिदानंद है, हमें यह जीवन आनंद के लिए दिया है। हमारे जीवन का हर क्षण, हर पहलू, जागृति, सुषुप्ति, समाधि, तुरीय एवं स्वप्न सब आनंदपूर्वक बीतना चाहिए।

उस आनंद के निरंतर बोध के लिए यह आवश्यक है, कि हम इस संसार की किसी वस्तु पर अपना अधिकार न समझे और न जताएं। यहाँ हमारा कुछ भी नहीं है। जिसे हम अपना जीवन कहते हैं, यह भी हमारा नहीं है, हमें दिया गया है और हमसे कभी भी वापिस ले लिया जाएगा। हम जो कुछ भी करें, उस सर्वशक्तिमान परमात्मा के निमित्त करके, अर्पित करके करें वरना यहाँ किए गए किसी भी कर्म का हमको आनंद नहीं आएगा। किसी कार्य में जहाँ भी हम अहम् भाव लाएगे, जीवन का आनन्द किरकिरा हो जाएगा, कुछ खोया–खोया सा महसूस होने लगेगा। इस संसार में, इस जीवन मे, कुछ भी हमारे हाथ नहीं है, इसलिये प्रभु ने जितना समय हमें दिया है उसको हम अति आनन्दपूर्वक बिताएं। हर क्षण, हर उसके सम्मुख रहें तो जीवन अति आनन्तपूर्वक बीतने लगता है।

एक उपासक होने के नाते निराशा या डिप्रेशन का छः विशिष्ट पहलू भी मैं आपके सम्मुख रखना चाहता हूँ। इस डिप्रेशन का एक और प्रकार भी है, जिसको शायद आप में से किसी न किसी ने अवश्य अनुभव किया होगा। यह जीवन के लिये अति सुखद है, अति सुखद। आप सुनकर हैरान होंगे कि ऐसी डिप्रेशन कौन सी है जो जीवन को बहुत सुख देती है। **वह है ईश्वरीय डिप्रेशन, अपने खुदा, अपने परमात्मा से जुदा होकर, उससे परे होकर, उसकी याद, उसका निरतंर चिंतन और उसको मिलने की तड़प।** यह एक ऐसी आनन्दमय डिप्रेशन दे देती है, उसमें एक पागलपन हो जाता है, एक नशा सा हो जाता है। कहा जाता है, कि जब भक्त विरह की अग्नि में, बिछुड़ने के कल में अपने इष्ट के लिए तड़पता है तो उसके मुँह से अलफाज़ निकलते हैं–

कोई किसी के साथ है कोई किसी के साथ,
मेरी तो जिंदगी है फ़कत आप ही के साथ,
तुम मुस्कुरा के देख लो, ज़नत है ज़िन्दगी,
तुम फेर लो नज़र तो कयामत है ज़िन्दगी।

उपासक को अपने इष्ट से मिलने की खुशी का आनन्द तो होता ही है, उससे बिछुड़ने में लेकिन जो तड़प होती है, जब वह उसको, उस परमसत्ता को याद करता है, उसकी याद सताती है, तो उस तड़प का भी एक आनन्द होता है। एक ही पुकार होती है, 'ऐ मेरे आका! हे खुदा! मुझे कुछ भी दे पर उसका ताल्लुक तुझसे और केवल तुझसे ही हो।' उसके इश्क में, उसकी मोहब्बत में आबादी हो जाए या फिर बरबादी, दोनों के आनंद में कोई फर्क नहीं होता, खुशी मिले या ग़म, कहा है–

मुझे ग़म भी उनका अजीज है, कि उन्हीं की दी हुई चीज़ है।
मुझे तुमसे कुछ भी न चाहिए, मुझे मेरे हाल पे छोड़ दो।।

उस ग़म का एक नशा होता है, मज़ा आता है उसमें, उसके इश्क में, कुछ खोने में, या कुछ पाने में कोई भेद नहीं रहता। अब आप इसको डिप्रेशन कहें या कुछ भी कहे, यह एक आत्मानुभूति का विषय है जो अपने उस परम प्यारे से, उस इष्ट से, अपने उस आत्मस्वरूप सच्चिदानंद परमात्मा से बिछुड़ने के बाद होती है। वह भी एक डिप्रेशन की प्रकार है, जो मानव जीवन का मदमस्त कर देती है, आनन्दित कर देती है। उस डिप्रेशन मे, जो आँखो से अश्रु बहते हैं, वे हृदय को शांत कर देते हैं। उस प्रभु से यह प्रार्थना करे, ''हे प्रभु, यदि मुझे ऑसू ही देने हैं तो मुझें अपने 'यार में, अपने मोह के अश्रु दो।" सांसारिक वस्तुओं के लिये बहाये गए आँसू हृदय में जलन पैदा करते हैं, दुखों को बढ़ाते हैं, जबकि ईश्वर मोह में बहाये गए आँसू हृदय को शांत कर देते हैं, हृदय का मैल धुल जाता है, मल हट जाता है, विक्षेप समाप्त हो जाता है और उसके बाद आवरण हट जाता है।

मल, विक्षेप और आवरण, इन तीन वस्तुओं का ताल्लुक हमारे चित्त से है, हमारे मन से है। हमारा हृदय मलिन होता है तो उसको कहा है मल, जब मोह के और प्रेम के अश्रु बहते हैं भक्त के, उपासक की आँखो से, उसका मल हट जाता है, मल समाप्त हो जाता है, शुद्धि हो जाती है, हमारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और

विक्षेप समाप्त हो जाता है। कोई ग़म नहीं रहता, संदेह नहीं रहता। इन दोनों मल और विक्षेप के हटने से, आवरण अर्थात् पर्दा स्वयं ही हट जाता है। **पर्दा उठे सलाम हो जाये।** अपने यार का दीदार हो जाता है, उसकी झलक आ जाती है, उस परम सता का भास हो जाता है। **एक बार आवरण हटता है, तो दोबारा कभी नहीं पड़ता।** इतनी शक्ति है इस प्रेम के, इस मोह के मिलने अथवा बिछुड़ने क आँसुओं में जो ईश्वर से मिलकर या बिछुड़कर बहते हैं। यह डिप्रेशन भी जीव को तार देती है, उसका आवरण हटा देती है। देखिये, कितना अंतर है सांसारिक डिप्रेशन में, और ईश्वरीय डिप्रेशन में।

मैंने संक्षिप्त वर्णन इसलिये किया है कि हम सब अंधेरा ढो रहे हैं। जीवन प्रारम्भ होते ही एक पुकार होती है, शिशु चिल्लाता है, रोता है। मृत्यु के समय भी एक चीख–पुकार होती है। तो जीवन क्या है? ये दो चीख–पुकारों के बीच एक चिल्लाहट, एक रुदन से जीवन शुरु हुआ और रुदन में जीवन समाप्त होता है और बीच में भी यही स्थिति है। कोई धन के लिए रो रहा है, कोई स्त्री के लिए, कोई सन्तान के लिए, कोई पद के लिए, कोई सम्पत्ति के लिए, कोई नाम के लिए, कोई यश के लिए। तो यदि रोना ही है, यदि चिल्लाना ही है, यदि ग़मगीन रहना है, तो आइए, हम अपने प्रभु के लिए रोएं, अपने सच्चिदानंद स्वरूप को याद करें। आप में से कुछ लोगों ने रसायन शास्त्र पढ़ा होगा। एक कोयला होता है और एक हीरा। रसायनिक क्रिया के अनुसार दोनों ही कार्बन हैं लेकिन दोनों में अंतर है। एक हीरा कार्बन का शुद्धतम रूप है, जबकि जलने वाला कोयला अशुद्धतम। **हमारे में, और उस सच्चिदानन्द स्वरूप में यही अंतर है, कि वह हमारा शुद्धतम रूप है और हम अशुद्ध।** लेकिन दुर्भाग्य यह है कि हम अशुद्ध नहीं है। हम अशुद्ध सा महसूस कर रहे हैं। हमारे प्रदूषित विचारों ने हमें अशुद्ध सा कर दिया है। इस अशुद्धता को, इस अशुद्धता के भाव को मिटाने के लिये हमें रोना होगा। अपने इस विशुद्ध स्वरूप परमात्मा के सम्मुख बैठकर अपने पुण्यों–पापों की, कर्मों की जो बोरियाँ हम ढोए हुए हैं, अशुद्धता के भाव जो अपने ऊपर लादे हुए हैं, उनको हटाना होगा। अभी हटाना होगा तुरन्त, क्योंकि न जाने जीवन का अगला क्षण आये, न आये। उसके दरबार में हमको चिल्लाना होगा, 'मैं तुमसे अभी, इसी वक्त, मिलना

चाहता हूँ।' अपने उस विशुद्धतम स्वरूप, जो सच्चिदानंद है, उससे मिलने का आपको अधिकार है, जन्मसिद्ध अधिकार है। आपके ह्रदय में जब बगावत हो जाती है तो आपको अपना अधिकार पाने के लिये एक प्रबल जुनून उठ जाता है, आपको स्वयं का स्वरूप वह सच्चिदानन्द आपको एक झलक देता है और जीवन की सारी निराशा दूर हो जाती है।

कहाँ तक खाएगें हम दवाएँ? कहाँ तक करेगी यह हमारी निराशा दूर? हमें आज ही अपने ऊपर से सारे बोझों को, जो हमारे ऊपर पड़े से हुए हैं, उनको उतारना है। हमारे ऊपर कोई बोझ नहीं है, **हम स्वयं को बोझिल से समझे हुए हैं, सबसे बड़ा दुर्भाग्य हमारा यही है। हमारा कोई बन्धन नहीं है। हम बंधे से हुए हैं। हम गिरे हुए नहीं है, हम गिरे से हुए है। हम ईश्वर से दूर नहीं है, ईश्वर से दूर से हैं।** देखिए, जब अंधकार होता है, गहन अंधकार, उस अंधकार में जमीन पर पड़ा हुआ साँप **नज़र नहीं आता और जब प्रकाश होता है, तो वह स्पष्ट नज़र आ जाता है। परन्तु जब भ्रम होता है तो वह केवल उस अवस्था का होता है जहाँ न अंधकार है, न प्रकाश। संध्या बेला है, जब अंधकार भी होता है और हल्का सा प्रकाश भी तो उसमें जमीन पर पड़े हुए साँप और रस्सी में भ्रम हो जाता है।** इस भ्रम ने ही हमारे जीवन को बहुत पीछे धकेल दिया है, अंधकार में हमको। अंधकारमय जीवन में हमको उस साँप का भय नहीं होता, क्योंकि वह साँप हमको नज़र ही नहीं आता और प्रकाशमय जीवन में कोई भ्रम नहीं होता है, क्योंकि सबकुछ नज़र आता है लेकिन भय तब होता है, जहाँ न प्रकाश होता है, न अंधकार। **हम इस संध्या की सी स्थिति में जीवन बिता रहे हैं।**

हमारी सोच अस्पष्ट है। हम स्पष्ट सोच नहीं पा रहे हैं। हमारे विचारों में मलिनता आ चुकी है। हमें इसी समय, इसी मलिनता को हटाना होगा, इस संध्या को हटाना होगा अभी, ताकि हमारे सम्मुख प्रकाश नज़र आये। उस प्रकाश में हमारा भय समाप्त हो जायेगा, क्योंकि सब कुछ हमें स्पष्ट नज़र आने लगेगा। हमारी डिप्रेशन समाप्त हो जायेगी। जीवन आनन्द में शुरु होता है और आनंद में समाप्त होता है और इसके बीच के आनंद का हमको भास होने लगेगा!

ईश्वरीय आनन्द में हमको जीवन मिला है और ईश्वरीय आनन्द में जीवन समाप्त होता है। मध्य का प्रत्येक पहलू हमारे लिये आनंदमय बन जायेगा यदि हम इस भ्रम को **'न ज्ञान है जहाँ, न अज्ञान है'** हटा देंगे, तो हमारे सम्मुख एक ज्ञानमय प्रकाश और उस प्रकाश में हमको जीवन का प्रत्येक पहलू स्पष्ट नज़र आने लगेगा।

इस से हमारा जीवन अवश्य आनन्दमय बन जायेगा। **दुर्भाग्यवश एक भ्रम की स्थिति में हम उन वस्तुओं के लिये निराश होते हैं, जो हमारे साथ आई नहीं थी और हमारे साथ जाएंगी नहीं।** ये वस्तुएँ हमें जीवन में बीच–बीच में मिलती हैं और बीच–बीच में हमसे बिछुड़ जाती हैं, फिर मिल जाती है। याद रखिए, जीवन की समाप्ति जिसे हम मृत्यु कहते हैं यह एक भ्रम है। जीवन कभी समाप्त नहीं होता जीवन निरंतर चलता रहता है। हम मिलते–बिछुड़ते रहते हैं, इस सत्य को हम नकार नहीं सकते। इसलिए यदि निराश ही रहना है, तो उस परम 'प्यारे के प्रेम में, उसकी मोहब्बत में, उस ईश्वरीय खुदाई इश्क में निराश हों, जो हमको सर्वदा उस परमानन्द से परिपूरित कर देता है। यह एक दृष्टिकोण है। हमने हज़ारों व्यक्तियों में डिप्रेशन को जॉचा है, कुछ लोगों के लिये वस्तुओं का मिलना या बिछुड़ना, खोना या पाना, लाभ या हानि उनके लिये आवश्यक नहीं होती, बस उनको तो निराश रहना है।

यदि कोई इस डिप्रेशन के दृष्टिकोण से उत्पन्न भी हुआ है, तो उस ईश्वर की इच्छा से, उस दृष्टिकोण का आनंद लिया जाए, उस डिप्रेशन को आनंद में परिवर्तित किया जाए। उस परम प्यारे की याद में, उसको मिलने की खुशी में आँसू बहें और उसके बिछुड़ने के ग़म में आँसू बहें, तो वे आँसू डिप्रेशन के आँसू होते हैं, जो उससे बिछुड़ कर बहाए जाते हैं, बहते हैं खुद–बखुद। वह आँसू, जीव का मल, विक्षेप एवं आवरण तक हटा देते हैं। **यदि हम भौतिक, सांसारिक डिप्रैशन को ईश्वरीय डिप्रेशन में बदल दे, तो जीवन आनन्दमय हो जाता है, अति आनन्दमय हो जाता है, भव्य हो जाता है, दिव्य हो जाता है।**

सांसारिक वस्तुओं के लिये जो डिप्रेशन है या मैं यहाँ तक कहूँगा कि उनको पाने की जो अत्यत खुशी भी है, ये दोनों मानसिक विकार है। हमारी परमानन्द की

एक स्थिति है जिसका नाम है **अभावमय आनन्द**। हमारा स्वरूप ज्ञान स्वरूप है, आनंद स्वरूप है, हमारे भीतर आनन्द का एक महास्त्रोत है, एक सागर है आनंद का, जो हमारा स्वरूप है और उसकी झलक, उसका भास करने के लिये हमें अर्न्तमुखी होना पड़ता है। यह देह एक किला है, जिस प्रकार किसी किले के अंदर कोई बहुत बड़ा असीम खजाना हो और उस किले की सुरक्षा के लिए बहुत भारी इन्तज़ामात हों तो उस खजाने को पाने के लिए, उस किले का भेदन करना पड़ता है, उसके लिये किला जीतना पड़ता है। इसी प्रकार उस महान आनन्द का स्त्रोत ,उसका सागर जो हमारे भीतर है, वह देह रूपी किले के अन्दर है। **इस एक देह को जिसको हम अपना स्वरूप कहते हैं, इसका भेदन करना होगा, इससे परे जाना होगा, समाधिस्थ होना होगा, उस एकान्त की स्थिति जहाँ एक का भी अंत हो जाता है। जब हम उस मानसिक स्थिति में पहुँचते हैं, तो समझिये हमने किला फतह कर लिया।** किला फतह करने के बाद हमें उसमें, उसके अन्दर उपस्थित उस महान आनन्द की अनुभूति होती है, जिसको शास्त्रकारों ने कहा है **अभावमय आनंद**। **वहाँ केवल आनन्द ही आनन्द होता है। वहाँ कोई वस्तुएं नहीं होती, प्रत्येक वस्तु का वहाँ अभाव होता है लेकिन आनंद होता है। उस आनंद के सागर हमारा सम्पूर्ण अधिकार है।** वह आनन्द हमारा है, हमारे लिये है तो उस आनंद की अनुभूति के लिये यह आवश्यक है, कि जैसे ही हमें कुछ भी समय मिले, हम उसकी अनुभूति के लिये लालायित हों वह हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है।

जब हम अपने भीतर निहित उस महान आनंद को खो देते हैं, भूल जाते हैं तो हम कुछ सांसारिक वस्तुओं के पीछे भागने लगते हैं। वास्तव में आनन्द हमारे भीतर का होता है। लगता ऐसा है, कि जैसे हमें वस्तुओं से आनन्द मिल रहा है और हमारा मन भटक जाता है। फिर हम किसी अन्य वस्तु के पीछे भागते हैं, उसके बाद किसी अन्य के पीछे। इस प्रकार हम इच्छाओं की पूर्ति के लिये भागते रहते हैं। एक इच्छा पूर्ण हुई, दूसरी शुरु हुई, दूसरी समाप्त हुई, तीसरी शुरु हुई। इन इच्छाओं का कभी अन्त नहीं होता।

इस जीवनकाल में ही हमको मुक्त होना है। मोक्ष–धाम में प्रवेश करना है।

तभी सांसारिक वस्तुओं के कारण, सांसारिक उपलब्धियों के कारण और उनके बिना हमें, जो निराशा या डिप्रेशन उत्पन्न हुई थी, वह पूर्णतया समाप्त हो सकती है। जीवन अति आनन्दित हो जाता है।

मैं आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि **यह जीवन फिर मिले न मिले, हमको आज ही, अभी ही मुक्त होना है। आइए, हम इस मुक्ति, इस मोक्ष के लिये अभी हुंकार करें, बगावत करे! यह हमारा जन्म–सिद्ध अधिकार है। हम बंधे हुए नहीं है। हमारा कोई कर्त्तव्य नहीं है, सब कुछ ईश्वर इच्छा से हो रहा है।**

।। जय जय श्री राम।।

ईश्वर इच्छा

इस समय प्रभु कृपा से और इष्ट इच्छा से जो विशेष विषय मैं आपके सम्मुख रख रहा हूँ, यह एक बहुत व्यवहारिक एवं बहुमूल्य विषय है और अपने दैनिक जीवन में इसका यदि हम सदुपयोग करें, इस पर विचार करें तो जीवन अति सरल एवं आनन्दमय बन सकता है।

उस सर्वशक्तिमान परमात्मा ने कितना वृहद कितना महान और कितने **विशालतम् ब्रह्माण्ड की संरचना की, जिसमें कोटि–कोटि जीव–जन्तु हैं। कोई मानव दूसरे मानव से नहीं मिलता। प्रत्येक का आकार–प्रकार, वर्ण, बुद्धि, शारीरिक एवं मानसिक क्षमताएं, भौतिक बल सब भिन्न–भिन्न हैं।** यदि हम स्वयं से यह प्रश्न करें कि क्या हम इस संसार में अपनी इच्छा से आए हैं? क्या हमें अपनी देह का यह आकार–प्रकार, विशेष मानसिक, शारीरिक और बौद्धिक क्षमता, विशेष प्रकार के माता–पिता, हमारे उत्पन्न होने का समय, विशेष स्थान, परिस्थितियाँ, देश–काल, इत्यादि क्या हमें अपनी इच्छा से मिली हैं? इसका बहुत सरल उत्तर है कि, **'नहीं'**। कोई महाशक्ति इस पूरे प्रकरण के पीछे काम कर रही है, जिसने एक–एक जीव की संरचना अपनी इच्छा से की है और उस जीव का सम्पूर्ण जीवन काल जन्म से लेकर मृत्यु तक, उस महाशक्ति को इच्छानुसार ही चलता है।

जैसा कि मैं पहले भी कई बार वर्णन कर चुका हूँ, यदि हम एकान्त में बैठकर कुछ विशिष्ट प्रश्नों के उत्तर ढूँढें कि जीवन में, अमुक–अमुक समय पर कोई अमुक–अमुक कार्य क्यों हुआ? हम उत्पन्न क्यों हुए? हमारा एक विशिष्ट प्रकार का जीवन क्यों है? हमारी मृत्यु कब, कहाँ और कैसे होनी है? तो मानव बुद्धि इसका उत्तर नहीं ढूँढ पाती। इस प्रश्न को बार–बार नित्याध्यासन करने से हम इष्ट कृपा, गुरु कृपा और आत्म–कृपा से इतना अवश्य जान लेते हैं, कि कोई ऐसी महाइच्छा है, महा–शक्ति है जो एक–एक जीव की संरचना, पालन और संहार अपनी इच्छा से करती है। मानव को एक विशेष प्रकार की बुद्धि और विवेक दिया गया है, तो क्यों न उस बुद्धि और विवेक द्वारा यह विचार किया जाये, कि हमें संसार में क्यों बुलाया गया है? हमसे वह महाशक्ति क्या करवाना चाहती है? प्रत्येक जीव का एक विशेष

मानसिक झुकाव होता है, विशेष प्रकार की प्रवृत्ति होती है और विशेष प्रकार की परिस्थितियाँ होती हैं, जो समय अनुसार बदलती रहती हैं। जब हम इस संसार में अपनी इच्छा से आए नहीं है, यहाँ की उपलब्धियाँ और विशेष कार्यक्रम हमारी इच्छा से नहीं होते हैं और हम संसार से अपनी इच्छा से जाते नहीं है, न जा सकते हैं तो फिर हमारी अपनी इच्छाओं का महत्त्व ही क्या है?

जहाँ तक मैंने इष्ट कृपा से, जो अनुभव किया है, वह यह कि हमारे कष्टों का और विक्षेपों का मुख्य कारण यह है, कि इस संसार में आने के बाद, जैसे ही हम होश संभालते हैं, हम इच्छाओं पर अधिकार करना चाहते हैं। उस प्रभु की इच्छाओं को, जिसकी इच्छा से ही हुमारी इच्छाएं उत्पन्न होती हैं, हम उन इच्छाओं को अपना मान लेते हैं और इच्छुक भी स्वयं बन जाते हैं और उन इच्छाओं का पूरक हम ईश्वर को मान लेते हैं। हम दैनिक जीवन में ऐसा देखते हैं, कि कुछ इच्छाएं पूर्ण होने के बाद जब उनका फल हमारे सामने आता है, तो हम विदीर्ण हो जाते हैं, अप्रसन्न हो जाते हैं। यदि इस प्रकरण में अत्यधिक विचार से कार्य लिया जाये, तो हम वास्तविकता की ओर अग्रसर होते हैं। **वास्तविकता यह है कि जिस महाशक्ति की इच्छा से हम इस संसार में आये हैं और जिसकी इच्छा से हमारा जीवन चल रहा है, जिसकी इच्छा से ही जीवन को विराम मिलना है, उसी की इच्छा से ही इच्छाएं उत्पन्न होती हैं। वह स्वयं, वह महाशक्ति ही हमारे भीतर इच्छुक बनकर उन इच्छाओं को जन्म देती है। वह रवयं ही इच्छापूरक बनकर उनकी पूर्ति करता है और उसके बाद जो इच्छाफल होता है, उसी की कृपा से ही हम उसका रसास्वादन करते हैं, आनन्द लेते हैं।**

अज्ञानवश और दुर्भाग्यवश, इस सृष्टि में पदार्पण होते ही और होश संभालते ही, हम न जाने कितने–कितने कर्मों का और कर्तव्यों का बोझा अपने ऊपर ढो लेते हैं। यह कोई भी विचार नहीं करना चाहता, कि क्या वह इस संसार में अपनी इच्छा से आया है? क्या वह इस संसार से अपनी इच्छा से जाएगा? यदि हमारा निर्माण किसी और शक्ति ने किया है और उसी की इच्छा से हम संसार में पदार्पण कर पाये हैं, तो क्या हमें यह जानना आवश्यक नहीं है, कि हमें यहाँ क्यों बुलाया गया है? क्या हमारी प्रत्येक इच्छा पर उसका अधिकार नहीं है? यदि यह छोटा सा रहस्य हमारे

पल्ले पड़ जाये, हम जान जायें इसे तो जीवन अति सरल हो जाता है। जब हमारे भीतर जो इच्छा है उसको हम ईश्वर इच्छा मान लेते हैं, जो सत्य भी है तो वह स्वयं ही उसके पूरक बनते हैं। हमें कोई भी कष्ट नहीं उठाना पड़ता। **उस इच्छा की पूर्ति के लिये स्वयं परिस्थितियों बन जाती हैं, स्वयं व्यक्ति मिल जाते हैं, साधन जुट जाते हैं, देश–काल सब अनुकूल हो जाते हैं और वह इच्छा स्वतः ही पूर्ण हो जाती है। क्योंकि ईश्वरीय इच्छा को ईश्वर स्वयं ही पूरा करते हैं और ईश्वर के लिये कुछ भी दुस्तर या कठिन नहीं है।** हम उस पूरे कार्यक्रम का आनन्द लेते हैं और उस इच्छा की पूर्ति के बाद जो उसका प्रतिफल मिलता है उसका अत्यन्त आनन्द से रसास्वादन करते हैं।

परन्तु इसमें एक विशेष बात जानने की यह भी है कि उस देवीय इच्छा के उत्पन्न होते ही हमारे हृदय में हर्ष, उल्लास और आनन्द की अनुभूति होने लगती है और उस इच्छा के अनुसार जब कार्य होने लगते हैं। तो उन कार्यों के बीच भी हम आनन्दित ही रहते हैं, उल्लसित ही रहते हैं और इच्छाओं की पूर्ति के बाद जो फल मिलता है, वह भी आनन्दमय ही होता है अर्थात् **तीनों आनन्द–इच्छा उत्पन्न होने से पहले का आनन्द और इच्छा पूर्ण होने में जो कार्यक्रम होता है उसका आनन्द और इच्छाओं का जो फल मिलता है उसका भी आनन्द, तो यह तीनों स्थितियाँ आनन्दमय ही होती हैं, यदि वे ईश्वरीय इच्छा हो।** प्रत्येक इच्छा ही ईश्वरीय है लेकिन अज्ञानतावश हम बहुत सी इच्छाओं पर अपना अधिकार जमा लेते हैं, कि यह मेरी इच्छा है। तो उससे हम स्वतः भाव का क्रम तोड़ देते हैं और इसमें रुकावट उत्पन्न कर देते हैं, अपनी तुच्छ बुद्धि द्वारा या मानसिकता के द्वारा। फलस्वरूप जब वह इच्छा कभी पूर्ण भी हो जाये, तो उसके फल के हमारे सम्मुख आने पर हम कई बार चिन्तित हो जाते हैं, विदीर्ण हो जाते हैं। **यह चारों प्रकरण इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक और इच्छाफल जो सभी ईश्वरीय हैं,** इनमें से यदि हम एक पर भी अधिकार करना चाहें या करने की कुचेष्टा करें, तो हम पाते हैं कि हमारा जीवन तनावित हो जाता है और आज संसार में तनाव का प्रमुख कारण यही है कि हम एक अज्ञान और एक निर्विचारता के जगत में जी रहे हैं।

एक छोटा सा तथ्य यदि हम प्रति सुबह अपने जीवन में धारण कर लें, कि हम इस संसार में अपनी इच्छा से नहीं आए हैं और जो कुछ भी हमें दैहिक या देह के साथ सबन्धित अन्य वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, वे भी हमारी इच्छा से नहीं है और इस संसार से जब हमको जाना है वह भी हमारी इच्छा से नहीं होगा। तो मध्य में हम अपनी इच्छाओं को जो हमारे हृदय में, मन में, बुद्धि में, ईश्वरीय कृपा से ही उठती हैं, उन पर हम अपना एकाधिकार जमाने वाले होते कौन हैं?

यहाँ कुछ लोग प्रश्न पूछते हैं कि यदि इच्छाएं ही नहीं होंगी, तो संसार कैसे चलेगा? उनके लिये बहुत सरल उत्तर यह है कि संसार का निर्माण किससे हुआ है? यदि हम स्वयं से पूछें कि यह विशालतम् महासागर, यह अद्वितीय जगत, पर्वत–श्रेणियाँ और आकाश में असंख्य तारे, नक्षत्र, ग्रह, यह वसुन्धरा, वसुन्धरा के सातों तल और यह पूर्ण ब्रह्माण्ड, यह विशिष्ट प्रकार के खनिज, खग–वृन्द, तृण, तरु और अंसख्य जीव–जन्तु क्या हमारी इच्छा से निर्मित हुए हैं? कौन होते हैं हम संसार को चलाने वाले? हमारे उत्पन्न होने से पहले भी यह संसार चल रहा था और हमारे संसार से विदा होने के बाद भी यह संसार यथावत अविरल अपनी गति से चलता रहता है। हम क्यों आते हैं यहाँ पर? यह बड़ा ही विचारणीय प्रश्न है।

हम अपने अहम्वश, अंहकारवश, इसको मानना नहीं चाहते कि वह कोटि–कोटि ब्रह्माण्डनायक ईश्वर न जाने कब से, असंख्य वर्षों से इस ब्रह्माण्ड को चला रहे हैं। कितनी सुन्दर नाट्यशाला है यह और हम क्षण भर के लिए बीच में आते हैं। उसी की इच्छा से आते हैं और उसी की इच्छा से हमें संसार छोड़ना पड़ता है। तो क्या यह संसार हमारी इच्छा से चल रहा है? यदि इन छोटे–छोटे प्रश्नों का हम बहुत ईमानदारी से, विनम्रता से, एकान्त में बैठकर विचार करें, तो हमें मालूम चलेगा कि हमारी अपनी इच्छा की कोई भी अहमियत नहीं है, उसकी कोई हैसियत नहीं है। उस महाकर्त्ता ने क्यों निर्माण किया है हमारी देह का? एक विशेष समय पर वह हमें संसार में क्यों लाता है? बड़ा जटिल सा प्रश्न है। नित्याध्यासन करने से, संतों के संग से, महापुरुषों की वाणी से, आत्म–कृपा से और अन्त में इष्ट कृपा से इस बहुत सूक्ष्म और अति जटिल विषय पर यदि हम थोड़ा सा विचार करें, तो हम जान जाएंगे कि इस संसार में हम क्यों लाए गये हैं?

एक दैवीय इच्छा से इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सृजन, पालन और विध्वंस क्रमशः होता रहता है। क्यों आते हैं हम? इसको जानने के लिये हमें उस महाशक्ति के सम्मुख होकर मात्र एक दैवीय प्रतीक्षा करनी पड़ती है और स्वतः भाव देखना पड़ता है। जिस प्रकार हमारी देह का, माता के गर्भ में 9 महीने कुछ दिन में निर्माण होता है और हमें पता भी नहीं चलता, उसी प्रकार यदि हम अपना होश संभालने के बाद इस गहन तथ्य पर विचार करें और इस तथ्य को, इस सत्य को स्वीकार कर लें, तो हम देखेंगे कि जीवन एक विशेष क्रम में, एक विशेष साँचे में स्वतः ही चलने लगता है। सभी विभिन्न प्रतिभाओं से युक्त होते हैं। कोई विद्वान, कोई बलवान, कोई धनवान, कोई किसी अन्य विशेष प्रतिभा से युक्त होता है।। जिस प्रकार असंख्य जीव है उसी प्रकार असंख्य उनके आकार–प्रकार, उनकी बुद्धि की संरचना और उनकी परिस्थितियों उस महाकालेश्वर ने, उस परमात्मा ने स्वतः ही रची हुई है। हमको यहाँ कुछ भी नहीं करना है वह जो भी हमको यहाँ करवा रहा है, बस, उसको देखना है और उसका आनन्द लेना है।

जो स्वयं सच्चिदानंद है भला वह हमको इस संसार में कष्ट सहने के लिए क्यों भेजेंगे? उसकी प्रत्येक लीला आनन्दमय होती है, हम दुर्भाग्यवश उसके द्वारा दी हुई शक्तियों पर अपना अधिकार, यहाँ तक कि उसके मन व माया पर भी अपना अधिकार करना चाहते हैं, वहीं से शुरु हो जाता है हमारे कष्टों का दौर। संसार में कोटि–कोटि पशु–पक्षी, जानवर हैं। उत्पन्न होते हैं, मरते हैं, कहीं न कहीं निवास करते हैं और वह ईश्वर की महाप्रकृति उनके रहने का, उनके खाने–पीने का, उनके पैदा करने का सब प्रकार का प्रबन्ध स्वयं करती है। सागरों में असंख्य प्रकार के जीव–जन्तुओं को, मछलियों को देखिये, जंगलों में बड़े–बड़े विशालकाय जानवर देखिए तो कौन इनका पालन–पोषण करता है? ये परम स्वस्थ रहते हैं और इनके निवास, इनकी देह की संरचना आवश्यकता के अनुसार स्वतः बन जाती है। उनको अपना निवास बनाने की, उस महाशक्ति ने स्वयं योग्यता दी है। कितने सुन्दर घोंसले बनाती है चिड़ियाँ और वन के पशु कितनी सुन्दर गुफाएं बनाते हैं। तन पर वस्त्र की इनको आवश्यकता ही नहीं पड़ती, क्योंकि प्रकृति ने इनकी आवश्यकता के अनुसार इनकी त्वचा दी है। यदि मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग उन कार्यों के लिए

करता है, जिन कार्यों के लिये पशु–पक्षियों को बुद्धि का प्रयोग नहीं करना पड़ता। तो यह अति दुर्भाग्य की बात है।

यह बड़ा विचारणीय विषय है कि बुद्धि हमको क्यों मिली? क्या अपना निवास, अपना भोजन, अपने वस्त्र, खाने–पीने की और अन्य ऐसी चीजें जो जानवरों को, पशुओं को, पक्षियों को स्वतः ही मिल जाती हैं और उनकी बुद्धि न होते हुए या बहुत अल्प बुद्धि होते हुए भी वे आनन्दमय जीवन बिताते हैं, तो मानव को प्रभु ने बुद्धि क्यों दी होगी? यह भी एक बुद्धि से विचारणीय प्रश्न है, कि जो कार्य पशु–पक्षी जगत बिना बुद्धि के कर सकता है और करता है जैसा कि हम अपने चहुँ ओर देखते हैं तो क्या हमें मानव बुद्धि उन कार्यों को करने के लिये मिली है, जिसके लिये बुद्धि की आवश्यकता ही नहीं है? यदि उन कार्यों के लिये बुद्धि की आवश्यकता होती, तो प्रभु समस्त पशु–पक्षी जगत को भी मानव बुद्धि की तरह ही बुद्धि देते।

तो मानव को बुद्धि क्यों दी गई है? जो इष्ट कृपा से मैं अनुभव कर पाया हूँ, वह आपके सम्मुख रख रहा हूँ। जब भी कोई विशेष व्यक्ति, कोई कलाकार जब किसी पेन्टिग का या किसी कविता का, किसी गद्य का निर्माण करता है, लिखता है तो एक सूक्ष्म सी इच्छा सभी की बनी रहती है, कि उसकी उस संरचना को कोई देखे, सुने और उसकी प्रशंसा करे। जब उस महामाया और मन के स्वामी उस प्रभु ने विशालतम् दहाड़ का निर्माण किया होगा, असंख्य जीव–जन्तुओं को रचा होगा तो शायद उस महामन में भी यह बात आई होगी, कि **इस विशालतम् और इस परम अद्भुत और अति विचित्र विहंगम, विलक्षण और अति उत्कृष्ट संरचना की कोई प्रशंसा करे। शायद, उस महामन ने इसी विचार से अंत में एक ऐसे जन्तु की रचना की, जिसका नाम है मानव और उसको एक विशेष बुद्धि अर्पित की गई।**

उस बुद्धि का मात्र यही कार्य था कि उस अद्भुत महाशक्ति जिसने इतनी विशालतम् संरचना की है और जिसका वह स्वयं पालन एवं संहार भी कर रहा है, उसकी लीलाओं को देंखे, उसकी प्रशंसा करें और स्वयं हमारे द्वारा यदि वह कुछ करवाना चाहता है, तो उसकी प्रतीक्षा करे और देंखे कि वह हमारे द्वारा हमारी शक्तियों को कैसे उपयोग करता है जो उसने हमको अर्पित की हैं। यदि हम उसकी

हर कला को, उसकी हर लीला को और उसकी प्रत्येक विधा को अधिक से अधिक विचार करके उसकी प्रशंसा करें, तो मैं समझता हूँ कि बुद्धि का इससे अधिक सदुपयोग कुछ नहीं हो सकता। इसके विपरीत, हम उस प्रभु द्वारा दी गई सुन्दरतम् बुद्धि का दुरुपयोग करते हैं। हम स्वयं उसकी प्रकृति में बाधा डालनी शुरू कर देते हैं और स्वयं योजनाएं बनाने लगते हैं, स्वयं हम इच्छा व इच्छुक बन जाते हैं। कभी–कभी तो हम स्वयं को ही इच्छा–पूरक भी मानने लगते हैं, तो उसके बाद जो हमारे सम्मुख उसका परिणाम आता है, उसको हम सहन नहीं कर पाते और जीवन कष्टमय हो जाता है। शायद, आज विश्व में इसलिये कष्ट है। युग–युगातर बदलते रहते हैं और प्रत्येक युग में किसी विशेष विचारधारा की अग्रगण्यता होती है, उसका महत्व होता है। प्रत्येक युग में कुछ विशेष धर्म चलते हैं और उस धर्म के विशेष अनुयायी होते हैं।

सभी धर्म एक प्रकार की नदियाँ हैं, धाराएं हैं, जो उस आध्यात्म रूपी विशाल सागर में कभी न कभी लिप्त हो जाती हैं। उनका आकार–प्रकार भिन्न–भिन्न होता है। जहाँ तक मैं समझता हूँ **धर्म, जिसको हम धारण करते हैं, उन विचारधाराओं का नाम है जो हमें सत्य की ओर ले जाती है।** कलियुग में सतोगुण के बजाय रजोगुण और तमोगुण की प्रधानता होती है, तो यह भी ईश्वरीय इच्छा ही है। मैं आपके सम्मुख यह जो बात रख रहा हूँ, यह नितान्त परम सत्य है। सभी धर्मों के सामने मैं नतमस्तक होता हूँ। आज कलयुग में, कलिकाल में रजोगुण की और तमोगुण की प्रधानता है, इसलिये इन विचारधाराओं से परिपूरित जो विचारधारा, अर्थात् धर्म है, उनकी अधिकता है और जो बहुत गहन सत्य से परिपूरित और सतोगुण से युक्त है।

उन विशिष्ट विचारधाराओं का, धाराणाओं का या धर्मों का बाहुल्य नहीं होता, वे प्राय. लुप्त से होते जाते हैं, लेकिन उनका अस्तित्व बना रहता है। जहाँ–जहाँ उन धर्मों का बाहुल्य होता है और विचारधाराओं की मान्यता होती है और विशेष मान्यता होती है, तो वहाँ कलयुग में भी सतयुग का प्रादुर्भाव होता है। वहाँ का जीवन बहुत सात्विक होता है मानो वहाँ पर उस देशकाल में और परिस्थितियों में जैसे सतयुग का ही समाहन हो। एक युग विशेष में किन्ही विशेष विचारधाराओं का बाहुल्य रहता है।

ईश्वर की प्रकृति का ऐसा ही नियम है तो जैसे–जैसे कलिकाल घोर, घोरतम् होता जायेगा वैसे–वैसे तमोगुण और रजोगुण बढ़ते जायेगें। धीरे–धीरे तमोगुण अत्यधिक हो जाते हैं, तो यह एक प्रकार की उस महान शक्ति, उस ईश्वरीय शक्ति की एक लीला है। इस विषय को मैं ईश्वरीय इच्छाओं के साथ जोड़ रहा हूँ, इसमें भी किसी मानव की इच्छा का कोई भी अधिकार नहीं है। ईश्वर इन धर्मों का और इस धर्म के अनुयायियों का सृजन भी स्वयं ही करते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि हमारे हाथ में क्या है? इसका बहुत साधारण उत्तर जो मैं अपने अनुभव से आपको दे रहा हूँ, वह यह कि **हमारे हाथ में यह है कि हम बहुत ईमानदारी से, सरलता से और विनम्रता से यह स्वीकार कर लें, कि हमारे हाथ में कुछ भी नहीं है।** यह जगत रुकेगा नहीं, जगत चल रहा था और चलता रहेगा। प्रभु हमारे द्वारा जो और भी कुछ करवाना चाहते हैं, उसके अनुसार वह वैसी ही परिस्थितियाँ स्वयं ही निर्माण करते हैं, उसको मात्र हमने देखना है। इसलिये कहा गया है कि हम हर क्षण, हर पल और हर प्रक्रिया में, हर योग में, भोग में उस ईश्वर का दिग्दर्शन करते रहें, उनको मानते रहें, उनके सान्निध्य में रहें, उसका नाम जपते रहें, तो हम सम्पूर्ण जीवन के प्रत्येक क्षण का, प्रत्येक पल का, प्रत्येक श्वास का अत्यधिक आनन्द ले सकते हैं। यह है **आनन्दमय जीवन, जिसका प्रारम्भ, जिसका मध्य, जिसका अंत, यदि हम वास्तव में उस वास्तविकता को स्वीकार करें कि ईश्वरीय इच्छा से है, तो हम सम्पूर्ण जीवन अति आनन्दमय बिता सकते हैं।** यद्यपि जीवन में किसी भी मनुष्य में, पशु में, पक्षी में, जो भी इच्छाएं होती हैं, उनके पीछे जो इच्छुक होता है वह स्वयं ईश्वरीय शास्त्र है। वही इच्छा करता है अर्थात् यह इच्छाएं ईश्वरीय ही होती हैं लेकिन अज्ञानतावश और बुद्धि का दुरुपयोग करते हुए हम उन इच्छाओं पर स्वयं अपना अधिकार जमा लेते हैं।

जब जीव इच्छा होती है अर्थात् जब ईश्वरीय इच्छा पर हम अपनी मोहर लगा देते हैं कि यह मेरी इच्छा है, तो उसके तीनों आनन्दों में से एक अथवा एक से अधिक आनन्दों का अभाव रहता है और **सबसे विशिष्टतम आनन्द है अन्त का आनन्द।** यदि वह कार्य आनन्द में ही समाप्त होता है तो वह ईश्वरीय इच्छा से है।

मैं इस विचार को और आसान करना चाहूँगा। आनन्द के लिए किया गया कार्य, और एक है आनन्द में किया गया कार्य। बहुत विचारणीय बात है कि **जब हम कोई कार्य आनन्द के लिए करते हैं, जब कोई इच्छा आनन्द के लिए उत्पन्न होती है, तो वह जीव इच्छा है और जब कोई कार्य व इच्छा आनन्द में उत्पन्न होती है और आनन्द में ही समाप्त होती है, आनन्द से आनन्द में, तो वह ईश्वरीय है।** प्रश्न यह उठता है कि किस प्रकार हम जीव इच्छाओं की परिणति या उन इच्छाओं का परिवर्तन ईश्वर इच्छाओं में करें? उसके लिये जो **परम आवश्यक भाव है, वह है समर्पण।** जैसे ही कोई इच्छा हमारे अन्दर उत्पन्न हो, तो हम प्रभु दरबार में, अपने इष्ट के सम्मुख उसका समर्पण करें कि, 'हे प्रभु! यह आप ही की इच्छा से, आप ही की शक्ति से उत्पन्न हुई इच्छा है।' **जब बार–बार हम अपने हृदय से, मन से, इस भाव को अपने अंदर लाते हैं, तो यदि वह ईश्वरीय इच्छा होगी, तो वह तीव्र होती जाएगी और स्वतः पूर्ण हो जाएगी और यदि वह मानविक होगी या जीव प्रेरित होगी तो अक्षुण्ण के बाद समाप्त हो जाएगी और उसकी समाप्ति के बाद भी हमें आनन्द ही आएगा।**

प्रश्न यह उठता है कि किस प्रकार **हम अपने भौतिक कृत्यों को आध्यात्मिक या दैवीय कृत्यों में परिणत करें?** यह बड़ा विचारणीय विषय है कि जब हम अपनी इन्द्रियों द्वारा तथाकथित सांसारिक भोग भोगते हैं, तो यहाँ पर एक बात बहुत गहन चिंतन की है, कि इन्द्रियों की स्वयं की कोई हैसियत नहीं है। वे मात्र एक उत्प्रेरक हैं। जिसको **हम इन्द्रिय सुख कहते हैं,** वह सुख अथवा आनन्द हमारे भीतर का है। हमारा भीतर का सुप्त आनन्द जागृत हो जाता है और उस आनन्द की जागृति जो हमारा भीतर का अपना आनन्द है, उसे हम मान लेते हैं कि हमें इन्द्रियों से मिल रहा है। इस विषय पर थोड़ा विचार करिए, जब किसी इन्द्रिय को उत्प्रेरक बनाकर अपने भीतर का आनन्द जागृत होता है और उस आनन्द को जो हमारा अपना है, उसको हम दिव्य आनन्द में परिणत कर दें, तो वह भौतिक प्रक्रिया हमारी दैवीय हो जाती है, चाहे वह कर्णों का आनन्द हो, जीभ का आनन्द हो, नासिका का हो या त्वचा का हो या अन्य किसी प्रकार का भी आनन्द हो। हमारे लिए

बुद्धि द्वारा, विचार द्वारा इस सत्य को मानना अति आवश्यक है, कि इन्द्रियां मात्र हमारे भीतर के आनन्द को जागृत करने का साधन है और उस आनन्द को यदि हम इन्द्रियों तक सीमित कर देते हैं, जिसे भौतिक आनन्द कहा जाता है, जो क्षणिक होता है, उसके अन्त के साथ एक विशेष ग्लानि का अनुभव होने लगता है। यदि हम उस जागृत आनन्द को अपने दिव्य आनन्द में परिणत कर दें, तो इन्द्रियाँ हमारे भीतर के आनन्द को जागृत करने में सहायक हो जाती है। इसी प्रकार **जो महायोगी है वह संसार के भोग भोगते हुए भी, अति भोग भोगते हुए भी अपनी परम योग स्थिति में रहते हैं।** यह बहुत रहस्यमय विषय है कि परम योगी ही, जो उस ईश्वर से जुड़ा हुआ है, इस रहस्य को समझता है। **वह संसार के भोगों को भोगता है, जबकि एक साधारण मानव को यह भोग भोग लेते हैं** और इस प्रकार ईश्वर के द्वारा प्राप्त मानव बुद्धि द्वारा भी हम इन तथ्यों पर, इन रहस्यों पर यदि विचार करें और इन विचारों का हम नित्याध्यासन करें, तो हम जीवन का वास्तविक रसास्वादन करते है। हम जीवन को भी भोगते है और हम सांसारिक भोगों को भोगते हुए उस परमानन्द के, ईश्वर के सानिध्य में, सामीप्य में भी रहते हैं और हमारी योग स्थिति प्रत्येक भोग के बाद और पुष्ट हो जाती है।

यह जो विषय चल रहा है ईश्वर इच्छा और जीव इच्छा, यह अपने में बहुत महत्त्वपूर्ण विषय है। जैसा कि मैं वर्णन कर चुका हूँ कि यह मानव देह ही क्या सम्पूर्ण ब्रह्मांड की संरचना, बल्कि करोड़ों–करोड़ों ब्रह्माण्डों का निर्माण, पालन एवं संहार मात्र ईश्वर इच्छा से ही होता है। हम मानव कोटि में आकर ईश्वर द्वारा दी गई बुद्धि का दुरुपयोग करते हैं और बहुत से कृत्य अपनी बुद्धि की उपज मानकर करते हैं और अन्तत. हम कष्टों में प्रवेश कर जाते हैं।

प्रश्न यह उठता है कि यह कैसे ज्ञात किया जाये, कि अमुक इच्छा ईश्वरीय है या जीव निर्मित है? यदि उदार दृष्टि से देखें तो जीवन का एक–एक क्षण, एक–एक पल, ईश्वर इच्छा से ही चलता है, फिर भी हम अहम्‌वश उन इच्छाओं पर अपना अधिकार जमाना चाहते हैं और सम्पूर्ण कार्यक्रम की रूपरेखा को बिगाड़ देते हैं। हम जब उन इच्छाओं को अपने भौतिक समय में बांधते हैं, तो वे इच्छाएं ईश्वरीय न रहकर जीव इच्छाएं हो जाती हैं क्योंकि जो पहला सबसे प्रमुख

ईश्वरीय इच्छा और जीव इच्छा में अन्तर है, वह यह है कि **ईश्वर इच्छा कभी भी भौतिक समय में हमारे द्वारा कलाई की घड़ी पर देखे गए समय में नहीं बंधती। उस 'महाकालेश्वर' का अपना समय होता है। सत्य पूछिए जो भी कार्य हम अपनी घड़ी के अनुसार या भौतिक समय के अनुसार करते हैं, उनमें कोई भी ईश्वरीय इच्छा का कार्य नहीं होता।** सारा विश्व व्यस्त है। भौतिक रूप से किये गये कार्यों का प्रतिफल नकारात्मक ही होता है। हम इस मायिक जगत में उलझ जाते हैं, सुलझते नहीं हैं और अन्ततः हम अपने मायाजाल में इतने फँस जाते हैं, कि हम अपने वास्तविक स्वरूप से बहुत दूर हो जाते हैं। जब हम प्रत्येक कार्य को उस ईश्वर के निमित्त मानकर करते हैं, तो उनका परिणाम बहुत भिन्न होता है। **पहला प्रमुख अन्तर यह है, कि ईश्वर इच्छा अपने समय के अनुसार उत्पन्न होती है और समय के अनुसार पूर्ण होती है और उनका अन्त पूर्णता में और आनन्द में होता है, यह मानव द्वारा बांधे हुए समय के अनुसार नहीं होती।**

कई बार कुछ लोग ज्योतिषाचार्यों के पास जाते हैं और वे अपनी ज्योतिष गणना के अनुसार विशिष्ट कार्य का विशिष्ट समय निकाल देते हैं। आप शत–प्रतिशत मान लीजिए कि भविष्य में किसी कार्य के होने का, ज्योतिष द्वारा जो समय बताया जाता है वह भी ईश्वर इच्छा नहीं होती, यह परम रहस्यपूर्ण बात है। उस महाकालेश्वर ने जो देह की रचना की है, जन्म–मृत्यु, लाभ–हानि, यश–अपयश यह प्रमुख जीवन की घटनाएं उसके अपने हाथ में रहती हैं और वह किसी ज्योतिष गणना पर आधारित नहीं होती। कुछ महापुरुष जो ईश्वर के परम उपासक होते हैं, वे किसी का भविष्य देख भी लेते हैं, लेकिन वे उसको बोलते नहीं है। जब किसी महापुरुष की वह अवस्था आ जाती है, तो वह सब कुछ देखते हुए भी उसको बोलना पसन्द नहीं करते और जो भविष्य की गणना करते हैं, वे उस भविष्य को देख नहीं पाते। हम किसी भी विशेष घटना, जिसका हम आभास–मात्र करते हैं और जो जीवन के लिये बहुत उपयोगी नहीं होती बल्कि कष्टमय हो सकती है, उसको टालने के लिये हम मात्र तहेदिल से अबोध बालक की तरह अपने इष्ट के सम्मुख प्रार्थना कर सकते हैं। यहाँ यह बात कहना मैं आवश्यक समझता हूँ, कि यह प्रार्थनाएं भी ईश्वर इच्छा और

ईश्वर कृपा से ही होती है। यदि ईश्वर इच्छा नहीं है, तो हम उसके सम्मुख प्रार्थना भी नहीं कर सकते।

दूसरा अन्तर यह है कि जैसा मैं पहले वर्णन कर चुका हूँ, कि **ईश्वरीय इच्छाएं स्वतः भाव में होती हैं।** जब कोई तीव्र इच्छा हृदय में उत्पन्न होती है, यदि वह ईश्वरीय है, तो उस इच्छा के साथ एक विशेष हर्ष और उल्लास की स्थिति बन जाती है और परिस्थितियाँ उसी के अनुकूल हो जाती है, साधन स्वयं जुट जाते हैं या साधन जुटाने के लिये कोई विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता। वह ईश्वरीय आनन्द में ही पूर्ण होती है और उसका फल भी आनन्दमय ही होता है। कई बार आपने अपने व्यवहारिक दैनिक जीवन में अनुभव किया होगा, कि अकस्मात् बैठे–बैठे कोई तीव्रतम् इच्छा ऐसी उत्पन्न होती है, जिसकी हमने कभी कल्पना भी नहीं की होती है। यह हमारी इच्छाएं अक्सर कल्पनातीत होती हैं।

कभी हमने विचार भी नहीं किया होगा, कि अमुक इच्छा हमारे अंदर उत्पन्न होगी, बहुत तीव्र होती है, आकस्मिक होती हैं, यह हमारी बौद्धिक योजनाओं से परे होती है और ईश्वर इच्छा से घटने वाली कोई विशेष घटना है। अक्सर निर्मल हृदय के मानवों को पूर्वाभास हो जाता है। उस पूर्वाभास में सभी ने अपने व्यवहारिक जीवन में यह अनुभव किया होगा, कि कभी अकस्मात हृदय में विशेष हर्ष की अनुभूति होने लगती है, लेकिन उस विशेष हर्ष का कारण नहीं मालूम होता या कभी बैठे–बैठे हृदय में विशेष चिंतन और विक्षेप की सी स्थिति उत्पन्न हो जाती है, एक डिप्रेशन आ जाती है, तो उसके पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होता है, कोई घटना घट जाती है।

यहाँ पर एक बात विशेष कहने की यह है, कि ईश्वर जो कि स्वयं अपने में सच्चिदानंद है, सत्य है, चेतन है और आनन्द है, उनके द्वारा कोई इच्छा, उसकी परिपूर्णता और उसका अंत आनन्दमय ही होना चाहिये, लेकिन हमारी जीव–बुद्धि है, हम मानव हैं, कुछ घटनाओं को हम कष्टमय समझ लेते हैं, दुखद समझ लेते हैं। लेकिन हम अति विचारपूर्वक और ध्यानपूर्वक दिव्य बुद्धि से और हृदय से उस पर विचार करें, तो कोई भी घटित घटना के पीछे, कोई न कोई रहस्य अवश्य छुपा रहता है। हम जीवन को अपने ढंग से चलाना चाहते हैं परन्तु यह सम्भव नहीं। जैसा कि मैं पहले बार–बार कह चुका हूँ, कि **इस संसार में हम अपनी इच्छा से नहीं**

आए हैं और इस संसार से हम अपनी इच्छा से नहीं जाएंगे, जीवन में घटने वाली प्रत्येक घटना हमारी इच्छा से नहीं होती। जो कुछ कार्य हम करते हैं या जिन कार्यों का बोझा अपने ऊपर ढो लेते हैं, यदि हम अति विचारपूर्वक देखें, तो कोई भी कार्य हमारे ऊपर निर्भर नहीं है। जो कार्य हम अपना कर्त्तव्य मानकर कर रहे हैं, वह कार्य हमारे बिना भी हो सकता है। तो हम यहाँ लाए किसलिए गए हैं? मानव बुद्धि उसका उत्तर नहीं दे सकती। अन्ततः केवल एक ही विचार को मानना पड़ता है, कि न जाने ईश्वर की क्या इच्छा थी जो हमारा निर्माण हुआ? यहाँ आकर हमको आत्म समर्पण करना पड़ता है और यदि हम यह आत्मसमर्पण नहीं करते और प्रत्येक कार्य में स्वयं को सम्मिलित कर लेते हैं, यहाँ तक कि जीवन और मरण में भी तो जीवन अति दुःखद एवं त्रसित हो जाता है। आज कोटि–कोटि मानवों के जीवन में विक्षेप, अशान्ति और कलह का हेतु यही है, कि हम उन ईश्वरीय इच्छाओं को अपनी इच्छाएं मान लेते हैं और हम जीवन को अपने विचार से, अपनी समझ से और अपनी बुद्धि से, अपनी योजनाओं से चलाना चाहते हैं जो कि सम्भव नहीं है।

ईश्वरीय इच्छाओं में जैसे ही कोई इच्छा तीव्र उत्पन्न होती है, तो उसके साथ बाह्य प्रकृति भी वैसे ही अनुमान देने लगती है, जिसको हम **शुभ अथवा अशुभ शगुन कहते हैं**। किसी विशेष कार्य को करते समय हमारी देह में या हमारे बाह्य जगत में कुछ विशेष लक्षण प्रगट होने लगते हैं, जिनको हम शगुन कहते हैं। तो उन शगुनों के आधार पर उस कार्य की सफलता अथवा असफलता का अनुमान लगाते हैं। यहाँ प्रश्न यह उठता है, कि क्या ईश्वर इच्छा से किए गए कार्य असफल भी हो सकते हैं? वास्तविकता यह है कि सफलता और असफलता हमारी बुद्धि की सोच है। ईश्वरीय कार्यों में असफलता नाम की कोई भी चीज़ नहीं है, जिसे हम असफलता कहते हैं, शायद वो बहुत बड़ी सफलता हो। कोई परीक्षा में अनुत्तीर्ण होता है, तो वह हमारी बौद्धिक स्तर पर अनुत्तीर्णता है। पर उस अनुत्तीर्णता के पीछे न जाने कितनी बड़ी उत्तीर्णता है? उसका बाद में क्या प्रभाव है, इसको हम नहीं समझते। हम उस ईश्वरीय कलाओं को, उसकी क्रियाओं के ऊपर भी आलोचना करने से बाज नहीं आते।

ईश्वरीय इच्छा पर आपको एक घटना सुनाता हूँ। हरियाणा में कुछ वर्ष पहले एक कवि हुए हैं, **घाघ कवि**। कवि घाघ ब्राह्मण थे और बहुत विद्वान थे। उन्होंने खूब ज्योतिष गणना द्वारा समय का अनुमान और प्रकृति की विभिन्न विधाओं का अनुमान जैसे वर्षा का, तूफान का, आँधी इत्यादि का लगाये हैं। उन्होंने काफी कवित्त लिखे हैं, उदाहरण के लिये ***'जब चले हवा पुरवाई, तब जाने बरखा ऋतु आई'***। यह सब घाघ कवि द्वारा निर्मित कवित्त हैं। उन्होंने गहन ज्योतिष द्वारा अपनी स्वयं की मृत्यु के कारण का पता कर लिया था, कि उनकी मृत्यु जल में डूबकर होगी। वह कभी भी बाहर किसी जलाशय पर नहीं जाते थे। उनके गाँव के बाहर एक छोटा सा तालाब था। उसके किनारे एक मेला लगता था। एक बार उनके मित्र उनको आग्रह करके ले गये, कि उस तालाब में घुटने से नीचे–नीचे जल है, तो वहाँ तो जा सकते हैं। मित्रों के आग्रह पर वहाँ उनके साथ चल दिए। कवि घाघ की चोटी बड़ी लम्बी थी और तालाब के किनारे एक पीपल के पेड़ की जड़ें जल में जा रही थी। उस तालाब के किनारे सिर पानी में भिगोने के लिए बैठे–बैठे ही उन्होंने तालाब में डुबकी लगाई, तो उनकी चोटी एक जड़ में फँस गई और इनका सिर अन्दर ही रह गया। जब वह बहुत प्रयत्न करने लगे, तो वह चोटी और उलझती गई। अन्ततः इनके मित्रों ने इनकी चोटी को काटकर इनको बाहर निकाला। वह विद्वान कवि थे और अन्तिम श्वास गिन रहे थे। मरते समय इन्होने एक कवित्त बोला–

'ई नही जानत घाघ निबुद्धि, आवई काल विनाशे बुद्धि।'

अर्थ क्या है, कि यदि हमको घटित होने वाली किसी घटना का सही अनुमान भी लग जाए, तो उसको टाला नहीं जा सकता। अर्थात् जो ईश्वरीय इच्छाएं हैं, वे अटल होती हैं, घटकर ही रहती हैं। क्योंकि वे ईश्वरीय होती हैं और हम मानव बुद्धि द्वारा, जीव बुद्धि द्वारा, जीव मन द्वारा, जब विभिन्न प्रकार के कार्यों की इच्छा करते हैं, योजनाएं बनाते हैं, तो वे कई बार बदलती हैं, लेकिन ईश्वरीय योजनाएं नहीं बदलतीं, वे अटल होती हैं। उनके पीछे कोई न कोई रहस्य अवश्य होता है।

एक विशेष बात जो आप ईश्वरीय इच्छाओं में देखेंगे, कि यह किसी सम्बन्ध से बाध्य नही होती, न समय से बंधन होता है। उदाहरण के लिये हम सांसारिक पिता बनकर अपनी संतान का उत्तरदायित्व अपने सिर पर ले लेते हैं, कि हमें पुत्र के लिए

यह करना है, पुत्री के लिए यह करना है, पत्नी के लिये ऐसा करना है इत्यादि–इत्यादि। लेकिन जब ईश्वरीय इच्छा होती है, तो यह आवश्यक नहीं होता कि किसी की संतान के कार्य उसके पिता से ही होंगे। उन कार्यों को करने के लिए जिसकी कर्त्तव्य परायणता की एक असफल चेष्टा को लिये हुए उसका पिता उनका बोझा ढो रहा है, वे कार्य किसी अन्य व्यक्ति द्वारा भी हो सकते हैं। ऐसा प्रायः हम दैनिक जीवन की घटनाओं में देखते हैं, कि किसी कार्य को करने का कर्त्तव्य कोई मान लेता है, लेकिन कार्य किसी और से होता है। **हम एक विशेष पारिवारिक, सामाजिक परिस्थिति में आकर स्वयं को न जाने किन–किन कर्तव्यों के बोझ से लाद लेते हैं, लेकिन जब ईश्वर इच्छा होती है, तो यह आवश्यक नहीं, कि वे कार्य हमारे द्वारा ही हों। भगवान कृष्ण का जन्म होता देवकी से है लेकिन लालन–पालन करती है यशोदा।**

कृष्ण चरित्र इस कथन की पुष्टि करता है। जन्म देने वाली माँ कोई और है और पालन करने वाली कोई और, पिता कोई और है और पिता का कार्य कोई और करता है। अध्यापक या गुरु कोई और है और शिक्षा कोई और देता है। जब जीव में अभिमान आ जाता है कि अमुक–अमुक कार्यों की जिम्मेवारी मेरी है, तो अक्सर वह ईश्वरीय शक्ति ऐसे मानव को दर्शा देती है, कि वह कार्य तो होना ही है भले ही हम उसका उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लें या किसी के ऊपर डाल दें। न जाने कोई कार्य, कोई इच्छाएं कहीं से पूरी हो जाती है?

यह दैनिक जीवन में दृष्टिगोचर होने वाला सत्य है, जिसको हम देखते हुए, सुनते हुए भी, अबोधतावश, अज्ञानतावश नकार देते हैं। यह ईश्वर इच्छा का विशेष लक्षण है, कि वह किसी सम्बन्ध के माध्यम को नहीं देखती, पर जो कार्य होना है, वह होना ही है। इसलिये कहा गया है, कि हम कर्त्तव्यों का बोझ, जो अपने ऊपर ले लेते हैं, वह मिथ्या है, अज्ञानतावश है। जैसा कि मैं अपने एक पहले प्रवचन में वर्णन कर चुका हूँ, कि जो कार्य हमारे बिना भी हो सकते हैं, वे हमारा कर्त्तव्य कैसे हो सकते हैं? लेकिन फिर भी इस जीवन को बिताने के लिए और इस जीवन में अपने महत्त्व के प्रगटीकरण के लिये हम कुछ कर्त्तव्यों का बोझ अपने ऊपर ले लेते हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि हमारा कोई भी कर्त्तव्य नहीं है।

मात्र एक ऐसा कार्य, जो हमारे बिना नहीं हो सकता वह यह कि हम स्वयं को देखें, स्वयं को पहचाने, जन्म–जन्मान्तरों से हम स्वयं से ही परे हट गये हैं। अत्यधिक साधना, जप, तप और ईश्वरीय कृपा से क्या प्राप्त होता है, हमारा खोया हुआ स्वरूप, खोया सा स्वरूप पुनः प्रकट हो जाता है हमारे भीतर से। वास्तव में हम अपना स्वरूप खोज रहे होते हैं और उस स्वरूप की खोज में हम कुछ ऐसी वस्तुएँ खोज लेते हैं, जो हमें क्षणिक आनन्द देती हैं, लेकिन पुनः विक्षेप उत्पन्न कर देती हैं।

कोई पद के पीछे, कोई पदवी के पीछे, कोई धन के पीछे, कोई विद्या के पीछे, कोई सम्पत्ति–सम्पदा के पीछे, न जाने यह सारा जगत किस–किस के पीछे भाग रहा है? हम यह जानते हैं, कि हम जितनी भौतिक वस्तुओं को एकत्रित करेंगे वे अन्ततः हमको छोड़नी पड़ेगी। हमारी पद–पदवी, धन–सम्पदा प्रतिदिन परिवर्तित होती रहती है और हम यह भी जानते है कि सारा जगत जो उत्पन्न हुआ है, वह एक दिन समाप्त अवश्य होगा। जो जीव पैदा हुआ है, वह मृत्यु को अवश्य प्राप्त होगा, लेकिन फिर भी हम कुछ न कुछ प्राप्त करना चाहते हैं, भौतिक जगत में। यह सब कुछ जानते हुए भी एक होड़ लगी हुई है। हम कुछ न कुछ पाते रहते हैं, पाना चाहते हैं, उसके पीछे एक ही दर्शन है, कि कुछ भीतर से हमारा खो गया है, हम उसको तलाश रहे हैं बाहर। उदाहरण के लिये किसी के हाथ की हीरे की अंगूठी खो गई हो और वह उसको ढूँढता फिर रहा हो, तो उसको कोई छोटा सा चमकता हुआ काँच का टुकड़ा नज़र आता है, वह उसको उठा लेता है। उसमें हीरे की चमक जैसी सी ही चमक होती है। क्षण भर के लिये उसको हाथ में ही रख लेता है और निराश हो जाता है, कि यह वो हीरा नहीं है। फिर खोज जारी हो जाती है। कोई अन्य चमकदार वस्तु मिल जाती है, तो क्षण भर के लिये वहाँ भी इसको सन्तुष्टि मिलती है, जो कि पुनः असंतुष्टि में परिवर्तित हो जाती है। शायद, मानव की ऐसी ही दौड़ है। अपने भीतर के अगाध, अथाह आनन्द से बिछुड़ कर, जहाँ जिन वस्तुओं से उसको क्षणिक आनन्द मिलता है, कुछ क्षण के लिये वहाँ रुक जाता है और उसको **आनन्द का सा अनुभव होता है, लेकिन पुनः असंतुष्ट होकर वैसे ही दौड़ने लगता है।**

जैसा कि मैं वर्णन कर चुका हूँ, जब विशेष सत्संग द्वारा, गुरु कृपा, ईश्वरीय कृपा और सबसे विशिष्ट आत्म–कृपा से इसको अपने खोए हुए स्वरूप की झलक

मिल जाती है, उस सच्चिदानंद स्वरूप की, उसके बाद जो आनन्द सा देने वाली वस्तुएँ हैं, सांसारिक वस्तुएँ, वह हमारे अधिकार में होते हुए भी हम उनका महात्मय खो देते हैं। क्योंकि इस परमानन्द स्वरूप के सन्मुख कोई भी ऐसी जगत की वस्तु नहीं है, कोई भी ऐसी परिस्थिति नहीं है, जो उसके समान आनन्द दे सके। इस स्थिति में एकत्रित भौतिक वस्तुएँ और पदार्थ हमको फीके–फीके नज़र आने लगते हैं। तो प्राप्त क्या हुआ? **जो हमारा स्वरूप है, जो खोया सा नज़र आ रहा था, वह हमको प्राप्त हुआ और जो खोया वह प्राप्त सा हुआ था।**

यह बड़ा विचारणीय विषय है **जो पाया, वह खोया सा था और जो खोया वह पाया सा था।** इस प्रकरण में की गई सारी साधना, तप, जप और अन्य समस्त क्रियाएं अपना महात्म्य उस विशिष्ट प्राप्ति के बाद खो देते हैं, जिस प्रकार कि वर–वधू जब वरमाला एक–दूसरे के गले में डाल देते हैं, विवाह हो जाता है, तो बारात और बाराती अपना महात्म खो देते हैं, अपने–अपने घर लौट जाते हैं। इसी प्रकार जब इस जीव और ब्रह्म का योग होता है, जो कभी बिछुड़े ही नहीं थे, बिछुड़े से हुए थे। तो समस्त तप–जप अपना अस्तित्व खो देते हैं, जो ईश्वरीय इच्छाओं के बिना असम्भव है।

जीवन ईश्वर इच्छा से मिला है और ईश्वर इच्छा से ही चल रहा है और ईश्वरीय इच्छा से ही समाप्त होगा। मानव जीवन की एक अवधि है। भला विचारिए, कि इतनी सुन्दर देह और इस देह के अन्दर होने वाले असंख्य कार्यक्रम, इस देह की असंख्य विधाओं का निर्माण किसने किया है? इस महाब्रह्माण्डों में असंख्य प्रकार की वस्तुओं का निर्माण किसने किया है? असख्य जीव–जन्तु, वनस्पतियों का निर्माण किसने किया है? इन बातों पर अपनी बुद्धि से विचार करने पर हमको उस महाशक्ति, उस ईश्वरीय सत्ता का दिग्दर्शन हो जाता है। उस परमसत्ता के नज़दीक, उसके करीब जाने के लिये पहले हमें अपनी बुद्धि के सर्वोत्तम प्रयोग द्वारा यह जानना आवश्यक है, कि कोई ऐसी सत्ता अवश्य है, जो करोडों ब्रह्माण्डों का समस्त प्रशासन चला रही है। क्या हम चिकित्सक लोग सिर का एक बाल भी बना सकते हैं? क्या हम एक नाखून का निर्माण भी कर सकते हैं? नहीं, तो इन कथनों का अर्थ यह नहीं है कि हम हाथ पर हाथ धर कर बैठ जायें। जैसे ही

बालक होश संभालता है, उसकी रचना जो ईश्वर ने बना रखी है, उसके अन्दर वह समाई हुई है, उसी के अनुसार वह अपना कार्यक्रम शुरु कर देता है। यदि हम उस बालक को बहुत ध्यानपूर्वक देखते जायें, तो हम देखेंगे कि उसके जीवन में बहुत प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है। वह एक विशेष दिशा की ओर स्वयं ही चलने लगता है और उसी के अनुसार उसकी परिस्थितियों सहायक होती जाती हैं। जब हम धन के अहम्वश अपनी संतान के लिये कुछ विशेष कार्यक्रम करना चाहते हैं, भले ही वह देखने में बहुत सदुपयोगी लगें और बहुत महत्त्व की लगें, अक्सर वे बालकों को बिगाड़ देती हैं। हम यह जानने की कोशिश नहीं करते, कि उस महाशक्ति ने, उस बालक को जो हमारे घर में जन्मा है किस विशेष प्रतिभा से, किस विशेष दृष्टिकोण व बुद्धि से निर्मित किया है?

यदि हम ईश्वर का ध्यान करके उसकी वास्तविक प्रतिभा का दिग्दर्शन करना चाहे, तो हमें थोड़ा सा विचार करने पर यह अवश्य भास हो जायेगा, कि प्रत्येक जीवन का निर्माण प्रभु ने किसलिए किया है? इस रहस्य को समझने का और समझने के बाद अपनी बुद्धि के आत्म समर्पण का यदि मूलमंत्र हम ले लें, तो जीवन अति सुखद हो जाता है। अन्ततः हमें ईश्वरीय इच्छा के सामने नतमस्तक होना पड़ता है। क्यों न हम उपासना से, साधना से, प्रार्थना से, ईश्वर के सम्मुख प्रतिदिन, नित्य, हर समय एक ही प्रार्थना करें कि, "हे प्रभु, मेरी छोटी–मोटी इच्छाओं को भी अपनी इच्छाओं में मिला लो।" उस महा इच्छाधारी के सम्मुख हमारी इच्छाओं की भूमिका क्या है? इनका महत्व क्या है? जब हमारी इच्छाओं का समर्पण हो जाता है और अपनी इच्छाओं को हम ईश्वरीय इच्छाओं में मिला लेते हैं, तो यह साधना में बहुत बड़ी उपलब्धि है। फिर मात्र दृष्टा बनकर हम उस महाशक्ति की लीला को देखते है और आनन्दित होते हैं। जहाँ पर हम मन, माया और इच्छाओं पर अधिकार करने लगते हैं, वहीं समझिए जीवन में कष्ट शुरु हो जाते हैं, दुख शुरु हो जाते हैं।

आज सारे विश्व में भटकन है, त्राहि–त्राहि है और एक विक्षेप का, भय का, चिन्ताओं का, तनाव का वातावरण है। उसका प्रमुख कारण यही है, कि हम ईश्वरीय सत्ता से दूर हट गए हैं। हम अपनी तुच्छ सी बुद्धि को जीवन की योजनाओं में लगाने लगते हैं, जो कि हमारे हाथ में नहीं है। जीवन का कोई भी पहलू हमारे हाथ में नहीं

है। जीवन हमें हमारी इच्छा से नहीं मिला है। हम अमुक–अमुक समय पर संसार में क्यों आए हैं? हमें नहीं मालूम। विशिष्ट प्रकार का आकार, प्रकार और विशिष्ट परिवार, धर्म, समाज, जाति, माता–पिता हमको क्यों मिले हैं? कब हमको इस संसार से जाना है? हमें नहीं मालूम! जो कार्य हम कर रहे हैं, वे कार्य हमारे बिना भी हो सकते हैं, सम्भवतः हमारे बिना और भी अच्छा हो। यदि इस रहस्य को हम पकड़ लें, तो हमारा जीवन अत्यन्त सुखद हो जाता है। ईश्वरीय इच्छा से हम सारे कार्य करने लगते हैं, जिसको हम प्रयत्न कहते हैं, भौतिक जगत में किये गये प्रयत्न निरर्थक हैं। एक ही प्रयत्न है, कि हम अपनी समस्त शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों को जुटाकर, अपने खोए से स्वरूप, उस सच्चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त करने के लिए अग्रसर हों! अपने इष्ट के सम्मुख एक अबोध बालक की तरह हम रुदन करते हुए और अपनी समस्त शक्तियों का समर्पण करते हुए नित्य प्रार्थना करें तो कभी विशेष ईश्वरीय कृपा से हमें अपने खोए से स्वरूप का, अपने भीतर से ही दिग्दर्शन हो जाता है। शायद यही हमारा कर्त्तव्य है, यही हमारा कर्म है। उस स्वरूप की प्राप्ति के बाद यह कर्त्तव्य अथवा कर्म, यह भी गौण हो जाते हैं, इनका भी कोई महात्म्य नहीं रहता। बहुत अधिक तप के बाद जब अपने स्वरूप का दिग्दर्शन हो जाता है तो ऐसा महसूस होता है, कि तप की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। यदि कोई ऐसा कर्म है जो कि हमारे बिना नहीं हो सकता, तो वह है अपने सत्य स्वरूप के दिग्दर्शन का सतत् प्रयास।

जीवन की एक अवधि है, उस अवधि के बाद जीवन समाप्त हो जाता है। पुनः शुरु होता है। उस सत्य को जाने बिना हम जन्म–जन्मान्तरों तक भटकते रहते हैं, भटकते रहते हैं और यह कार्यक्रम चलता रहता है। इसलिए प्रत्येक कार्य में और प्रत्येक ईश्वरीय विधा में हम अपने प्रत्येक श्वास के साथ, जीवन के प्रत्येक पल के साथ उस ईश्वरीय इच्छा को ही अपने सम्मुख रखे और स्वयं को समर्पित करते जाए तो हम सुखद जीवन बिताते हुए इस परम रहस्य को पा जाएंगे और यह दिशा हमको मोक्ष की ओर ले जाएगी।

।। जय जय श्री राम।।

कृपा–पात्रता

खुदी को कर बुलन्द इतना, कि हर तकदीर से पहले
खुदा बन्दे से खुद पूछे, बता तेरी रज़ा क्या है?

बड़ा अद्‌भुत सुझाव दिया है किसी शायर ने कि, "ऐ मानव! ऐ बन्दे! अपनी खुदी को इतना विशाल कर ले, कि ईश्वरीय स्तर पर तेरे से विचार–विमर्श होने लगे'' सुनने में कुछ अतिशयोक्ति सी लगती है, लेकिन यह सत्य है। यह खुदी क्या है? खुदी को अग्रेज़ी में कहा है–Self और हम साधारण भाषा में इसको कहते हैं– **'आपा'**। जिस समय हम किसी व्यक्ति से कोई बर्ताव कर रहे हैं, उस समय हमारा एक विशिष्ट आपा होता है, एक Self होती है, जिसके अनुसार हम जगत में व्यवहार करते हैं। अक्सर देखने में आता है, कि बौद्धिक, शारीरिक और मानसिक क्षमताओं में अति कमज़ोर एवं दुर्बल लगने वाले व्यक्ति बहुत उत्कृष्ट और विलक्षण कार्य सम्पन्न कर देते हैं और कार्य सम्पन्न होने के बाद उनके स्वयं के मस्तिष्क में एक रहस्य बन जाता है, कि वे यह इतना बड़ा कार्य कैसे कर पाए? इस रहस्य के पीछे दर्शन क्या है? इसका आज अधिक से अधिक विवेचन एवं विश्लेषण करने का प्रयत्न करेंगे।

किसी सामान्य परिस्थिति में, किसी विशिष्ट व्यक्ति का एक आपा होता है, एक Self होती है और उस आपे के कारण वह व्यक्ति प्रायः समाज में जाना जाता है। लेकिन कुछ विशेष परिस्थितियों वश, किसी कष्ट में, कभी काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहम्‌वश व्यक्ति का आपा बदल जाता है, उसका व्यवहार बदल जाता है। उसका बाह्य और भीतरी जगत दोनों बदल जाते हैं और उसका व्यवहार सामान्य व्यवहार से विपरीत अथवा बहुत असामान्य हो जाता है, जो कि उसके जानने वालों के लिये एक हैरानी, उत्सुकता और आश्चर्य का विषय बन जाता है। यदि हम किसी व्यक्ति की या स्वयं की मानसिकता का सूक्ष्म विश्लेषण करें, तो हम पाएंगे कि एक व्यक्ति के भीतर अनेक व्यक्तित्व छुपे रहते हैं और उसका प्रत्येक व्यक्तित्व अपने में एक ब्रह्मांड होता है। उसका बाह्य और भीतरी जगत उसके व्यक्तित्व के साथ ही बदल जाता है, उसका व्यवहार बदल जाता है और उसके जीवन का समस्त परिणाम, विचारधाराएं और जीवन की धाराएं बदल जाती है। इसे कहा है आपे में

परिवर्तन। आपा बदलना बहुत विशिष्ट विषय है। इस विषय के ज्ञान से हम अपने स्वयं के, अपने सगे–सम्बन्धियों के और समाज के भीतर बहुत उत्कृष्ट परिवर्तन ला सकते हैं।

उदाहरण के लिए प्रभु श्री हनुमान जी, स्वयं शिवशक्ति के अवतार, परम–सशक्त, महाबलिष्ट, सागर के किनारे जब वह वानरों की सेना की एक टुकड़ी के साथ माता सीता की खोज में निकले हुए होते हैं, तो अन्य वानरों की समुद्र के लांघने में असमर्थता के प्रगटीकरण के कारण हनुमान जी चिन्तित हो जाते हैं, कि माता सीता की खोज कैसे होगी? उनसे सम्पर्क कैसे किया जा सकेगा? वे बहुत शिथिल एवं चिन्तित बैठे हैं और आँखों से अश्रु बह रहे हैं। बड़े असहाय से महसूस कर रहे हैं स्वयं को। इनके मंत्री जामवंत जी महाराज जब देखते हैं, कि शिवशक्ति का अवतार जब स्वयं को असहाय समझे हुए नेत्रों से अश्रु बहा रहा है, तो वे उनको स्मरण दिलाते हैं, जागृत करते हैं–

कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेउ बलवाना।।
पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिग्यान निधाना।।

वे हनुमन्त जो बहुत असहाय से और दुर्बल से बैठे हुए हैं, जामवंत द्वारा उनकी शक्तियों को जागृत करने के बाद इतने शूरवीर हो जाते हैं, कि उनका तेज किसी के लिये भी सहन करना कठिन हो जाता है। वे समुद्र का लंघन करते हैं और आगे आपको सारी कहानी मालूम है। तो यह प्रक्रिया क्या है? क्या है इसका दर्शन? अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के भीतर अदम्य शक्तियाँ होती हैं और उसकी शक्तियों का, उसके विशिष्ट आपे के साथ सम्बन्ध होता है। मैं पुनः इस बात को दोहराता हूँ। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं में शक्ति सम्पन्न है और सच पूछिए तो प्रत्येक व्यक्ति उस सच्चिदानन्द ईश्वर का सीधा प्रतिनिधित्व करता है, लेकिन हम दुर्भाग्यवश, मायावश, अज्ञानतावश स्वयं उस सच्चिदानन्द स्वरूप से बहुत दूर हो जाते हैं। वह स्वरूप विलय नहीं होता, समाप्त नहीं होता, कहीं न कहीं हमारे भीतर छिपा रहता है। कहा गया है ,***''बिनु हरिकृपा मिलहि नहि संता''***,

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग,
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सत्संग।

संत और सत्संग से क्या होता है? किसी व्यक्ति के भीतर छिपी हुई दैवी शक्तियाँ, उसका दैवीय आपा जागृत हो जाता है। हरि कर, ईश्वर की कृपा से क्या होता है? ईश्वर की कृपा से संत मिलता है, सत्संग मिलता है। संत और सत्संग किसी व्यक्ति को कहीं बाहर से ऐश्वर्य लाकर नहीं देते, वे मात्र उसको जागृत कर देते हैं, उसके भीतर छिपे हुए ईश्वरत्व को प्रगटीकरण करने के लिए प्रेरित कर देते हैं, उसके अंदर दैवीय आपा जागृत हो जाता है, उसकी खुदाई उसके अंदर जागृत हो जाती हैं। उसकी जागृति के साथ एक विशेष वातावरण, भीतरी और बाहरी, तुरन्त प्रकट हो जाता है। एक विशेष शक्ति, शांति, सुख, हर्ष, उल्लास, अभय, आरोग्यता, सर्वसम्म्नता, शक्ति, भक्ति, मस्ती, प्रेम और आनंद का सागर हिलोरें लेने लगता है। व्यक्ति को अंदर और बाहर का जगत बहुत सुन्दर, अनुपम और उत्कृष्ट लगने लगता है।

जीवन की रूप रेखाएं बदल जाती हैं। समस्त ब्रह्माण्ड तो क्या करोडों ब्रह्माण्ड एक वीणा के नाद की नाईं उसको आनन्द देने लगते हैं। सब कुछ बदल जाता है। सर्वत्र आनन्द का वातावरण तैयार हो जाता है, मात्र उसी व्यक्ति के आपा बदलने से। जब दैवीय कृपा से दैवीय आपा जागृत हो जाता है, तो मनुष्य स्वयं को उस सन्निदानन्द स्वरूप के बहुत करीब पाने लगता है। उसके समस्त दुख–दर्द, क्लेशों का निवारण हो जाता है। आप कभी गहरे ध्यान से ईश्वरीय उपासना और भक्ति से उठे तो आप स्वयं को बहुत प्रफुल्लित, हल्का एवं आनन्द विभोर पाते हैं। ध्यान, पूजा एवं समाधि में बैठने से पहले और उठने के बाद की पूरी मानसिकता बदल जाती है मानव की।

कितना अन्तर पड़ जाता है जब मानव के अन्दर का दैवीय व्यक्तित्व जागृत हो जाता है। देखिए, मानव देह धारण करने के बाद हम इस सत्य से कितने परे रहते हैं? जब सत्संग द्वारा हमें यह सत्य मालूम चल जाता है, कि करोड़ों ब्रह्माण्डों का ऐश्वर्य, सुख, निधि, परिपूर्णता और पूर्णकाम हमारे भीतर ही समाहित है, तो हमारी बाह्य दौड़–धूप बंद हो जाती है। लेकिन यह तभी संभव है जब हम अपने दैवीय आपे को, व्यक्तित्व को, प्रस्फुटित कर लेते हैं–सत्संग द्वारा, साधना द्वारा, उपासना द्वारा, योगाभ्यास द्वारा या कैसे भी। कुछ मानव जब संसार में आते हैं, तो वे जागृत ही आते

है। उनका दिव्य आपा जागृत ही होता है, ऐसे व्यक्तियों को हम महापुरुष कहते हैं, संत कहते हैं और कुछ, सत्संग एवं अपने तप के बल पर अपना दिव्य आपा जागृत कर लेते हैं।

ईश्वरीय कृपा का अर्थ क्या है? हमारे दैनिक जीवन में किसी व्यक्ति विशेष के लिये हम कहते हैं, कि यह दैवीय, ईश्वरीय कृपा से परिपूर्ण है, उसका सुपात्र है। किसी को हम ईश्वरीय कृपा का कुपात्र कहते हैं। यह शब्दावली क्या है? इसका रहस्य क्या है? इसको मैं थोड़ा आपके सामने स्पष्ट करने की कोशिश करुँगा। प्रत्येक जीव, प्रत्येक जीवधारी अपनी एक विशिष्ट मानसिक, शारीरिक एवं बौद्धिक क्षमता, किसी विशेष देश, काल व परिस्थिति में रखता है, उसको उसकी पात्रता कहते हैं और इस भौतिक पात्रता की एक निश्चित क्षमता होती है उस देश, काल और परिस्थिति में।

उदाहरण के लिए आप एक लोटा लीजिए, उस लोटे की एक क्षमता होती है, एक धारिता होती है, जिसको उसका आयतन कहते हैं और उसके अधिकतम् आयतन या धारिता के अनुसार ही उसके अंदर हम किसी द्रव्य को, जल इत्यादि को रख सकते हैं। अब यदि कोई कहे कि हम लोटे में समुद्र का जल भर लें, तो यह कथन बड़ा हँसी का सा और मज़ाक का सा लगता है, कि एक लोटे की धारिता समुद्र जितनी कैसे हो सकती है? वह तभी सम्भव है कि यदि हम उस जल के लोटे को समुद्र में फेंक दें तो उस समुद्र में पड़े हुए लोटे का आयतन उतना ही रहेगा, जितना कि उस समुद्र से बाहर था, लेकिन उसकी धारिता से असंख्य गुणा अधिक जल हम उसमें से निकाल सकते हैं और लोटा फिर भी भरे का भरा ही रहेगा, बशर्ते कि वे समुद्र में डूबा हुआ है। वह सीमित लोटा जिसकी धारिता व आयतन सीमित था, जब वह समुद्र से जुड़ गया, तो उसकी क्षमता तुरन्त असंख्य गुणा बढ़ जाती है।

इसी प्रकार हमारी बौद्धिक व शारीरिक क्षमताओं की एक सीमा होती है और उससे अधिक क्षमता का उस व्यक्ति की सीमा में प्रवेश नहीं हो सकता। लेकिन प्रभु कृपा से जब वह स्वयं को उस प्रभु से जोड़ लेता है हृदय से, मन से, तो वह भी उसी प्रकार हो जाता है जैसा कि लोटा समुद्र में डूबने के बाद हो जाता है। उस महापुरुष की, उस महामानव की जो ईश्वर से जुड़ गया है, उसकी स्वयं की क्षमताएं असंख्य

गुणा बढ़ जाती है, जिसकी गणना उसके स्वयं के पास भी नहीं होती। ऐसे महामानव किसी को कुछ भी वरदान दे सकते हैं, कुछ भी निर्माण कर सकते हैं जो कि एक साधारण मानव से हम आशा भी नहीं कर सकते, तो उनका आपा, ईश्वरीय आपा हो जाता है। अर्थ यह नहीं है कि उसके शरीर का आकार बढ़ जाता है, ऐसा नहीं होता लेकिन **उसका अधिकार बढ़ जाता है, क्षमताओं से अधिक उसका अधिकार हो जाता है, उसे कहते है ईश्वरीय कृपा।**

साधारणतः हम सांसारिक दृष्टि से जब किसी व्यक्ति की किसी विशिष्ट क्षमताओं का वर्णन करते हैं, तो उसकी धन की परिस्थिति, उसका पद, उसके सगे–सम्बन्धियों की शक्तियों इत्यादि से आकलन करते हैं। लेकिन जब वह ईश्वर के साथ जुड़ जाता है, तो उसकी शक्तियाँ अगणित हो जाती हैं। स्वयं भी वह उनकी गणना नहीं कर सकता, कि मैं कितनी शक्तियों से परिपूरित हूँ और मेरा अधिकार कितना हो चुका है? उसके संकल्प मात्र में सिद्धि हो जाती है, वह जो इच्छा करता है, उसके सामने वही प्रकट हो जाता है। वास्तव में देखें तो ऐसे व्यक्ति इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक व इच्छाफल, इन चारों चीजों को ईश्वर के समर्पित कर देते हैं। उनका अपना कुछ भी नहीं होता। तो खुदी को बुलन्द करने का अर्थ है, कि जीव अपने में एक सीमा रखते हुए भी, उस असीम से जुड़ने के बाद स्वयं भी असीम हो जाता है। ईश्वरीय स्तर पर उसकी पहुँच हो जाती है, इसे कहते हैं ईश्वरीय कृपा या सुपात्रता। इसके विपरीत कुपात्र अपने छोटे से मानसिक जगत में, अपनी शारीरिक, बौद्धिक व मानसिक शक्तियों तक ही सीमित हो जाता है और प्रत्येक किए हुए कार्य में, 'मैं मैं' करने लगता है, तो उससे उसको कुछ उपलब्धि तो हो सकती है लेकिन वह एक सीमित उपलब्धि होती है।

साधारणतः आपने देखा होगा कि कुछ लोग जिनकी जीवन में कुछ प्राप्ति भी नहीं होती परन्तु उनके अधिकार बहुत अधिक होते हैं। किसी भी समय वह किसी भी वस्तु का उपभोग आनन्दपूर्वक कर सकते हैं। हम कहते हैं कि इन पर ईश्वर की बड़ी कृपा है।। उसके पीछे रहस्य यही है कि वह असीम से, उस सच्चिदानन्द से जुड़ जाते हैं। वास्तव में पूछें तो उनके भीतर से ही वह खुदाई प्रवृत्ति, वह दैवीय आपा जागृत हो जाता है। यहाँ जुड़ना और टूटना शब्द तो एक कथन मात्र है।

वास्तव में प्रत्येक मनुष्य के भीतर वह असीम आनन्द का सागर हमेशा हिलोरें खाता रहता है और वह स्वयं को उससे दूर सा समझते हुए कष्ट पूर्ण जीवन बिता देता हैं।

साधना और कर्म क्या हैं? कि **हम स्वयं को और स्वयं की उन असीम शक्तियों को पहचाने और उनको जागृत करें। इससे हमारी बाह्य दौड़–धूप समाप्त हो जाती है और भीतर से ही दिव्य जगत प्रगट हो जाता है जो कि हमारे बाह्य जगत में भासने लगता है।** यह ऐश्वर्य, सम्पदा, सामान्य और विशिष्ट अधिकार, यह उरस दिव्य आपे की जागृति के साथ, हमको प्राप्त हो जाते हैं। संतोष मिल जाता है। जीवन में किसी प्रकार की भटकन नहीं रहती।

दूसरी ओर एक आसुरी आपा है, एक राक्षसी व्यक्तित्व जिस पर आज मैं विशेष महत्व देना चाहूँगा। भूत–प्रेत, पिशाच, डाक डाकनियाँ, चुड़ैलें इत्यादि–इत्यादि का वर्णन हम करते और सुनते लोगों को पाते हैं। क्या है यह सब कुछ? इसमें सत्यता क्या है? **हमारी कुलषित और विकृत मानसिकता हमारे राक्षसी व्यक्तित्व को प्रगट या उत्पन्न करती है,** तो इनके प्रगटीकरण से क्या होता है? एक विशिष्ट दुर्दान्त, भयानक, कष्टपूर्ण, विदीर्णता से ओत–प्रोत और असंतुष्ट जगत भीतर और बाहर उत्पन्न हो जाता है। एक साधारण, सामान्य मानव एक विकृत जीवन जीने लगता है। आसुरी आपा प्रकट होता है कुसंग से व दुर्व्यसन करने से, जैसे– शराब, भांग, चरस इत्यादि–इत्यादि। यह दुर्व्यसन व्यक्ति में क्षणिक अथवा लम्बे समय तक उसके आसुरी व्यक्तित्व को प्रकट कर देते हैं और उसका दैवीय व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है। **आसुरी व्यक्तित्व के प्रकट होते ही उस व्यक्ति का चेहरा और उसके शरीर के हाव–भाव बड़े विचित्र से, भयानक से दिखाई देने लगते हैं।** वह व्यक्ति स्वयं में अशान्त हो जाता है, उसके समस्त निर्णय गलत हो जाते हैं। उसके साथ ही उसके भीतर एक भयानक जगत उत्पन्न हो जाता है, बाहर के सगे–सम्बन्धियों को वह उसी दृष्टि से देखने लगता है। जब वह नशा उनरता है, तो अपने कृत्य पर उसे बहुत ग्लानि होती है। हम अक्सर कहते है, कि **लोभ में, क्रोध में, अहम् में और नशों में व्यक्ति अपना दैवीय आपा खो देता है और उसका आसुरी आपा प्रकट हो जाता है, जिसकी तुलना**

हम भूत—प्रेत, पिशाच, डाक—डाकनियों से कर सकते हैं। उस व्यक्ति का समस्त व्यवहार आसुरी हो जाता है, विनाशकारी हो जाता है। तो क्यों न इस आसुरी आपे को प्रकट करने वाली वस्तुओं से, वातावरण से, व्यक्तियों से हम दूर रहें, बचकर रहें। **उस नशे के उतरने के बाद उस व्यक्ति को एक महाग्लानि का आभास होने लगता है, कि मैं क्या कर बैठा हूँ? मैंने कैसा व्यवहार किया? जबकि दूसरी ओर जब दैवीय आपा प्रकट होता है तो व्यक्ति को सामान्य होने के बाद भी, उसको अपने उस आपे की स्मृति नहीं भूलती और वह एक आनन्द की स्थिति में बना रहता है। उसको एक विशेष खुमारी अथवा एक विशेष नशा रहता है, *"नाम खुमारी नानका, चढ़ी रहे दिन रैन"*।** जब प्रभु कृपा से, संत की कृपा से, गुरु कृपा से किसी को प्रभु के नाम का दान मिल जाता है, तो उसका नाम जपते—जपते उसके अंदर एक विशिष्ट आपा, दैवीय व्यक्तित्व जाग्रत हो जाता है और उसके जागृत होते ही एक विशेष संतोष व आनन्द की अनुभूति होती है, जिसका अपना एक नशा होता है. जो अवर्णनीय है, जिसको बयान नहीं किया जा सकता।

हमारे भीतर असंख्य ब्रह्माण्ड हैं और हमारे प्रत्येक ब्रह्माण्ड की एक निर्देशक शक्ति है यह बात बहुत गहनता से समझने की है। आप विचार करें, कि जिस इष्ट को आप ईश्वर स्वरूप में मानते हैं, जिस नाम और रूप में आप 'प्रभु को ध्याते हैं क्या उसी नाम, रूप में प्रभु की सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में मान्यता है? ऐसा नहीं है। ईश्वर सत्ता तो एक ही है, परन्तु भिन्न—भिन्न नामों और रूपों मे, अनामों एवं अरूपों में, पूरे विश्व में उसकी मान्यता है। जहाँ—जहाँ भी कोई व्यक्ति, समुदाय, जाति, समाज व देश किसी भी नाम—रूप में ईश्वर को मानते हैं या ईश्वर के प्रति उनकी कोई भी धारणा या आस्था है, वो प्रभु एक ही है।

जब हमारी मानसिकता विस्तृत हो जाती है, प्रभु कृपा से यह रहस्य खुल जाता है, तो हम देखते हैं कि विश्व में क्या करोड़ों ब्रह्माण्डों में जहाँ—जहाँ ईश्वर की जो मान्यता है, वह हमें अपने इष्ट का ही स्वरूप नज़र आने लगता है। कोई भेदभाव नहीं रहता, सारी मान्यताएं हमें अपनी मान्यताएं सी लगने लगती है। **व्यक्ति धर्मातीत हो जाता है। वह सब धर्मों से ऊपर हो जाता है। जहाँ से सभी**

धर्म प्रकट होते हैं और जहाँ सभी धर्म आकर मिल जाते हैं, इस अवस्था को कहा है धर्मातीत। जहाँ–जहाँ इस सम्पूर्ण विश्व मे, नाम–रूप की मान्यता है ईश्वर की, वहीं–वहीं हमें उसी नाम–रूप में अपना एक इष्ट नज़र आने लगता है। एक नाम–असंख्य रूप, एक रूप–असंख्य नाम, असंख्य नाम–असंख्य रूप, सभी हमें अपने सर्वशक्तिमान इष्ट के ही नज़र आने लगते है। कोई भेदभाव नही लगता। जब यह ज्ञान–दृष्टि प्रभु कृपा से, गुरु कृपा से, संत कृपा से मिल जाती है, तो उसके बाद ईश्वर को विभिन्न नाम–रूपों में जो मानने वाले व्यक्ति हैं, जो अलग–अलग धर्म हैं, वे भी मनुष्य को अपने ही लगने लगते हैं। उसकी सोच का, विचार का, ज्ञान का दायरा बहुत विस्तृत हो जाता है। दूसरे शब्दों में वो एक सीमित जगत से असीम में प्रवेश कर जाता है। ऐसी अवस्था को शास्त्रकारों ने कहा है, कि **उस व्यक्ति का आवरण हट जाता है। जब एक बार आवरण हट जाता है तो दोबारा नहीं पड़ता। हृदय का मल और विक्षेप समाप्त हो जाता है। उस आवरण के हटने के बाद मानव को अपनी असीमता की, झलक की मस्ती आती है जो अनिर्वचनीय है,**

तुम वो बात क्यों पूछते हो, जो बताने के काबिल नहीं है।

एक अनिर्वचनीय पद जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता, लिखा नहीं जा सकता। यहाँ तक कि जिसके बारे में सोचा भी नहीं जा सकता, बुद्धि से, वाणी से, विचारों से परे का विषय है। एक अद्वितीय, विलक्षण आनन्द की अनुभूति, मात्र अनुभूति होती है। यह है ईश्वरीय आनन्द। उस आनन्द की अनुभूति के बाद, उसकी एक झलक के बाद मानव पुनः कभी भी, किसी जन्म में भी अपने उस सीमित जीवीय वातावरण में नहीं आना चाहता। तभी कहा है कि एक बार आवरण हट जाये तो दोबारा नहीं पड़ता। तो यह है ईश्वरीय कृपा। कृपा से कोई चीज़ अंदर प्रवेश नहीं कर जाती, बल्कि हमारे तुच्छ व्यक्तित्व लुप्त हो जाते हैं और भीतर से दैवीय व्यक्तित्व प्रकट हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों के पास बैठकर शान्ति मिलती है, भले ही वो अपने श्रीमुख से कुछ बोले अथवा न बोलें। ऐसे महामानव जिस स्थान पर बैठते हैं वे स्थान तीर्थ बन जाते हैं। उनका एक विशेष महत्व हो जाता है और वे स्थान भी संसार के लिए पूजनीय हो जाते है।

हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है? न जाने जीव कितने–कितने जन्मों में भटकते–भटकते इस संसार में पुनः आता है। यदि एक बार हम इस परम रहस्य का विचार करें। कितनी दौड़–धूप हम बाहर जगत में करते हुए निरर्थक समय व्यतीत करते हैं और अन्ततः मृत्यु के ग्रास में चले जाते हैं कभी न कभी। तो क्या हम अपने दैनिक जीवन में कुछ क्षण उस परम ईश्वरीय सत्ता के सन्मुख होकर अपना दैवीय आपा, उस दिव्य प्रवृत्ति और व्यक्तित्व को जागृत करने में लगाते हैं? यदि हम नहीं लगाते, तो हमारे जीवन का कोई भी अर्थ नहीं है।

यदि हम वास्तव में उस परमानन्द का रसास्वादन करना चाहते हैं, यदि हम जीवन का एक–एक क्षण बिताना चाहते हैं सुखपूर्वक व शान्तिपूर्वक, तो हमे अपने भीतर से ही अपने ईश्वरीय व्यक्तित्व को प्रकट करना होगा, जिसके बिना संतोष, सुख और शान्ति की परिकल्पना का भी कोई औचित्य नहीं है। ईश्वरीय कृपा से प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर दैवीय व्यक्तित्व की उत्पत्ति अवश्य होती है। उसकी जागृति और उसके फलस्वरूप जीवन का आनन्दमय हो जाना, यही हमारा लक्ष्य है, नहीं तो हम जन्म–जन्मान्तरों में पैदा होने व होश संभालने से लेकर मृत्यु तक भटकते ही रहते हैं और इस भटकन में हम अपना जीवन व्यतीत कर देते हैं। एक प्रतिस्पर्धा, एक ईर्ष्याभाव, एक जलन और न जाने कितने विकारों का बोझा ढोते–ढोते हम अन्ततः वृद्ध हो जाते हैं और उन्हीं तुच्छ मानसिकताओं को लिये हुए यह देह हमको एक दिन त्यागनी पड़ती है और पुनर्जन्म में फिर वही सिलसिला शुरू हो जाता है।

हमारा विशिष्ट कर्म क्या है? विशिष्टतम कर्म यह है कि हम अपने भीतर अपने दिव्य व्यक्तित्व को जागृत करें। दिव्य व्यक्तित्व को जागृत करने से हमारा बाह्य जगत भी दिव्य हो जायेगा। ऐश्वर्यपूर्ण हो जायेगा। ऐश्वर्य धन कमाने से, वस्तुओं की प्राप्ति से नहीं आता। यह बहुत विशिष्ट बात मैं आपके सम्मुख रख रहा हूँ। हम गलत समझते हैं, कि हमें अमुक वस्तु प्राप्त कर लेने या धन कमा लेने से सुख की, शान्ति की उपलब्धि होगी। यह निरर्थक हमारा भ्रम है। यदि हम अपना बाह्य जगत आनन्दमय चाहते हैं, ऐश्वर्यपूर्ण चाहते हैं, सशक्त चाहते हैं, सौन्दर्यवान चाहते हैं तो हमें अपने भीतर से अपना वह विशेष व्यक्तित्व, अपना वह आपा प्रकट करना होगा और उसके लिये हमें ईश्वर के सम्मुख जाना होगा। उपासना का जीवन में बहुत

महात्मय है, नहीं तो हम साधारण सा, एक पशुवत् जीवन जीकर समाप्त हो जाते हैं और जन्म–जन्मान्तरों में हम पशुवत् ही रहते हैं।

जीवन का परम लक्ष्य क्या है? कि हम अपने जीवन में सुषुप्त उस ईश्वरीय सत्ता को जागृत करें, अपने भीतर प्रवेश करें, अपने आपको पढ़ें, विश्लेषण करें कि हम कहाँ हैं? हमारा इस समय व्यक्तित्व क्या है? इसका ज्ञान हमें अपने उस समय की मानसिक स्थिति और उस समय के अपने बाह्य जगत से हो जाता है। यदि बाहा जगत हमारा कष्टपूर्ण है, यदि हमारी मानसिक स्थिति त्रास से, विक्षेप से, चिंताओं से घिरी हुई है, तो समझ लीजिये कि हमारा आसुरी आपा है, राक्षसी आपा है। कोई प्रेत शक्ति, कोई भूत हमारे भीतर से जागृत हुआ बैठा है, जो कि हमको विक्षिप्त कर रहा है, निरर्थक। उसको उसी समय समाप्त करना होगा। उसका एक ही उपाय है, हमारे असीम, सशक्त, ऐश्वर्यवान, ख्यातिवान, त्यागवान, बलवान उस परम स्वरूप उस सच्चिदानंद स्वरूप, उस ईश्वरीय व्यक्तित्व की जागृति, जिसके लिये संतों का दर्शन, संतों का सत्संग और प्रभु की ओर सन्मुखता जरूरी है।

सनमुख होइ जीव मोहि जबही, जन्म कोटि अघ नासहि तबही।

एक बार जब जीव आर्त्तनाद करता हुआ उस अपने परम सत्य स्वरूप सच्चिदानंद की ओर मुड़ता है, तो उसके उस विशिष्ट ईश्वरीय व्यक्तित्व की जाग्रति के साथ ही जिसको हम कहते हैं ईश्वरीय कृपा, उसके जन्म–जन्मान्तरों के करोडों पाप नष्ट हो जाते हैं और तुरन्त एक विशेष आनन्दमयी मानसिकता का अनुभव होने लगता है। देखिये, इस एक ही व्यक्ति, एक ही जीवधारी के अन्दर कितनी असीम शक्तियाँ हैं, लेकिन उनके प्रगटीकरण के लिये हमें अपने भीतर झाँकना होगा। मैं इस समय किस स्थिति में, किस मानसिकता में विचर रहा हूँ? उसका सत्य विश्लेषण जब हम कर लेते हैं तो हमे स्वयं का पता चल जाता है, कि हम कौन से व्यक्तित्व में, कौन से आपे में विचर रहे हैं? जब हम उस समय स्वयं को कुछ क्षण के लिये भूलकर अपने दैवीय स्वरूप की ओर मुड़ते हैं, तो हमें अपने उस असीम सच्चिदानन्द स्वरूप की झलक मिल जाती है, आवरण हट जाता है और जीवन अति आनन्दमय हो जाता है, यही ईश्वरीय कृपा है। हम सब इस कृपा के पात्र हैं। हमारे भीतर इम कृपा का महासागर हिलोरें

खा रहा है, तो क्यों न इस कृपा को खोजा जाए? मेरे विचार से यदि कोई सदकर्म जीवन में है तो यही है, मात्र यही है।

मानव जन्म लेता है और मानव शिशु होश संभालते ही जैसे–जैसे उसकी शारीरिक और बौद्धिक शक्तियाँ विकसित होने लगती हैं, वह अपने पूर्व जन्मों के संस्कारों वश और पारिवारिक व सामाजिक परिस्थितियों वश अनन्त प्रकार के कर्मों एवं कर्त्तव्यों का बोझ अपने सिर पर ले लेता है और उन्हीं कर्मों एवं कर्त्तव्यों को निभाता हुआ या **निभाता सा हुआ** जीवन की यात्रा करता रहता है। कभी सफलता, कभी असफलता उसके हाथ लगती है। इस प्रकार हर्ष–विषाद, खोना–पाना, उठना–गिरना इत्यादि मानसिक एवं शारीरिक क्रियाओं में एक दिन जीवन समाप्त हो जाता है, जिसको हम मृत्यु की संज्ञा देते हैं। यदि गहन चिंतन से विचार करके देखें, तो प्रत्येक जन्म में, प्रत्येक जीवन में हमारी ऐसी सी ही क्रियाएं रहती हैं और प्रत्येक जन्म इसी प्रकार समाप्त होता जाता है। हमारे जीवन का अर्थ क्या है? क्यों हम बार–बार जन्म लेते हैं? क्या कर्तव्य हैं हमारे? यदि हम संसार में न होते, यदि अमुक–अमुक कर्मों को, कर्त्तव्यों को न करते तो क्या संसार चल नहीं रहा था? क्या हमारी मृत्यु के पश्चात् संसार भी समाप्त हो जाता है? ऐसा नहीं है तो इसका आज और अभी निर्णय करना अति आवश्यक है कि हमारा कर्म क्या है?

हमारा कर्त्तव्य क्या है? जीवन का अर्थ क्या है? अति गहन चिंतन से हम देंखे तो ज्ञात होगा कि अधिकाशंत कहे जाने वाले हमारे कर्त्तव्य आरोपित हैं। हमने व्यर्थ ही अपना जीवन बिताने के लिए या स्वयं को जीवन में आवश्यक घोषित करने के लिये अपने ऊपर कर्त्तव्यों का बोझ लादा हुआ है। जैसा कि मैं पहले भी एक बार वर्णन कर चुका हूँ, कि कोई भी कार्य या कर्म जो हमारे बिना भी हो सकता है वह हमारा कर्त्तव्य कैसे हो सकता है? ईश्वर ने मानव देह एवं जीवन की सरंचना, उसके ऊपर कोई कर्त्तव्य पूर्ति के लिये नहीं की। ईश्वर जो इतने करोड़ों ब्रह्माण्डों का नायक है और मानव देह जो स्वयं में एक बहुत बड़ा रहस्य है, विचित्र रचना है परमात्मा की, वह सर्वशक्तिमान परमात्मा ऐसा कौन सा कार्य है, जो नहीं कर सकता था और जिसके लिये उसको मानव देह की रचना की आवश्यकता पड़ी। यह अति विचारणीय विषय है।

इस संसार महानाट्यशाला के रचयिता, इन महान सागरों, नदियों, पर्वतों, वनों, वनस्पतियों, ब्रह्माण्डों, वायुमण्डल, वसुन्धरा, आकाश, विभिन्न ग्रह और नक्षत्रों और इस महान पृथ्वी के निर्माता, असंख्य जीवधारियों के रचयिता, उस सर्वशक्तिमान ईश्वर का क्या ऐसा कोई कर्त्तव्य रह गया होगा, जिसके लिये उसने मानव देह की रचना की होगी! क्या हम आजीवन एक भ्रमजाल में तो नहीं घूमते रहते हैं? यह बहुत संवदेनशील विषय है।

यदि जन्म है तो मृत्यु भी अवश्य है, क्योंकि न तो किसी ने अपना जन्म देखा है और न ही मृत्यु। क्या कभी हमने स्वयं को निद्रा में देखा है? क्या यह जन्म, यह मृत्यु, यह निद्रा मात्र हमारी कल्पना तो नहीं है? खैर, इस विषय की गहराई में हम न जाये। यदि जन्म को हम मानते हैं, तो मृत्यु को भी मानना पड़ता है। बहुत सूक्ष्मतर विचार करने के पश्चात् जो मैंने अनुभव किया है, उसका मैं आपके सम्मुख विश्लेषण कर रहा हूँ। क्या यह हो सकता है, कि हम जीवन काल में ही कुछ क्षणों, के लिए या जीवन के कुछ भाग में हम जीते जी अपने आपको मृतक समझ लें?

मैं पुनः इसको गम्भीरतापूर्वक विचार करने के लिये आपके सम्मुख रखूँगा। जन्म के बाद, जीवन बिताने के बाद मृत्यु का होना निश्चित है। हम यह भी जानते हैं, कि हमारे जन्म से पहले संसार चल रहा था और हमारी मृत्यु के बाद भी संसार चलता रहेगा। तो इस जन्म का, इस जीवन का यदि हम वास्तविक अर्थ जानना चाहते हैं, कि हमें जीवन मिला क्या है? यदि कुछ क्षणों के लिये हम अपने ऊपर जो कर्त्तव्यों का बोझ लादे हुए हैं, उन कर्तव्यों से मृतक की नाईं विमुख हो जाएं! कुछ समय के लिये हम यह मान लें, कि हम जीते जी मृतक हो गये हैं। जिस कर्त्तव्य को हम हृदय पर, मस्तिष्क पर लादे हुए हैं और अपने आपकी बहुत आवश्यक मान रहे हैं, कि मेरे बिना अमुक कार्य नहीं हो सकता। इस कार्य का मैं ही कर्त्ता हूँ। मेरा अमुक–अमुक कर्त्तव्य है। यदि हम कभी साधना से, ध्यान से, चिंतन से अपने आपको जीते जी मृतक मानकर चलें, तो हम अवश्य पाएंगे, कि वे कार्य हमारे दृश्य से हटने के बाद बहुत सुन्दर होता है।, यह अपने आध्यात्मिक अनुभव के आधार मैं आपको बता रहा हूँ।

यहाँ एक बात विचारणीय है, कि यदि वह कार्य ईश्वर की इच्छा से होना है, तो

अति सुन्दर होगा, हम संसार में हों या न हो इसका कोई भी फर्क नहीं पड़ता। मेरे कहने का तात्पर्य यह है, कि **सारा ब्रह्माण्ड ईश्वर की इच्छा से क्षण–क्षण चलता रहता है, गतिमान है। मानव को, मानव बुद्धि, उत्कृष्ट बुद्धि केवल इसीलिये दी गई है, कि यह अपनी बुद्धि द्वारा उस ईश्वर के कृत्यों का रसास्वादन करे, आनन्द ले और उसका अनुसरण करे।** दुर्भाग्यवश, जैसे–जैसे बुद्धि का विकास होता है, हम जीवन का, दुनिया का एक ठेका सा ले लेते हैं और फलस्वरूप इस छोटे से जीवन को हम कष्टों में, विभिन्न कर्त्तव्यों के बोझ में, आकांक्षाओं में, महत्वाकांक्षाओं में, चिन्ताओं और तनावों में बिता देते हैं और हमारी यह महताकांक्षायें, हमारा यह कर्त्तव्यबोध हमको विभिन्न रोगों से ग्रसित कर देता है और इस प्रकार हम रुग्ण और विक्षिप्त जीवन बिताते हैं। क्या इसका अर्थ यह है कि हम कर्तव्यों से विमुख हो जाएं? कदापि नहीं! मेरा अर्थ यह नहीं कि हम हाथ पर हाथ धर कर बैठ जाएं, बल्कि मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि **ईश्वर ने हमारे इस जीवन की रचना की है। इस जीवन में खेलता भी वही है, खिलाता भी वही है। कर्म भी वही करवाता है और कर्म का फल भी वही देता है।** हमें तो उसके इन कृत्यों का आनन्द लेना है, जबकि हम अपने आपको कर्त्ता मानकर चलने लगते हैं, तो हम विक्षिप्त और दुखी हो जाते हैं। जब ईश्वर कृपा होती है, हमें इस रहस्य का मालूम चल जाता है कि कोटि–कोटि ब्रह्माण्डों का नायक, वह सर्वशक्तिमान ईश्वर अपनी शक्ति से हे ब्रह्माण्डों को चला रहा है। इनका सृजन. इनका पालक और संहारकर्त्ता वह स्वयं ही है। तो हमें इस अनुभूति से अपने जीवन में विशेष आनन्द का अनुभव होने लगता है।

उस कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड नायक ईश्वर को, ऐसा कौन सा कर्त्तव्य था कि जिसके लिये हमारी देह की रचना करनी पड़ी? यदि हम गहन विचार करके देखें तो ईश्वर का एक ही अर्थ रहा होगा, कि **मानव ही एक ऐसा जीवधारी है, जिसको उसने विकसित बुद्धि दी है। इस बुद्धि से वो ईश्वर के विभिन्न कृत्यों की प्रशंसा और विचार कर सकता है। उसको वाह–वाही दे सकता है।** यदि हमारा कोई परम कर्तव्य है तो वह यही है कि हम किसी भी क्षण, किसी भी पल, किसी भी कर्म अथवा कर्त्तव्य का बोझ अपने सिर पर न ले।। बल्कि स्वयं को मात्र

निमित्त समझें। तब हम देखेंगे कि परमात्मा जब भी हमारी देह से, हमारी बुद्धि से कुछ भी करवाना चाहते हैं, तो उस समय वैसी ही परिस्थितियां स्वयं ही बन जाती हैं। हमें तो उस कार्य का केवल आनन्द लेना होता है।

आज बुद्धि जितनी विकसित हो गई है उतना ही हम लोग कर्त्तव्यों और कर्मों के बन्धन में बंध गये हैं। कर्मों और कर्त्तव्यों का बंधन इतना बड़ा बंधन नही है, जितना हमारे कर्त्ताभाव के कारण इसके फल का बंधन है। जब हमारा जीवन कठिनाई में बीतने लगता है, तो उस परिस्थिति का उत्तरदायित्व भी हम अपने ऊपर ले लेते हैं। जब जीवन आनन्दमय बीतने लगता है, तो उन शुभ कर्मों का कर्मफल भी हम अपने ऊपर लेने लगते है। इस प्रकार जीवन पर जीवन बीतने लगते हैं और हमारे पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता। **यदि हम किसी भी कर्म का स्वयं को कर्त्ता मानेंगे, तो उसका भोक्ता हमको बनना ही पड़ेगा। वास्तविकता यह है कि मानव देह, बुद्धि और मन की संरचना परमात्मा ने इस प्रकार की है, कि समय–समय पर वह मनुष्य को मात्र निमित्त बनाकर सब कुछ करता, करवाता वह स्वयं ही है।** हम कुछ संस्कारों, परिस्थितियों एवं परिवारिक बन्धनों, सामाजिक बन्धन में बंधकर उन करवाए हुए कर्मों को अपने विभिन्न नाम दे देते हैं। शुभ–अशुभ, अच्छे–बुरे, पुण्य–पाप यह मात्र हमारा रवयं का दृष्टिकोण है।

ईश्वर की दृष्टि में पुण्य–पाप, शुभ–अशुभ, अच्छा–बुरा है ही नहीं ।***''समर्थ को नहीं दोष गोसांई।''*** क्या कभी हमने किसी भी कर्म के लिये ईश्वर को पापी या पुण्यी घोषित किया है? वास्तव मैं हम अपनी मानव बुद्धि द्वारा, अपने संस्कारों द्वारा अपने परिवार के, समाज के, देश के विशेष नियमों द्वारा स्वयं को पापी और पुण्यी घोषित करते रहते हैं और जितने भी कर्म हमारे द्वारा होते हैं, उनमें स्वयं को कर्ता मान लेते हैं और फिर इन पुष्यों और पापों की गठरी को अपने सिर पर ढोते हुए, जीवन व्यतीत करते–करते एक दिन मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। यह सिलसिला जन्म दर जन्म चलता रहता है। कितना भारी भ्रम, कितना बड़ा अंधकार छाया हुआ है। जब तक संत की, सदगुरु कृपा और सत्संग नहीं मिलेगा, हमारा यह भ्रम नहीं टूटेगा। बड़ा विकृत भ्रम है यह, जो कि हमको इस सुन्दरतम् जीवन का कोई भी क्षण उल्लास और हर्ष से बिताने नहीं देता। हम अपनी समस्त मानसिक, बौद्धिक और

शारीरिक शक्तियों को अपने जीवन–यापन के लिए ही बिता देते हैं। हमारा ध्यान हमारे पेट, हमारे बच्चों एवं संतान तक ही सीमित रहता है। ज़रा विचार करके देंखे कि इतने पशु–पक्षी, जीवधारी जिनकी बुद्धि विकसित नहीं है, क्या वह अपना पेट नहीं पालते? क्या वे बच्चे पैदा नहीं करते? वे भी तो कहीं न कहीं रहते हैं। उनकी भी तो जन्म–मृत्यु होती है। यह विचार बहुत क्रान्तिकारी है, जिसे हमें आज और इसी समय पकड़ना होगा, समझना होगा कि हम बुद्धि का दुरुपयोग कर रहे हैं।

मै एक बार पहले भी वर्णन कर चुका हूँ कि ईश्वर कृपा क्या है? ईश्वर कृपा जब होती है तो मानव इस रहस्य को पकड़ लेता है, कि उसका न कोई कर्म है न कोई कर्त्तव्य। वह परम ईश्वरीय सत्ता, ईश्वरीय शक्ति किसी भी मानव देह द्वारा कुछ न कुछ खेल कराती है। जो सदगुरु, संतकृपा से इस बात को समझ लेते हैं, वे जीवन का वास्तविक रसास्वादन करते हैं, आनन्द लेते हैं जीवन का। क्योंकि वे कर्म–बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। बहुत बड़ा बन्धन है यह, जन्म–जन्मान्तरों से पड़ा हुआ हमारे मस्तिष्क पर, हमारे हृदय पर और हमारे अन्त करण पर। हर कर्म का कर्त्ताभाव हम अपने ऊपर ले लेते हैं। जब हम कर्त्ता बनते हैं, वहीं साथ ही हमको भर्त्ता भी बनना पड़ता है।

संत हरि कृपा से ही मिलता है। संत को मैं पहले परिभाषित कर चुका हूँ, **संत शब्द सत के ऊपर जब बिन्दी लगती है, तो संत बनता है। मानवों को, महामानवों को प्रभु ऐसी दृष्टि दे देते हैं, कि वे सत्य ही विचार करते हैं, सत्य ही सोचते हैं,सत्य ही बोलते हैं, उनको संत कहा गया है। किसी विशिष्ट वेष–भूषा या चिन्ह–चक्र धारण करने से कोई संत नहीं बनता। संत वह व्यक्ति अथवा व्यक्तित्व है, जो सत्य और केवल सत्य का ही सहारा लेता है। उसकी वाणी सत्य होती है, उसका श्वास सत्य होता है, उसके जीवन का प्रत्येक पल, प्रत्येक क्षण, प्रत्येक व्यवहार सत्य होता है और सत्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता। वह अपनी मृत्यु की परवाह भी नहीं करता, वह अभय होता है।**

संत की दूसरी पहचान है वह किसी को बांधता नहीं है और न ही किसी से बंधता है। ***'बांधन की विधि सब कोई जाने, छूटन की न कोय।"*** संत स्वयं

स्वतन्त्र होता है और वह सबको स्वतंत्रता का मार्ग बताता है। जो बंधन से बंधे हुए हैं अपने आपको, संत उनको मुक्त कर देता है। कितने बंधन पाले हुए हैं हमने अपने जीवन में और उनसे छूटने के बजाए हम और बंधते जाते हैं। लेकिन जब संत मिल जाता है, सदगुरु मिल जाता है, तो हमारे बंधन कट जाते हैं। वास्तविकता तो यह है कि कोई बन्धन था ही नहीं, हम स्वयं को बंधा सा महसूस करते हैं। हमारा कोई कर्त्तव्य नहीं है, हम कर्तव्यों का बोझ ढोते हैं, जबकि करवा कोई और रहा है। स्वयं को कर्ता मानकर सुखी–दुःखी होने रहते हैं। ***'न भय काकू देत है, न भय कासे लेत है"।***

संत की तीसरी पहचान यह है कि न वह किसी से भयभीत होता है, न वह किसी को भयभीत करता है। **जहाँ सत्य होता है वहाँ भय नहीं होना, यह संत की एक बड़ी विशिष्ट पहचान है।** जीवन में सत्संग का बहुत उत्कृष्ट महत्व है। बिना सत्संग के हम बहुत बहुमूल्य जीवन निरर्थक कौड़ियों के भाव समाप्त कर देते हैं। बन्धन के पीछे दर्शन क्या है? क्यों बंधते हैं हम? जब हम होश संभालते हैं तो हम एक संसार निर्मित कर लेते हैं, उसको मान्यना दे देते हैं। कोई हमारी माँ, कोई पिता, कोई भाई–बहिन, फिर कोई मित्र, कोई पत्नी, उसके बाद सन्तान, फिर सम्पदा, धन, अपनी post, position, अपनी देह, इन सब चीज़ों से हम बंध जाते हैं, क्यों बंधते है हम? जबकि बंधन में सिवाय कष्ट के कुछ मिलता नहीं है। क्या रहस्य है इस बंधन का?

मानव मन यदि किसी व्यक्ति, परिस्थिति या स्थान के कारण कुछ क्षण के लिये रुक जाता है, ठहर जाता है, तो उसको हम गलती से अपना मान लेते हैं। उस व्यक्ति, परिस्थिति या स्मृति की समाप्ति या हटने पर, फिर हम उसको पुनः–पुनः निर्माण करना चाहते हैं। हम उस तथाकथित आनन्द से बंध जाते हैं। वह वस्तु, वह परिस्थिति, स्मृति अथवा व्यक्ति हमारे लिये बन्धन का हेतु बन जाता है। इन बन्धनों को जो जन्म–जन्मान्तरों से हमारे ऊपर पड़े हुए हैं, काटा कैसे जाये? इन सांसारिक बन्धनों से मुक्त कैसे हुआ जाये? यदि हम किसी छोटे बन्धन से मुक्त होना चाहते हैं, तो हमें स्वयं को किसी बड़े बन्धन से बान्धना होगा। बड़ी अटपटी सी बात है। कोई ऐसा बंधन ढूँढना होगा, कि जिसके बाद सारे छोटे–छोटे बन्धन ढीले पड़ जाएं।

सांसारिक बंधनों में जो हमें आनन्द सा अनुभव होता है, वह कभी न कभी हमारे कष्ट का हेतु बन जाते हैं, क्योंकि मनुष्य जीवन बहुन क्षणिक है। जब हम किसी क्षणिक वस्तु से बंधते हैं, तो उसके साथ उस वस्तु के खोने का भय भी हमारे साथ जुड़ा रहता है, धन से, सम्पदा से, पद से, स्थिति से। जब किसी भौतिक वस्तु से हम बन्धते हैं, तो उनमें एक आनन्द जैसी अनुभूति होती है। लेकिन उसके साथ उस वस्तु के खोने का भय अवश्य सूक्ष्म रूप से हमारे हृदय में रहता है। बन्धन में आनन्द कम और कष्ट का ज्यादा अनुभव करते हैं। हमें कभी न कभी विचार आता है, कि हम इस बंधन से मुक्त क्यों नहीं हो सकते?

मैं आपके सन्मुख एक रहस्य रख रहा हूँ, इन भौतिक बंधनों से मुक्त होने के लिए हमें कोई बड़ा बंधन चाहिए। इस सांसारिक मोह से दूर होने के लिए, हटने के लिए, मुक्ति पाने के लिए हमको कोई बड़ा मोह चाहिए। **अति विचारवान व्यक्ति ईश्वर की परम कृपा से, संतों की कृपा से यह महाबंधन ईश्वर के साथ उत्पन्न कर लेते हैं, क्योंकि वही एक ऐसी सत्ता है, जो अनादि है, अनन्त है, जो कभी क्षय नहीं होती, अविरल है, अनुपम है, विहंगम है, जहाँ आनन्द ही आनन्द है और जहाँ आनन्द का विस्तार है। तो अति बुद्धिजीवी, विचारवान और सत्संग से प्रेरित मानव अपने को उस ईश्वरीय बंधन में बांध लेते हैं।**

अपने एक पहले प्रवचन में मैं वर्णित कर चुका हूँ, कि संसार मात्र हमारे भीतरी भावों का बाहरी प्रगटीकरण है। यह जितना भी संसार है, यह सारा हमारे मन की मान्यता पर आधारित है और हम मान्यताओं से बंध जाते हैं और कभी न कभी पीड़ित होते हैं, कष्ट की अनुभूति करते हैं। यदि हम एक मान्यता उस ईश्वरीय सत्ता को भी दे दें और ईश्वर से अपना सम्बन्ध पैदा कर ले, जैसा कि हमने संसार में सम्बन्ध उत्पन्न किए हैं, मान्यताएं दी हैं, तो हम देखेंगे कि नित्याध्यासन करते–करते ईश्वर में **वह सम्बन्ध परिपक्व हो जाता है और यह एक ऐसा सम्बन्ध है, जिसके मिटने का, क्षय होने का, नष्ट होने का कभी भय नहीं होता, निरन्तर आनन्द देता है यह बंधन। यदि प्रपु कृपा से उससे हमें मोह हो जाए, मोह कहते है–लगाव सहित प्रेम।** यदि हम उस ईश्वर से प्रेम पूर्वक जुड़ जाए,

तो संसार बहुत सुन्दर लगने लगता है। यहाँ कि प्रत्येक वस्तु आनन्द देने लगती है क्योंकि हमारा उसके साथ बन्धन नहीं रहता। आप विचार करके देखिए कि जहाँ आनन्द होता है वहाँ बन्धन नहीं होता। कोई भी राजा जब राजमुकुट पहनता है, तो उसको राज्य प्राप्ति का सुखभोग तो कम और उसको खोने की चिंता और भय अधिक व्याप्त हो जाते हैं। जब किसी व्यक्ति को कोई पद मिलता है, तो उस पद का आनन्द नहीं मिलता बल्कि उसको खोने का भय उसको लग जाता है। धन का भय, सम्पत्ति का भय, संतान का भय, तो हम जिसको सांसारिक बन्धन कहते हैं और बन्धन हम पालते हैं, उनको मान्यताएं देते हैं अपने सुखों के लिये। वे अज्ञानतावश बाद में हमारे दुख का कारण बन जाते हैं। बाद में नहीं, साथ ही साथ और बन्धन के बिना हम जी भी नहीं सकते। बन्धन का एक आनन्द भी है। भौतिक बंधनों का आनन्द सा है, जबकि उस ईश्वरीय बंधन के साथ वास्तविक आनन्द है। क्योंकि उसको खोने की चिंता नहीं होती, वह आनन्द निरन्तर बढ़ता रहता है। उपासक को उसका निरन्तर भास होता रहता है।

उस परम परमात्मा के साथ किसी भी नाम–रूप में, कोई भी बन्धन, जिस प्रकार कि हम संसार के बन्धनों को मान्यता देते हैं, ऐसे ही यदि हमारा उस ईश्वर के साथ कोई बन्धन हो जाए, कोई सम्बन्ध हो जाये और उसका निरन्तर हम अभ्यास करें, उसी सम्बन्ध में हम उस परमपिता परमात्मा के पास बैठें और उसमें विचरें, तो हम पाएंगे, कि एक दिन हम सांसारिक बंधनों से मुक्त हो जाते हैं। जहाँ बंधन छूटते हैं वहाँ आनन्द ही आनन्द की अनुभूतियाँ होती हैं, यह परम सत्य है। लेकिन दुर्भाग्यवश जैसे–जैसे मानव बुद्धि का विकास हो रहा है, मानव बन्धनों में बंधता जा रहा है। हम अपनी शारीरिक सुख–सुविधाओं के लिए कितना कुछ उत्पन्न कर रहे हैं। लेकिन जब हमारा मानव मन, हमारा हृदय त्रसित होगा, भयभीत होगा तो क्या भयभीत व्यक्ति किसी चीज़ का आनन्द ले सकता है? कदापि नहीं। हमें वस्तुओं की ओर भागने की अपेक्षा अपने भीतर झांकना होगा, स्वयं का विश्लेषण करना होगा और हमें एक ऐसे बन्धन से बंधना होगा, जो कि आनन्दमय बंधन है। आनन्द वहाँ होता है जहाँ किसी के खोने का भय नही होता। जहाँ भय होता है वहाँ आनन्द नहीं हो सकता, तो सांसारिक बन्धनों में बंधकर हम आनन्दित होने से ज्यादा भयभीत हो जाते हैं। आज

सारा संसार इस भय के सागर में, इस भय के वातावरण में क्षण–क्षण जी रहा है, यहाँ तक कि रात्रि में लोगों को स्वयं भी भयभीत ही करने वाले आते हैं। उसके पीछे जो मुख्य कारण है, वह है हमारे बन्धन, हमारी मान्यताएं, हमारी आकांक्षाएं। यदि हम इस जीवन को अति आनन्दपूर्वक बिताना चाहते हैं, आरोग्यपूर्वक निर्वाह करना चाहते हैं, साहस और उत्साह में परिपूरित होकर हम इस जीवन का रसास्वादन करना चाहते हैं, तो हमें एक महाबंधन उस ईश्वरीय सत्ता के साथ किसी भी नाम रूप में जिसमें हम अपने इष्ट को मानते हैं, उत्पन्न करना होगा और जिस दिन वह सम्बन्ध हमारा ईश्वर के साथ जुड़ जाता है, उसके बाद हमारे व्यवहार में और हमारी मानसिकता में कितना अन्तर आता है, यह एक अनिर्वचनीय पद है। मैं इसको एक व्यक्तिगत सम्पदा समझता हूँ। जब उपासक का अपने इष्ट के साथ बंधन हो जाता है, सम्बन्ध हो जाता है, तो उसके बाद आनन्द की और आध्यात्मिक जगत की जो अनुभूतियाँ होती हैं, वे बहुत व्यक्तिगत होती हैं। उपासक सबके सामने उसका वर्णन नहीं करना चाहता।

ईश्वर कृपा के द्वारा जब हमारे भीतर से दैवीय व्यक्तित्व जागृत हो जाता है, तो हमारी मानसिक स्थिति ईश्वरीय हो जाती है। हम तुरन्त बन्धनमुक्त हो जाते हैं, कर्मबन्धन–मुक्त, कर्त्तव्य बंधनमुक्त और इस जीवन में जितने सम्बन्धों के बंधन हैं, उनसे मुक्त हो जाते हैं। सम्बन्ध रहते हैं, कर्म भी हम करते हैं और कर्त्तव्य भी निभाते हैं और साधारण व्यक्ति से ज्यादा अच्छे निभाते हैं, लेकिन हम उसके फल से या कुछ खोने–पाने के साथ स्वयं को नहीं जोड़ते। उस कर्म को हम मात्र लीला समझकर करते हैं, असंगता से करते हैं, एक खेल के रूप में करते हैं। तो जीवन का एक दृष्टिकोण ही बदल जाता है। हर कार्य को हम उत्साह से करते हैं। आनन्द मिश्रित कर्म का नाम उत्साह है। यदि हम कर्म करने के साथ या कर्म करने से पहले उसके फल पर ध्यान देने लगें, तो हमारे ह्रदय में एक भय की जागृति, एक चिन्ता की जागृति अवश्य हो जाती है कि न जाने यह कर्म सफल होगा या असफल, परन्तु याद हम उसको ईश्वरीय निमित करके चलें, तो हम देखेंगे वही कर्म हमारे लिए एक बहुत सुन्दर खेल की तरह हो जाता है और उसका हम भरपूर आनन्द लेते हैं।

।। जय जय श्री राम।।

उत्तम गृहस्थ

मैं बलबुद्धि–विद्याहीन, असमर्थ एवं अशक्त अपने इष्ट, प्रभु श्री राम के अनन्य भक्त, परम–भक्त श्री हनुमान जी की अगाध प्रेरणा एवं शक्ति से आपके सम्मुख आज एक रहस्योदघाटन करने जा रहा हूँ। आज गृहस्थियों में एक विशेष चिन्ता का विषय न केवल भारत में ही नहीं अपितु सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है और वह है अपने बच्चों के भविष्य एवं वर्तमान के बारे में। इस पर मैंने इष्ट कृपा से जो गहन अध्ययन किया उसके कुछ विशेष अनुभव एवं तथ्य आपके सामने रखूँगा। बालक अथवा बालिका जब से उत्पन्न होते हैं, तो माता–पिता में एक विशेष भावों का पदार्पण होता है। प्रसन्नता, चिन्ता, विक्षेप, अति प्रसन्नता, भय और न जाने क्या–क्या?

यदि हम अति सुक्ष्म विश्लेषण करें, आध्यात्मिक विश्लेषण, तो वास्तविकता यह है कि प्रत्येक जीव स्वयं में एक जगत है। उसकी जो वातावरण चाहिये और जो कुछ भी चाहिए वह स्वयं बना लेता है। जब माता–पिता के समागम से गर्भ धारण होता है उसी दिन से माँ के गर्भ में एक विशेष रचना बननी शुरु हो जाती है। एक ईश्वरीय कृत्य की अदभुदता देखिए, कि एक कोशिका से मानव देह की छः विशाल प्रणालियाँ, जिनका कार्य अलग–अलग गुण अलग–अलग होते हैं निर्मित हो जाती हैं।

जो मैंने एक विशिष्ट अनुभव किया है, वह आपके सम्मुख रखता हूँ। यदि आप बहुत सूक्ष्म विश्लेषण करें अपने जीवन का, और अन्य लोगों से साक्षात्कार करें, तो आप पाएंगे, कि जब शिशु माँ के पेट में लगभग पांचवे महीने में होता है, तो परिवार में कुछ विशेष परिवर्तन अवश्य आते हैं। यह मैं कुछ सौ लोगों में अपने अनुभव के आधार पर बता रहा हूँ। लगभग पाँचवे महीने में ही गर्भ में बच्चे की हलचल शुरू हो जाती है। चिकित्सा और विज्ञान के आधार पर हम कुछ भी कहें, लेकिन आध्यात्मिक आधार पर यह पाँचवे महीने का समय है, जबकि पेट में पलने वाले इस शिशु में आत्मा का समावेश होता है, विशेष ईश्वरीय शक्तियों का समावेश होता है। जैसा कि जगत विदित है, तीन प्रकार की ईश्वरीय शक्तियाँ है **सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी।** कुछ बच्चे मुख्यतः सतोगुणी होते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि उनमें रजोगुण व तमोगुण का समावेश नहीं होता, लेकिन मुख्यतः वे सतोगुणी होते हैं। इसी प्रकार कुछ मुख्यतः तमोगुणी और कुछ मुख्यतः रजोगुणी प्रवृत्ति के पैदा होते

है। यदि हम सूक्ष्मता से उनकी पैदाइश और उस समय के घर के, समाज के, देश के व विश्व के वातावरण पर ध्यान दें, तो हमें अपने बच्चे की प्रमुख प्रवृत्ति का भास हो जायेगा। एक ही माता–पिता के चार बच्चे होते हैं, चारों में यद्यपि थोड़ी बहुत शक्ल मिलती है, माता–पिता से भी शक्ल मिलती है, शरीर का आकार भी और कुछ विशिष्ट गुण भी आपस में मिल सकते हैं, आदतें मिल सकती हैं, लेकिन प्रत्येक बालक अपना विशेष प्रभाव, विशेष गुण रखता है, जो किसी दूसरे से कभी नहीं मिलता। उसकी प्रतिभाएं अलग होती हैं। उसका दृष्टिकोण अलग होता है। उसका जगत अलग होता है। उसका जीवन अलग होता है। उसका मानसिक वातावरण अलग होता है। यही कारण है कि एक ही परिवार और एक ही माता–पिता से उत्पन्न बच्चे अलग–अलग प्रकृति के होते हैं। इस रहस्य को हमें आज जानना आवश्यक है, यदि इस रहस्य को हम पकड़ लेंगे, तो हमारी 90 प्रतिशत चिन्ताएं आज ही समाप्त हो जाएगीं, जो हम अपने बच्चों के बारें में निरर्थक करते हैं।

एक ही भूमि में उगाये गये दो बीज, एक बबूल और एक आम का है। भूमि वही है, खादें वही है, जल वही है उसमें, लेकिन जब पौधे उगते हैं, तो उनका गुण, उनका स्वाद अलग–अलग होता है, क्योंकि वे बीज अलग–अलग होते हैं। जैसा बीज होता है, वह पृथ्वी से वही तत्व स्वतः ले लेता है–आम ने मिठास और बबूल ने कड़वाहट ले लेनी है। इसी प्रकार जब बच्चा उत्पन्न होता है, तो वह प्राकृतिक रूप से एक विशेष शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक वृत्तियों को लेकर पैदा होता है और उसी के अनुसार वह संसार, परिवार, समाज और वातावरण से गुण लेता है। गुण तो उसके भीतर होते हैं। उसका वातावरण उसके भीतरी गुणों के अनुसार बाहर बन जाता है। इस बात को मैं और गहराई में समझाने की कोशिश करूंगा।

हम माता–पिताओं की एक गलत धारणा होती है, कि हम बच्चे का भविष्य बना रहे हैं। ऐसा नहीं है। बच्चा अपने में एक जगत है, जो पहले से निर्मित हो चुका है। उसके अंदर सतोगुण, तमोगुण, रजोगुण की शक्तियों का समाहन रहता है। यह दूसरी बात है कि कोई विशिष्टतया सतोगुण प्रधान, कोई रजोगुण प्रधान और कोई तमोगुण प्रधान होते हैं और वह उसी परिवार में, अपने पसन्द के वातावरण को बना

लेते हैं। जो माता–पिता इस रहस्य को पकड़ लेंगे, वे आज से यह गलतफहमी निकाल दें, कि वे बच्चों के भविष्य को बना रहे हैं। कोई किसी के भविष्य को नहीं बनाता। माता–पिता का कर्त्तव्य क्या है? कि वे सूक्ष्म बुद्धि से, ध्यान द्वारा अपने बच्चे की प्रवृत्तियों को नोट करें। कई बच्चे आपको संग्रह वृत्ति के, कई उदार वृत्ति के, कोई संकीर्ण वृत्ति के, कोई शान्त स्वभाव के, कोई उग्र स्वभाव के और ऐसी असंख्य वृत्तियाँ व स्वभाव आपको नज़र आएंगे। तो पैदायशी उनका ढाँचा बना बनाया होता है। माता–पिता को उनके ऊपर कुछ impose करने के बजाय, खूब समय लगाकर, विद्वान पुरुषों से सलाह लेकर यह समझ लेना चाहिये, कि उनका जो बालक पैदा हुआ है, वह किस प्रमुख प्रवृत्ति का है? यदि वे समझें कि यह कोई उदात प्रवृत्ति है, कोई महान गुणों से युक्त बालक है, तो उसके लिए उस प्रकार का वातावरण घर में बनाये। घर का वातावरण शुद्ध हो, आपकी कमाई शुद्ध हो, आपके विचार शुद्ध हों, तो ऐसे वातावरण में उस बालक के जो पहले से विद्यमान गुण हैं, वे बढ़ते हैं, उनको फलने–फूलने में और सुविधा हो जाती है। जिस प्रकार कि हम किसी बीज विशेष, किसी पौधे विशेष के लिये विशेष खाद डालते हैं। माता–पिता को केवल बच्चे का स्वभाव जानने के बाद उसकी दिव्य वृत्तियों के विकास के लिये उसी प्रकार का वातावरण घर में बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि उनका कोई कर्त्तव्य है तो यही है, ऐसा मैं समझता हूँ।

जब माता–पिता देखें कि बच्चा तमोगुणी स्वभाव का है। तो वे उसके अनुसार अपने घर का वातावरण तमोगुणी न बनाकर अति सतोगुणी बना लें। उससे क्या होगा कि बच्चे में जो तमोगुणी बीज है, उनको प्रस्फुटित होने का मौका नहीं मिलेगा और जो सुषुप्त सतोगुणी संस्कार हैं, वे सतोगुणी वातावरण पाकर प्रस्फुटित हो जायेंगे। बच्चे के स्वभाव में बदलाव आ जायेगा, यह बात बहुत गौर तलब है। बच्चों में संस्कार पहले ही पड़े होते हैं, हम नहीं डालते। जो हमको करना है **माता–पिता होने के नाते, उसके संस्कारों को पढ़कर हमें अपने घर का वातावरण, यदि हम बना सकते हैं, तो उनके अनुसार बनाना है।** तमोगुणी संस्कार हैं, तो अति सतोगुणी वातावरण ताकि उनके वे तमोगुणी संस्कार पनप न सकें, बढ़ न सकें, जड़ न जमा सकें और यदि पहले से ही सतोगुणी हैं, तो उस सतोगुणी

वातावरण में उन संस्कारों के फूलने–फलने में अधिक सुविधा हो जाएगी। यदि बच्चा अति रजोगुणी स्वभाव का है, तो घर का वातावरण शांत बनाया जाए, ताकि उसके रजोगुणी संस्कार प्रस्फुटित न हो सके। यह एक बड़ा सूक्ष्म निरीक्षण है।

कुछ बालक इतने तीन संस्कारों को लेकर उत्पन्न होते हैं। उनके लिये कोई वातावरण तैयार करें या न करें वे अपना वातावरण स्वयं ले लेते हैं, ऐसा भी देखा गया है। प्रत्येक बालक की एक पैदाइशी प्रतिभा होती है, जिसके अनुसार उसका जीवन चलता है। आप देखेंगे कि घर में चार बालक हैं, हम चारों को कई बार विभिन्न स्कूलों में डालते हैं। उसका सेहरा चाहे हम अपने सिर पर बांधने की कोशिश करें, लेकिन वास्तविकता यह है कि उन बालकों के अंदर पहले से ही ऐसे संस्कार विद्यमान हैं, कि उन्होंने उन विभिन्न स्कूलों में पढ़ना था। यदि हम उनको एक ही स्कूल में भी डालें, एक ही प्रकार के अध्यापकों अथवा गुरुओं के संरक्षण में शिक्षा दें, तो भी आप देखेंगे कि एक ही अध्यापक, एक ही गुरु से पढ़ने वाले शिष्य, अलग–अलग मानसिक विचारों के होंगे। गुरु के मुख से निकली एक ही बात का वे चारों अलग–अलग मतलब लेंगे, आप कभी आज़मा के देखिए।

कुछ बालकों को इकट्ठा करके उनको एक ही वाक्य कहिये और उस वाक्य का अर्थ पूछिए तो सब बालक उस वाक्य का अर्थ अपनी बुद्धि के अनुसार ही लगाएंगे। इस वास्तविकता को हम नकार नहीं सकते। यह एक ऐसा सत्य है, यदि हम इसको पकड़ लें, तो हमें अपने बालकों की चिंता समाप्त हो जायेगी। केवल हमने उनके लिए, उनके दिव्य गुणों के अनुसार रहने का वातावरण घर में बनाना है। उनका भोजन शुद्ध हो, उनका रहन–सहन शुद्ध हो, वस्त्र शुद्ध, घर शुद्ध–साफ, सुंगधित हो। उससे बालक के अंदर जो विशिष्ट संस्कार होते हैं, उत्तम संस्कार होते हैं, उनको फलने–फूलने का उचित वातावरण मिलता है और जो निकृष्ट संस्कार हैं, वे शुद्ध वातावरण में या तो समाप्त हो जाते हैं या उनकी शक्ति क्षीण हो जाती है और वे बालक के जीवन को प्रभावित नहीं करते। यदि माता–पिता का कोई विशिष्ट कर्त्तव्य है, तो वह यही है। बच्चों की पढ़ाई के बारे में अक्सर माता–पिता चिंतित रहते हैं, उसके लिये आप एक बात बहुत ध्यान में रखें, कि बालक ने अपने अंदर जिस विशेष वृत्ति को लेकर जन्म लिया है, उसके अनुसार उसको कोई विशिष्ट

वातावरण स्वयं मिल जायेगा। आप अनुभव करेंगे, कि आप एक बालक को लेकर कितने संस्थानों में जाते हैं, कहीं प्रवेश नहीं मिलता। कहीं कुछ दुविधा होती है, कहीं कुछ कठिनाई आ जाती हैं और किसी संस्थान में उसका, सहज स्वभाव से, आसानी से प्रवेश हो जाता है। इसके पीछे आप इस रहस्य को जानने की कोशिश करें, कि उस वातावरण में वह बालक अपनी शिक्षा ज्यादा अच्छी ले सकेगा। हम हर बात में अपनी बुद्धि को, हर बात में अपनी धन की शक्ति को आजमाना चाहते हैं। उससे हम बालक की सहज प्रवृत्ति को बढ़ाने की बजाय उसको नष्ट कर देते हैं। उसका रूपान्तर करने की कोशिश करते हैं, जिससे कि बालक का बौद्धिक विकास रुक जाता है, कम हो जाता है। यदि हम उसके हर पहलू पर चिंतित होने की बजाय उस पर ध्यान दें, गहन विचार करें, तो हमें घर में उत्पन्न होने वाले प्रत्येक बच्चे की स्वाभाविक वृत्तियों का मालूम चलेगा।

आप देखेंगे कि विद्युत एक शक्ति है और वही शक्ति जब प्रवाहित होती है विभिन्न उपकरणों में, तो उन उपकरणों के कार्य अलग–अलग होते हैं। हीटर में वही विद्युत शक्ति गरमी प्रदान करती है। फ्रिज और ए. सी. में वही शीतलता प्रदान करती है। इसी प्रकार वह **महाईश्वरीय शक्ति जो कि करोड़ों ब्रह्माण्डों को चला रही है, प्रत्येक जीवधारी उसका एक उपकरण है और प्रत्येक उपकरण उसने अपनी एक विशेष कलात्मकता से निर्मित किया है और इस कलात्मकता से वह उपकरण काम करता है। उसके पीछे उसको चलाने वाली शक्ति ईश्वरीय है।**

यदि हम इस भाव से इस संसार को देखें, परिवार को देखें तो हम बहुत सुखद एवं निश्चिन्त जीवन बिता सकते है। हाँ, यदि हमारा बालक अति उदण्ड है और हम समझते हैं कि वह अनुचित मार्ग पर जा सकता है, तो हम केवल प्रार्थना कर सकते हैं और अधिकतम प्रयत्न करके, लगन से हम उसके वातावरण को अच्छे से अच्छा बनाएं, ताकि ईश्वरीय शक्ति अपने उपकरण में कुछ विशेष परिवर्तन कर दें। ईश्वर का यह जो महाब्रह्मांड चल रहा है, यह एक लीला है और इस लीला को करने के लिये उस शक्ति ने अपने अनेकों उपकरण बनाये हैं और उनके द्वारा वह खेलती हैं। इसी का नाम है लीला। एक ही पृथ्वी में असंख्य प्रकार की वनस्पतियों जिनके गुण

अलग–अलग, एक ही आकाश–मण्डल में नक्षत्र अलग–अलग, एक ही वायु मण्डल में वायु, हवाएं, गैसें अलग–अलग। पृथ्वी में खनिज अलग–अलग। एक ही देह ले लीजिए इसमें विभिन्न प्रणालियाँ, जिनका कार्य अलग–अलग। इस संसार में वे ईश्वरीय शक्ति बहुत कलात्मकता से खेलती है इन उपकरणों के द्वारा, उपकरणों की रचना भी वही करती है। हम माता–पिता अपने को यदि केवल निमित्त मानकर चलें तो हम देखेंगे, कि अपने से उत्पन्न बच्चों को जो ईश्वरीय कृपा से ही उत्पन्न होते हैं, उनके जीवन का आनंद हम ज्यादा ले सकते हैं।

आजकल पति–पत्नी के सम्बन्धों में बहुत कटुता आ गई है, वैवाहिक सम्बन्ध अति तनावित हो गये हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से मैंने इस विषय पर काफी मनन करने का प्रयत्न किया और जो अनुभव हुआ, वह मैं आपके सम्मुख रखता हूँ। प्रत्येक पुरुष जब पैदा होता है, तो वह अपने में एक स्त्री के लेकर पैदा होता है, उसमें एक स्त्री समाहित होती है, बिना स्त्री के किसी पुरुष का जन्म ही नहीं होता। प्रत्येक स्त्री की अलग–अलग विधाएं हैं, वह माँ भी है, बहिन भी, बेटी भी, पत्नी भी, प्रेमिका भी, सखी भी, शिष्या भी, गुरु भी। थोड़ा गहन विषय है। एक पुरुष जब पैदा होता है, तो उसके अन्दर उसकी स्त्री समाहित होती है, बीज रूप में, विभिन्न विधाओं को लेकर। वह उसकी भीतरी स्त्री होती है और उसकी वे अलग–अलग विधाएं बाहर, विभिन्न नाम और रूपों में समय–समय पर प्रकट होती रहती हैं।

कभी वह माँ विधा बाहर माता के रूप में प्रकट होती है। यह आवश्यक नहीं है जिसको हम माँ कहते हैं, वह हमको जन्म देने वाली ही माँ हो। कई बार ऐसा देखा गया है, कई माताएं अपने शिशु को जन्म देकर कहीं छोड़ देती हैं या किसी को गोद दे देती हैं, स्वयं चली जाती हैं। जब वह शिशु होश संभालता है, तो जो स्त्री उसको पाल रही है, उसी को अपनी माँ कहता है। तो माँ एक, स्त्री की विधा है जो बाहर उस विशेष नाम व रूप में प्रकट हुई है। उस शिशु को, उसका जन्म देने से सम्बन्ध हो भी सकता है और नहीं भी। भगवान कृष्ण देवकी के गर्भ से पैदा हुए लेकिन यशोदा के यहाँ पले।

आप इस बात को गहराई से अपने सामाजिक जीवन में गौर करें, तो समझ लेंगे। इसी प्रकार बहिन विधा विशेष नाम व रूप में प्रकट होती है समय–समय पर।

यह आवश्यक नहीं है कि बहन विधा का प्रगटीकरण, जिस नाम–रूप में हुआ है, वे नाम–रूप उसी माता–पिता से उत्पन्न बेटी के हों। इसी प्रकार उसकी आंतरिक स्त्री की विधा कभी प्रेमिका बनकर प्रकट होती है, कभी सखी बनकर प्रकट होती है और कभी पत्नी बनकर प्रकट होती है, कभी गुरु बनकर प्रकट होती है, तो कभी शिष्या बनकर। यहाँ गौर तलब बात यह है, कि जिस स्त्री का हमसे विवाह होता है, उसे हम धर्मपत्नी कहते हैं। पत्नी एक धर्म है। जिस नाम व रूप में हमारी भीतरी स्त्री की विधा, पत्नी बनकर प्रकट हुई है, वह एक धर्म है, जिसको हम धारण करते हैं अपनी सामाजिक और धार्मिक रीतियों के अनुसार। बहुत गहन विषय है यह। प्रेम एक भाव है, पत्नी धर्म है, तो यह आवश्यक नहीं कि हमारी पत्नी हमारी प्रेमिका भी हो, हमारी सखी भी हो, हमारी शिष्या भी हो, हमारी सेविका भी हो, जो गलती में हम अनुमान लगा लेते हैं।

अगर इस विषय पर हम गौर करें, तो हमारा विवाहित जीवन बहुत सुखद हो जाएगा। ठीक इसी प्रकार वह स्त्री जिसके अंदर एक पुरुष विभिन्न विधाओं से परिपूरित होकर समाहित है, वह कभी उसकी पिता विधा, कभी भाई, कभी प्रेमी, कभी पति, कभी सखा, कभी शिष्य, कभी गुरु बनकर सामने प्रगट होते रहते हैं। एक ही नाम व रूप में भी कई विधाएं प्रकट हो सकती हैं और विभिन्न नाम व रूपों की, विभिन्न विधाएं भी प्रकट हो सकती हैं, और एक ही विधा कई नाम व रूपों में प्रगट हो सकती है।

जिसको उस स्त्री ने पति धारण कर लिया, धर्म द्वारा, तो वह उसका पति है। पति धर्म है, जिस प्रकार पत्नी धर्म है। यह आवश्यक नहीं कि वह उसका पति उसका प्रेमी भी हो, उसका सखा भी हो, उसका सेवक या शिष्य भी हो। इस रहस्य को न पकड़ पाने के कारण हम लोग कई बार बहुत उलझनों में पड़ जाते हैं। वह पति अपनी पत्नी में प्रेमिका भी चाहता है, हो सकता है वह उसकी प्रेमिका न हो। उसमें सखी भी देखना चाहता है, हो सकता है वह सखी न हो। वह उसको शिष्या भी चाहता है, सेविका भी चाहता है, हो सकता है वह उस शरीर में, उस नाम और रूप में वह न हो। तो हमारी यह चाहत कई बार अक्सर हमें तनाव में डाल देती है। वह तनाव विवाहित बंधनों में कटुता ला देता है। यह मैं आध्यात्मिक विश्लेषण बता रहा

हूँ। विवाह एक धर्म–बन्धन है। प्रत्येक समाज में अलग–अलग रीतियों से विवाह होते हैं, अपने–अपने धर्म के अनुसार, अपनी–अपनी सामाजिक पृष्ठ भूमि के अनुसार। यह बन्धन इसीलिये है, कि जो हमारी संतान हो, स्त्री और पुरुष के समागम से, वह वैध हो लेकिन जो अन्य भाव है, वह बन्धन नहीं है। यदि पति–पत्नी, अपने इस वैवाहिक धर्म सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य भाव जैसे प्रेम व श्रद्धा आदि भी प्रयत्न एवं निष्ठा–पूर्वक एक दूसरे में प्रगट कर लें, तो जीवन अति सुखद हो जाएगा।

आज समाज में बहुत कटुता आ चुकी है और इस कटुता का प्रारम्भ परिवार से होता है। आज प्रत्येक परिवार में कटुताओं से भरा वातावरण है। बहुत कम लोग ऐसे हैं, जो कि अपने वैवाहिक जीवन को सुखद मानते हैं। क्योंकि हमारी आकाक्षाएं बहुत हैं और यह सम्भव नहीं है, कि वे सारी आकांक्षाएं हमें एक ही नाम–रूप में मिल जाए या परिपूरित हो जाएं। इस रहस्य को हमें पकड़ना होगा और उसके अनुसार यदि हम अपना मन बना लें और उन विधाओं को, जो हम अपनी स्त्री में या पुरुष में चाहते हैं, उनको विकसित कर सकें, तो हमारा वैवाहिक जीवन बहुत सुन्दर होगा और उसका प्रभाव हमारे बच्चों पर पड़ता है। एक बहुत सुखद प्रभाव पड़ता है और बच्चों में प्रेम भाव, सखा भाव और एक दूसरे की सहायता करने का भाव, जो माता–पिता की विधाओं से, माता–पिता के आचरण से आ जाता है। जिन माता–पिता में आपसी बहुत मधुर संबंध होते हैं, उनके बच्चे भी समाज के लिये बहुत कल्याणकारी होते हैं, ऐसा देखा गया है। यह एक बहुत विशेष, अनुकरणीय एवं विचारणीय विषय?

यदि किसी पुरुष का तलाक हो जाता है, तो वह यदि दूसरी स्त्री से विवाह करता है तो इसमें क्या निश्चित है, कि उस स्त्री में पत्नी के अतिरिक्त अन्य विधाओं का प्रगटीकरण उसको उपलब्ध हो सके या कोई स्त्री किसी पुरुष का तलाक करती है और अन्य पुरुष से शादी करती है, तो वह उस पुरुष में पति के अतिरिक्त जिन दूसरी विधाओं का प्रगटीकरण चाहती है, वह संभव हो सके, इसके लिये सर्वोत्तम राय यह है कि **हमारा देव इच्छावश जिस स्त्री अथवा पुरुष से वैवाहिक सम्बन्ध हो जाए, उसमें पति अथवा पत्नी धर्म के अतिरिक्त अपनी विशिष्ट विधाओं को जो हम चाहते हैं या तो अपनी चाहतों में परिवर्तन लाएं या**

हम प्रसन्नता द्वारा उसमें प्रेम भाव, सखा अथवा सखी भाव को भी उत्पन्न करें तो हमारा वैवाहिक जीवन बहुत सुखद हो जाता है, यह एक आध्यात्मिक रहस्य है। ऐसा नहीं होता कि एक पति से तलाक करने के बाद दूसरे पति के साथ सुखद जीवन बिताने की कोई गारंटी हो या एक पत्नी को त्यागने के बाद दूसरी पत्नी के साथ सुखद जीवन बिताने की कोई गारंटी हो। इस आध्यात्मिक वैवाहिक रहस्य की समझ, हमारे पारिवारिक जीवन को इतना दिव्य बना देती है, कि हमारा गृहस्थ एक उत्कृष्ट शक्ति का भंडार हो जाता है। हमारे परिवार में आने–जाने वालों को एक विशेष सुखद अनुभव होता है, शांति मिलती है, प्रेम बढ़ता है। जब परिवार सुखद हो जाएंगे तो समाज, देश और विश्व में शान्ति का पदार्पण होगा। आज हमको बहुन आध्यात्मिक एवं प्राकृतिक रहस्यों पर विचार करने की आवश्यकता है। दुर्भाग्यवश, हम लोग अपनी बुद्धि को ही प्रत्येक सम्बन्ध में थोपना चाहते हैं। बुद्धि द्वारा जो चीजें हमारी पकड़ में आती हैं, वे भी अधूरी होती हैं क्योंकि मानव बुद्धि अपने में सीमित है। उस सीमित बुद्धि–शक्ति से हम अपने सम्पूर्ण विश्व और सम्पूर्ण प्राकृतिक एवं आध्यात्मिक रहस्यों को ग्रहण नहीं कर सकते। इसलिये सुबह–शाम हमें जब भी समय मिले बुद्धि को हटाकर, थोड़ा बहुत ध्यान का समय अवश्य निकालना चाहिए। ईश्वर के समीप, उसके दरबार में बैठना चाहिये।। उससे कुछ ऐसे रहस्य सम्मुख आते हैं, जो जीवन को अति सुखद बना देते है और यह सुख व शान्ति ही उत्तम गृहस्थ का लक्षण है।

।। जय जय श्री राम।।

प्राप्य की प्राप्ति

प्राप्य की प्राप्ति, यह विषय बहुत गोपनीय, विचारणीय, मानसिक एवं शारीरिक रुप से तनाव रहित करने वाला है। ऐसा महापुरुषों व संतों का कहना है कि जीव की उत्पत्ति से पहले उसका प्रारब्ध बनता है। जब शिशु, माँ के गर्भ में आता है, तो गर्भ में आने से पहले ही उसके जीवन का प्रारूप बन जाता है, कि जन्म से लेकर मृत्यु तक उसको क्या–क्या, कब–कब प्राप्त होना है? कब–कब, क्या–क्या खोना है, इत्यादि–इत्यादि। यदि हम कभी सुबह, ब्रह्ममुहूर्त में उठकर शान्त चित्त से अपने अतीत पर विचार करें, तो हम पाएंगे कि बीते जीवन के समस्त वर्ष जो हैं इनमें जब से हमने होश सम्भाला है, कई वर्षों का तो कोई ब्यौरा ही नहीं होता। कुछ विशेष घटनाएं ही हमारे हृदय पटल अंकित होती है। जिनका सम्पूर्ण दिग्दर्शन हम मात्र आधे पोने घंटे में कर सकते हैं।

अब अतीत में, इस जीवन काल की बीती हुई प्रत्येक घटना पर यदि हम विचार करें, तो उस घटना का आधार होगा–**स्वतः भाव**। हम पाएंगे कि उस घटना के घटित होने में कहीं दूर–दूर तक हमारी योजनाओं या हमारी बुद्धि की कोई भूमिका नहीं थी। इसका अर्थ यह हुआ कि जीवन का जो आधार–भूत बिन्दु है, जिस पर जीवन रूपी भवन का निर्माण आधारित है और होता है वह सब स्वतः ही होता है। उसमे हमारी मानसिक, बौद्धिक या शारीरिक किसी भी शक्ति का, किसी भी योजना का कोई भी महात्म नहीं होता। हमारी परिस्थितियों ही उनके अनुसार बन जाती हैं, जो कार्य हमारे द्वारा होना होता है उन्हीं परिस्थितियों के वश हम अपनी शक्तियों से कार्य लेते हुये कार्य करते हैं और इम तरह जीवन चलता रहता है, यह परम सत्य है।

वास्तव में जीवन स्वतः चलता है यदि हम स्वयं से कुछ प्रश्न पूछें उदाहरण के लिए कि मैं अमुक–अमुक स्थान पर, अमुक–अमुक समय पर, अमुक अमुक माता–पिता से क्यों पैदा हुआ? तो हमारा उत्तर होगा कि मुझे कुछ भी मालूम नहीं है कि ऐसा क्यों हुआ। अमुक–अमुक प्रकार की शिक्षा मैंने क्यों ली? क्यों मानसिक झुकाव वैसे बनें? क्यों मेरी परिस्थितियाँ ऐसी बनी ? उसका भी उत्तर यही होगा कि मुझे मालूम नहीं। हमारी जो संतान उत्पन्न होती है, उसके बारे में भी यदि हम पूछें स्वयं से, कि अमुक संतान, विशिष्ट समय पर और विशिष्ट प्रकार के भावों से युक्त,

विशिष्ट प्रकार के दृष्टिकोण से बनी बनाई क्यों आई? तो उसका उत्तर भी यही होगा कि ''मै नहीं जानता।'' मेरा एक विशिष्ट सामाजिक दायरा क्यों है? विशिष्ट प्रकार के लोग मेरे जीवन में क्यों हैं? मेरे रहने का स्थान, वातावरण और सम्पूर्ण जीवन के पीछे कौन सी शक्ति कार्य कर रही है? इसका उत्तर भी हमारी बुद्धि की पहुँच से बाहर होगा। मुझे कहाँ मरना है? कब मरना है? कैसे मरना है? उसका उत्तर भी हमारे पास नहीं है। तो प्रश्न यह उठता है कि हमें यह बुद्धि क्यों मिली है? यह विशेष रचना, विशिष्ट निर्माण, जो कि संसार के समस्त जीव–धारियों, जानवरों, पशु–पक्षियों से भिन्न है, ऐसी क्यों है? साधारणतः देखने में आता है, कि किसी कार्य के लिये हम कितने प्रयत्नशील होते हैं? कितनी मेहनत करते है हम? कितने तनावित हो जाते हैं हम? लेकिन जब कार्य होना होता है, तो वह बिना प्रयत्न के स्वयं ही हो जाता है। सारी परिस्थितियाँ वैसी ही जुट जाती हैं। इसे कहते हैं स्वतः भाव। दुर्भाग्य यह है कि हम उस स्वतः भाव को भाँप नहीं पाते और उसको भाँपे बिना जो हम निरर्थक प्रयत्न करते रहते हैं, उस प्रयत्न को भी हम मूर्खतावश पुरुषार्थ मान लेते हैं। जबकि पुरुषार्थ का अर्थ ही कुछ और होता है, जिसकी विवेचना की जा चुकी है।

यदि गहन विचार द्वारा हम देखें, तो जीवन ईश्वर की एक बहुत सौन्दर्यमयी कृति है, एक रचना है, एक गद्य है, या पद्य है, जो उसने प्रत्येक मनुष्य को आनन्द के लिये दी है। इस गहन सत्य से जब हम परे हट जाते हैं, तो हम अपने–आपको कष्टों में डाल लेते हैं। यदि मैं आपसे प्रश्न पूछूँ, कि माँ के गर्भ में हम सबने लगभग 9 महीने बिताएं हैं और एक कोशिका से इतनी बड़ी काया का निर्माण हुआ, उसमें हमने क्या किया? इतनी विशाल और इतनी भव्य मानव देह बनकर तैयार हुई हमारी, जो कि अपने में उस ईश्वर की एक परम भव्य कृति है और इसमें पूर्व–जन्मों के संस्कार, इस जन्म के संस्कार, विशिष्ट प्रवृत्तियाँ, विशिष्ट प्रतिभाएं, विशिष्ट दृष्टिकोण युक्त है। किस प्रकार कुछ मानव अपने कृत्यों से सम्पूर्ण विश्व को हिला देते हैं! यह सम्पूर्ण शक्तियों का संग्रह और किस प्रकार इनका कार्य होता है? यदि हम इस पर विचार करने बैठें, तो अवश्य हमारी बुद्धि निरुत्तर हो जाती है। क्या प्रयत्न किया होगा हमने–माँ के पेट में अपनी इस विशालतम, अद्‌भुत कृति के निर्माण में ? इसका अर्थ यही है कि यह एक ईश्वरीय रचना है, जो हमें स्वयं को

स्वतः भाव से प्राप्त हुई है।

अगर हम दूसरा प्रश्न स्वयं से पूछें कि अमुक माँ–बाप मुझे क्यों मिले? एक विशिष्ट वातावरण, एक विशिष्ट परिवार जिसमें हमारा लालन–पालन, शिक्षा–दीक्षा, इत्यादि सब कुछ होता है, एक विशेष शिक्षा, विशेष प्रकार के अध्यापक, गुरु और दूसरे संगी–साथी क्यों मिले? तो उत्तर होगा–'स्वतः' (अपने–आप)। हरेक माता–पिता अपने बच्चों को शिक्षा देते हैं, कि अमुक प्रकार की संगत रखनी चाहिए, ऐसे मित्रों के साथ रहना चाहिए, ऐसे व्यक्तियों को अपना मित्र बनाना है, ऐसे बच्चों के साथ खेलना है, इत्यादि–इत्यादि। लेकिन प्रत्येक बालक का अपना बना बनाया एक वातावरण होता है, जिसको वह पसन्द करता है और उसी के अनुसार उसको, उसके संगी–साथी मिल जाते हैं। उसकी प्रतिभा उसके भीतरी मानसिक दृष्टिकोण पर निर्भर करती है। एक विशिष्ट प्रकार की शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् जब हम कोई कार्य करते हैं, कोई व्यापार करते हैं, किसी व्यवसाय का चुनाव करते हैं, तो वह भी हर व्यक्ति की एक विशिष्ट अपनी–अपनी पसन्द होती है समय की, स्थान की, कार्य की, तो उसके लिए भी बुद्धि, मात्र हमारे उस प्रारब्ध का अनुसरण करती है। एक ही प्रकार की शिक्षा–ग्रहण करने वाले सौ व्यक्ति, जिनकी शिक्षा भले ही तकनीकी या व्यवसायिक हो, उस प्रत्येक व्यक्ति की उपलब्धि अलग–अलग होती है। उनका आर्थिक स्तर अलग–अलग होता है। पारिवारिक जीवन अलग–अलग होता है। और तो और यदि आप कुछ व्यक्ति ऐसे लें जिनकी, आय सामान है, फिर भी उनकी आर्थिक स्थिति अलग–अलग होती है। यह बड़ा विचित्र वाद है। ऐसा क्यों है? इसमें भी बुद्धि की कोई भूमिका नहीं है, यह भी स्वतः ही है। प्रत्येक का विवाहित जीवन, अलग–अलग, बच्चों का स्वभाव अलग–अलग, रहने का स्थान अलग–अलग, एक ही घर में भले कितने ही कमरे हों, तो उसमें प्रत्येक की एक विशिष्ट कमरे में रुचि होती है, ऐसा क्यों? यह भी स्वतः भाव है। इसी प्रकार जीवन का अन्त और जीवन के अन्त का ढंग, उसका कारण, स्थान व समय अलग–अलग होता है।

विशेष समय पर किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों की उपस्थिति क्यों होती है? इसका भी हमारे पास कोई उत्तर नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति की उपासना पद्धति अलग–अलग

होती है, भले ही उनके एक ही गुरु अथवा एक ही इष्ट हो। उसके प्रति समर्पित भाव अलग–अलग होता है। यहाँ तक कि एक ही मार्ग पर चलने वाले उपासकों की चाल अलग–अलग होती है। आप मेरी बात से सहमत होंगे, कि यदि चार व्यक्ति एक ही मार्ग पर, एक ही स्थान पर जाने के लिये चल रहे हो, भले ही वे एक ही मंज़िल पर पहुंच रहे हैं, लेकिन उनकी चाल अलग–अलग होती है। दूर से आने वाले व्यक्ति को भले ही हम उसके चेहरे से न पहचान पाए, हम उसकी चाल से पहचान जाते हैं। इसी प्रकार एक ही मार्ग को स्वीकार करने वाले विभिन्न उपासकों की उपलब्धियाँ अलग–अलग होती हैं, क्योंकि यह भी एक स्वतः भाव है।

अभी तक जो मैंने कहा है, कि जन्म से लेकर मृत्यु तक हमारा जीवन एक स्वतः भाव से चलता है। माँ के गर्भ में आने के पश्चात् से लेकर हमारा पैदा होने का समय, स्थान, विशेष मानसिक दृष्टिकोण, हमारे परिवार विशेष और उस विशेष परिवार में विशिष्टतम् परिवार, अपने सभी भाई–बहिन, सगे–सम्बन्धी, माता–पिता इत्यादि, जिसमें हमारी विशेष रुचि और विशिष्ट शिक्षा, विशिष्ट जीवनयापन का हमारा दृष्टिकोण, हमारा स्वयं का परिवार, हमारे रहने का स्थान और हमारा अन्त, यह सब स्वतः है। उस परिवर्तन के अनुसार जीवन में जो भी कोई आता है, हमारी परिस्थितियाँ वैसी बन जाती हैं। यदि हम कहें कि यह हमारी योजना थी, तो वह योजना उससे पहले क्यों नहीं हुई? उस विशिष्ट समय पर ही क्यों हुई? इसका अर्थ यह नहीं है कि हम जीवन में खाली बैठ जाएं। सच पूछिये, जीवन में यदि सबसे कठिन कार्य कोई है तो वह है–खाली बैठना या खाली होना। मैं इस विषय को विस्तारपूर्वक नहीं लूँगा, क्योंकि अपने में यह एक शास्त्र है, इसका नाम है–**कर्म योग।**

बहुत लोग आजकल कर्मयोगी होने की डींग हांकते हैं। लेकिन **कर्मयोग वास्तव में वह मानसिक स्थिति है, जहाँ पर स्वप्न की तरह कार्य होते से प्रतीत होते हैं। हम स्वयं से कार्य करते हुए प्रतीत नहीं होते।** एक खाली मन, एक खाली भाव होता है। कार्य होता सा प्रतीत होता है, उसमें अपना कोई भी योगदान नहीं होता, कि मैंने यह कार्य किया या मैं ऐसे कार्य करूँगा या मैं ऐसा कार्य करता हूँ। उस मानसिक स्थिति का नाम है–कर्म–योग, जिसकी बहुत गलत व्याख्या हुई है, आज के समय में।

हम तनावित क्यों होते है? चिंतित व भयभीत क्यों होते हैं? आज की अधिकांश जनता बहुत थकी रहती है या थक चुकी है, इस जीवन को बिताने के लिए किए गए कार्यों में। तो इस स्वतः भाव को जिसके ऊपर वास्तविक जीवन आधारित है, पकड़ने के बाद क्या होगा? हम हाथ पर हाथ रख कर नहीं बैंठेगे, बल्कि हम उस स्वतः भाव की इन्तज़ार करते हैं। मान लीजिए हमारे हृदय में, हमारे मन में कोई भाव आया है, किसी विशेष कार्य को करने का, तो उसके लिए यदि हम प्रयत्न करते हैं, अपनी बुद्धि, बल, द्वारा अपनी योजना बनाते हैं, तो हो सकता है जो भाव आया है उस कार्य के होने का भी समय न हो। कई बार हम महीनों–महीनों, वर्षों–वर्षों तक थक जाते हैं कार्य करते–करते। लेकिन कार्य सफल नहीं हो पाता और जब सफल होना होता है, तो वह मात्र कुछ ही दिनों में हो जाता है। यदि सफलता का दिग्दर्शन करें, तो हमें मालूम चलेगा, कि उस कार्य के सफल होने में हमारा कुछ भी प्रयत्न नहीं हुआ। मेरा तात्पर्य कहने का यह है, कि जब जीवन में कुछ विशिष्ट कार्य हमारे द्वारा होने होते हैं, तो उन विशेष कार्यों का आरम्भ आनन्दमय होता है। जब वे कार्य शुरु हो जाते हैं, तो परिस्थितियाँ उनके अनुसार स्वयं बनती चली जाती है, और कार्यों का मध्य भी आनन्दमय होता है। मनुष्य जब उन कार्यों को करता है, तो उत्साहपूर्वक करता है, क्योकि आनन्दमिश्रित कर्म का नाम उत्साह है। उन कार्यों को करते हुए न तो वह कभी तनावित होता है, न भयभीत होता है, न त्रसित होता है और जब वह कार्य समाप्त हो जाते हैं, तो इन कार्यों का अन्त भी आनन्दमय होता है। अर्थात् जो कार्य स्वतः होते हैं, उनका प्रारम्भ, उनका मध्य एवं उनका अन्त, तीनों आनन्दमय ही होते हैं। यह ईश्वर द्वारा रचे हुए कार्यों की पहचान है।

जब हम किसी कार्य को अपने हठ मे, अहम् से व अपनी बुद्धि के बल पर करते हैं और सफल करने का प्रयत्न करते हैं, तो हम देखते हैं कि इन तीनों आनन्दों में एक अथवा एक से अधिक आनन्दों का अभाव हो जाता है। ऐसे कार्य भले ही सफल हो जाएं, सफल होने के बाद भी वे कार्य हमको आनन्द से विमुख कर देते हैं। आपने अपने जीवन में कई बार देखा होगा, कि कुछ कार्य होने के बाद हम लोग पछताते हैं कि यह कार्य न होता, तो अच्छा होता। ऐसे कार्य स्वतः नहीं हो सकते। इस परम सत्य पर हमको प्रतिदिन विचार करना होगा। तो जीवन में हम देखते हैं, कि हमारा

जीवन बहुत सुखद और बहुत सरल हो जाता है। तनाव, चिन्ता, भय, त्रास, विक्षेप, थकावट और बोझिलता, इनका स्थान जीवन के स्वतः भाव में कहीं भी नहीं है। कभी–कभी बड़े कार्य करते हुए जो ईश्वरीय प्रेरणा से होते हैं, थकावट अवश्य हो जाती है, लेकिन वे आनन्दपूर्वक होती है, उसमें एक विशिष्ट आनन्द रहता है। कहने का तात्पर्य यह है, कि जीवन एक आनन्द है, हम दुर्भाग्यवश, अज्ञानतावश अपने ऊपर कर्त्तव्यों का बोझ लादे हुए हैं, और इस प्रकार हम इस बहुत सुन्दर जीवन को जो प्रभु ने एक विशिष्ट कृति, एक विशिष्ट रचना हमको दी है आनन्द के लिए, हम कष्ट और दुख में बिता देते हैं।

समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता, समय बीत जाता है और एक दिन सारा जगत मृत्यु और काल के ग्रास में चला जाता है। जीवन एक आनन्द है, एक भोग है, इसके रसास्वादन के लिये, इस जीवन रूपी वीणा की मधुरा का, इसके संगीत का आनन्द लेने के लिए हम निरंतर उस परम पिता परमात्मा, उस सच्चिदानंद की गोद में बैठे रहें। उसका स्मरण करें, उसका नाम–जाप करें और जो कार्य होने हैं, वे स्वतः ही होते रहेंगे, वैसी ही परिस्थितियाँ बन जाएंगीं, हमारी बुद्धि का झुकाव, हमारे मन की इच्छाएं उसी के अनुसार बन जाएंगीं, लेकिन वे आनन्दमय होगी। जहाँ विक्षेप हो तो वहाँ समझ लीजिए, वे स्वतः भाव नहीं है, ईश्वरीय इच्छा नहीं है। ईश्वर द्वारा प्रेरित कार्यों, भले ही वे भौतिक कार्य हों, भौतिक जगत के कार्य ही उसकी सबसे बड़ी पहचान है–एक विशिष्ट आनन्द। यह है–स्वतः भाव, जिसका विचार, जिसका नित्याध्यासन, नित्य मनन, जीवन को सुखद बिताने के लिए परम आवश्यक है।

हम स्वयं यदि अपनी दिनचर्या का रात्रि को सोने से पहले विश्लेषण करें, तो हम पाएंगे कि बहुत भाग–दौड के बावजूद हमारे हाथ में कुछ नहीं लगता और अक्सर वही भाग–दौड़ नकारात्मकता में ले जाती है। हम पाने की बजाय अक्सर कुछ खो देते हैं। लेकिन ईश्वरीय कार्यों में, ऐसा नहीं होता। इस स्वतः भाव की पकड़ वही कर सकता है, जो सत्य भाव से, शुद्ध हृदय से और सरल मन व बुद्धि से ईश्वर के चरणों में समर्पित है। दूसरा, इसकी पकड़ कर ही नहीं सकता। जीवन में सबसे परम लक्ष्य और सबसे बड़ा कर्म क्या है? यद्यपि यह सुनने में आज के युग में बड़ी अटपटी बात लगेगी, लेकिन यह परम सत्य है, कि उस सर्वशक्तिमान ईश्वर

जिसको भले हम किसी नाम, किसी रूप, किसी स्वरूप, साकार–निराकार जिस प्रकार भी मानें, हम उसके प्रति समर्पित रहें और विशिष्ट समय पर, हमारी विशिष्ट बुद्धि, परिस्थितियाँ बनती रहेगीं और हमें निमित्त बनाकर प्रभु ने जो कार्य करवाने हैं वे अवश्य होते रहेंगे, आनन्दपूर्वक होगें। इस स्वतः भाव को आपको अवश्य पकड़ना चाहिए, वरना हम जीवन का बहुमूल्य समय निरर्थक, अपनी मानसिक, बौद्धिक और शारीरिक शक्तियों का दुरुपयोग करके, उसको नष्ट कर देते हैं और इस प्रकार चिन्ताओं में, विक्षेप में, त्रास में, भय में हम अपना बहुमूल्य जीवन बिता देते हैं। इसके अतिरिक्त हम अपने सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा से भी बहुत दूर हो जाते हैं, जीवन का आनन्द समाप्त हो जाता है। **यदि हम भव्य जीवन बिताना चाहते हैं, तो हमको इस स्वतः भाव को आज ही, अभी ही पकड़ना होगा। जीवन का आधार, जीवन का प्रारम्भ, मध्य एवं अन्त इनका सम्पूर्ण आधार बिन्दु जो है, यह है स्वतः भाव। हमारी बुद्धि, मानसिक शक्तियाँ, हमारा बल उसी के अनुसार कार्यरत हो जाते हैं।**

यहाँ एक बात का ध्यान रखना अति आवश्यक है, जिसको मैंने बार–बार आनन्द शब्द या आनन्द पूर्णता में किसी कार्य के होने की संज्ञा दी है, इस आनन्दपूर्वक कार्य होने की पहचान क्या है? जो **कार्य स्वतः हो रहा है, उसकी पहचान क्या है? सबसे बड़ी पहचान उसकी यही है, कि उस कार्य को करते समय भौतिक समय (जो घड़ी द्वारा देखा हुआ समय है) से मानसिक समय छोटा लगेगा।** अर्थात् यदि किसी कार्य को 2 घंटे लगे हैं और यदि वह कार्य आनन्दपूर्वक हुआ है, तो उसमें ऐसा लगेगा जैसे वह कार्य क्षण भर में हो गया हो या कुछ ही मिनटों में हो गया हो। यह एक उदाहरण है, कि हम उस स्वतः भाव में किए हुए कार्य के आनन्द की, समय के अनुसार किस प्रकार गणना करते हैं। **यदि किसी कार्य को करते समय हमें प्रसन्नता नहीं होती तो उसमें मानसिक समय, भौतिक समय से हमेशा लम्बा लगेगा।** यह जानना अति आवश्यक है कि क्या सही में जो कार्य हो रहा है, ईश्वरीय भाव से हो रहा है? जो कार्य स्वतः भाव से होते हैं, उनमें मानसिक समय, भौतिक समय से हमेशा कम लगता है। कार्य करते हुए तो बहुत समय हो जाता है लेकिन ऐसा लगेगा कि जैसे

समय बहुत जल्दी बीत गया हो। यह प्रतिदिन के जीवन में देखने में आता है। अतः इन सब पहचानों को ध्यान में रखते हुए, हम सारे कार्य ईश्वरीय इच्छा से और स्वतः भाव से करें।

जन्म से लेकर मृत्यु तक हमारी समस्त भौतिक, शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक शक्तियाँ प्राप्ति की ओर ही लगी रहती हैं। **जबकि प्राप्ति प्राप्य है। जो आज हम प्राप्त किए हुए हैं, वह आज हमें प्राप्त होना ही था, उसमें केवल हमें स्वतः भाव देखना पड़ता है।** प्रश्न यह उठता है कि हम प्राप्ति चाहते क्यों है? प्राप्ति के पीछे हमारा अर्थ होता है उस विशिष्ट वस्तु का भोग और उस भोग को क्यों चाहते हैं? उसके आनन्द के लिये। जैसा कि मैं पहले वर्णन कर चुका हूँ, कि आनन्द का सम्बन्ध न तो किसी वस्तु की प्राप्ति के साथ है और न ही भोग के साथ। हमारी देह में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियों और ग्याहरवीं जो महा–इन्द्रिय है–वह है **मन।** आप विचार करके देखिए कि यदि हमारा मन विक्षिप्त है तो क्या हम किसी वस्तु का भोग कर सकते हैं? पहले तो हमको यह जानना होगा, कि यह आनन्द है क्या? गहन चिन्तन करने से हमको ज्ञात होगा, कि **जहाँ हमारा मन कुछ समय के लिए स्थिर हो जाता है, खड़ा हो जाता है, उस मानसिक अवस्था को–आनन्दमय स्थिति कहते हैं।** तो क्या इस मन को स्थिर करने के लिए, किसी वस्तु की प्राप्ति अथवा भोग की आवश्यकता है? विचार करने से ज्ञात होगा कि इस मानसिक अवस्था को धारण करने के लिये हमें किसी वस्तु या उसके भोग की आवश्यकता नहीं है। बल्कि कभी–कभी तो अच्छी से अच्छी वस्तु की प्राप्ति, उसका भोग, मन को और विक्षिप्त कर देता है और हमें गलित कर देता है। यह वस्तुएं और इनके भोग काफी हद तक हमारी मानसिक स्थिति को खराब कर देते हैं।

मन को स्थिर करने के लिये जो सर्वोत्तम उपाय है, वह है–ईश्वर चिन्तन। अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में समाहितता, उसका ध्यान, उसका जाप, उसका नाम, इत्यादि प्रक्रियाएं, योगाभ्यास, प्राणायाम, किसी प्रकार से भी हम अपनी प्राण शक्ति द्वारा, विचार शक्ति द्वारा, ध्यान द्वारा, ज्ञान द्वारा, जब हम अपने मन को स्थिर कर लेते हैं, तो वह अवस्था है–आनन्द की अवस्था। हमारा जो सच्चिदानन्द स्वरूप है, जो ईश्वर है वही

हमारा वास्तविक शुद्धतम् स्वरूप है और उसकी झलक मात्र हमको आनन्द से ओत–प्रोत कर देती है। जब तक मन स्थिर नहीं होगा, तब तक उसकी झलक हमको नहीं मिल सकती। **उस सच्चिदानन्द स्वरूप की प्राप्ति और उसका दिग्दर्शन व उसका साक्षात्कार, इसी का नाम है–पुरुषार्थ।** इसलिये आज के जगत में यत्र–तत्र–सर्वत्र, महा–तनाव, एक निरर्थक दौड़ और एक मानसिक विक्षिप्तता की परिस्थिति बनी हुई है। इसी मानसिक तनाव में जीव उत्पन्न होता है, इसी मानसिक तनाव में जीता है और इसी तनाव में समाप्त हो जाता है। उसका यह विशिष्ट कारण है जो मैं स्पष्ट कर चुका हूँ और बार–बार इसको कहने में मुझे संकोच नहीं होता, क्योंकि जगत यह जान जाए, कि इस तनाव का विशिष्ट कारण क्या है? कारण यह है, **कि हम प्राप्य की प्राप्ति के पीछे भाग रहे हैं। जबकि वह स्वतः भाव से हमें प्राप्त हो ही जाती है।** आनन्द के लिए हम पुरुषार्थ नहीं करते। जीवन का सम्पूर्ण आनन्द हम खो देते है और इस आनन्द रहित जीवन से हम एक दिन छुटकारा पा लेते हैं, क्योंकि समय कभी किसी की प्रतीक्षा नहीं करता, यह एक मूल मंत्र है, जो कि आज नहीं तो कल हमें पकड़ना ही होगा यदि हम अपने जीवन को आनन्दमय बनाना चाहते हैं और बिताना चाहते हैं। गुरु नानकदेव महाराज ने तो यहाँ तक कहा है– कि, ***'बहुत जन्म जिये रे माधो, यह जन्म तुम्हारे लेखे।'*** हे प्रभु! मैं बहुत जन्म जी चुका हूँ और किसी जन्म में मेरे पल्ले कुछ नहीं पड़ा। अतः मैं यह जन्म व इसका सम्पूर्ण अस्तित्व तुम्हें सौंपता हूँ। मेरी ओर से यह जन्म तुम जियो और मैं इसका आनन्द लेना चाहता हूँ।" बहुत सरल बात है लेकिन इसका अनुसरण करना, इसको मान्यता देना, अपने जीवन में इसको समाहित करना अति कठिन है। **जिस दिन हम अपने इस जीवन को प्रभु के चरणों में समर्पित कर देंगे, उस दिन जीवन का आनन्द ही और हो जाएगा। हम एक दृष्टा की नाईं इसका सारा भव्य नज़ारा क्षण–क्षण देखते रहेंगे और उसका रसास्वादन करते रहेंगे।**

प्रश्न यह उठता है कि जो हमारी इन्द्रियाँ है, इनका क्या काम है? जैसे हम जीभ के द्वारा स्वाद लेते हैं, कानों के द्वारा सुनते हैं, आँखों से देखते हैं, नासिका से सूँघते है और त्वचा से स्पर्श करते हैं, यह हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ऐसी हमारी पाँच

कर्मेन्द्रियाँ हैं और ग्याहरवीं इन इन्द्रियों का राजा कहा है–**मन**। जिसको इन्द्रिय सुख कहते हैं, इन्द्रिय भोग कहते हैं, यह एक बहुत बड़ा भ्रम है। प्रत्येक इन्द्रिय शरीर का विशिष्ट अंग है। इसकी संरचना विशिष्ट है। इस इन्द्रिय की एक क्षमता है। यह जो विषय है अति विचारणीय है, अति गम्भीर है। जिसको हम इन्द्रिय सुख कहते हैं, यदि हम वास्तविकता की ओर जाएं, तो इन इन्द्रियों का अपना कोई अस्तित्व नहीं है। उदाहरण के लिये यदि हमारा मन स्थिर नहीं है, विक्षिप्त है और हम किसी कारण से चिंतित हैं, तो क्या हमें अच्छे से अच्छा संगीत आनन्द दे सकता है? यदि हमारा मन विक्षिप्त है और हमारे सम्मुख चाहे एक से एक स्वादिष्ट पदार्थ खाने के लिये रखे हुए हैं, तो क्या हम उनके खाने से आनन्द ले सकते है? इसी प्रकार जब हमारा मन स्थिर नहीं होता, विक्षिप्त होता है और हमारी मानसिक दशा ठीक नहीं होती, ऐसी परिस्थिति में हम किसी भी इन्द्रिय का भोग नहीं ले सकते अर्थात् इन्द्रियों का अपना कोई अस्तित्व नहीं है। यदि क्षण भर के लिये हम इस अस्तित्व को मान भी लें, तो प्रत्येक इन्द्रिय की क्षमता की एक सीमा है। उस सीमा के बाद इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं चाहे कोई भी इन्द्रिय हो।

जिस प्रकार शरीर में हमारी माँसपेशियों की और हमारी बुद्धि के सोचने की एक क्षमता है, उसी प्रकार इन्द्रियों के कार्य करने की भी एक क्षमता है। जब हम किसी सुख को अति भोगना चाहते हैं और इस प्रकिया के मध्य में ही इन्द्रियों की क्षमता समाप्त हो जाती है, तो उस सुख की और आकांक्षा हमें असंतोष में ले जाती है, जो कभी–कभी ग्लानि बनकर भी हमारे अन्दर प्रकट हो जाती है। इन्द्रियों का अपना अस्तित्व कुछ नहीं है। तो प्रश्न यह उठता है कि जब इन्द्रियों का अपना अस्तित्व कुछ नहीं है, तो इन्द्रिय सुख किसे कहते हैं? इन्द्रियाँ भी तो अपना सुख कहीं से लेती होंगी। जब हम वास्तव में सुख चाहते हैं, जैसे हम स्वादिष्ट भोजन करते हैं और जीभ का प्रयोग करते हैं, तो हम कितना स्वाद ले सकते हैं? कितना खा सकते हैं? हमारे खाने की भी एक क्षमता है और उस क्षमता से अधिक यदि हम खाएंगे, तो हमें कई प्रकार के कष्टों को भोगना पड़ेगा। तो क्या जीभ के सुख को सदा स्थिर व और–और लेते रहने की क्षमता को स्थिर रख सकते हैं? नहीं। एक सीमा पर आकर हमको जीवन के उस सुख से वंचित होना पड़ता है। यदि हमारी जीभ की क्षमता

समाप्त हो चुकी है, तो हम असंतुष्टि में ही उस प्रक्रिया को समाप्त करते हैं। ऐसा जीवन में आप सभी लोग देखते होंगे। प्रश्न यह उठता है कि इन्द्रिय संतोष क्या है? इसके लिए थोड़ा सा हमको अपना दृष्टिकोण और उदार करना होगा। अपनी विचार–धाराओं को बदलना होगा। सत्य की ओर हमें प्रेरित होना होगा। उसकी तरफ मुड़ना होगा।

इस देह के अन्दर हमारे स्वरूप का आनन्द है, जहाँ से समस्त इन्द्रियाँ आनन्द लेती हैं। यदि हम इन्हीं इन्द्रियों के प्रयोग से उस सच्चिदानन्द अपने स्वरूप के आनन्द में प्रवेश कर जाएं, तो उस आनन्द में प्रवेश करने के पश्चात् भी यह इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। अब यहाँ दो बातें हैं इस परिस्थिति में यदि हम उस आनन्द में प्रवेश कर जाते हैं, जहाँ से इन्द्रियाँ भी आनन्द लेती हैं, तो उस आनन्दमय स्वरूप में प्रवेश करने के बाद, इन इन्द्रियों की कोई भूमिका ही नहीं रहती, इनका अपना कोई कार्य ही नहीं रहता, क्षमता रहती है। पुन. इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि जब हम इन्द्रियों द्वारा अतीन्द्रिय सुख जिसे कहा है, हमारे सच्चिदानन्द स्वरूप का सुख, उसमें प्रवेश कर जाते हैं, तो इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाती हैं क्योंकि इनका फिर कोई महत्त्व नहीं रहता, लेकिन इन्द्रियों की क्षमता रहती है। उस सुख में प्रवेश करने के बाद हमें आत्म–संतुष्टि मिलती है और जब हम केवल इन्द्रियों के सुखों पर ही आधारित हो जाते हैं, तो अपनी क्षमता समाप्त होने पर इन्द्रियों में शिथिलता आ जाती है लेकिन हमारे सुख की आकांक्षा खत्म नहीं होती और उस प्रक्रिया के बाद हम असंतुष्ट हो जाते हैं।

अब विचार करके देखिए, कि हम संतुष्ट जीवन बिताना चाहते हैं या असंतुष्ट। **यदि हम सन्तुष्ट जीवन बिताना चाहते हैं, तो हमको अतीन्द्रिय सुख चाहिये और जब तक हम अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में स्थिर नहीं होते, उसकी एक झलक नहीं पा लेते, हमें अतीन्द्रिय सुख एक मात्र कल्पना के अतिरिक्त और भी नहीं नज़र आएगा।** आज असंतुष्टि का जो कारण है, वह यह भी है कि हम पशुवत् जीवन बिना रहे हैं। हम यह जानना नहीं चाहते, कि जिस इन्द्रिय सुख को हम इतना महात्म दिये हुए हैं, ये इन्द्रियाँ भी तो अपना सुख कहीं से लेती होंगी और वे स्त्रोत, वे उद्गम स्थान हमारे भीतर हैं। उस स्त्रोत को पाने के

लिये हमें चाहिए मानसिक एकाग्रता, जो कि एक योगी में होती है। तभी कहा गया है कि **इस जीवन का आनन्द एक योगी ही ले सकता है। क्योंकि योगी में मानसिक एकाग्रता होती है। वह पुरुषार्थ द्वारा, अपनी मानसिक एकाग्रता द्वारा अपने स्वरूप में स्थित होता है या अपने स्वरूप में स्थित होने की कला होती है उसके पास। इसलिये जो भी उसको प्राप्त होता है, उसमें वह अति आनन्दित हो जाता है।** जबकि मात्र एक भोगी व्यक्ति, एक सांसारिक व्यक्ति दुर्लभ से दुर्लभ वस्तु की प्राप्ति के बाद, यहाँ तक कि किसी प्राप्ति तक ही थक जाता है, विक्षिप्त हो जाता है, तनावित हो जाता है। तो उसके भोग और उसके भोग द्वारा आनन्द की मात्र एक कल्पना ही रह जाती है। आज संसार का विक्षेप और व्यक्तियों में व्याप्त तनाव का मुख्य कारण यह है, कि हम मात्र इन्द्रिय सुख को ही जानते हैं और यह विचार ही करना नहीं चाहते, कि यह इन्द्रियाँ भी तो कहीं से सुख ले रही है, उस स्त्रोत से जो हमारे सच्चिदानन्द स्वरूप का सुख है और वह हमारे भीतर विद्यमान है।

दिल के आइने में है तेरी तस्वीरे यार, जब जरा गर्दन झुकाई देख ली।

जिसकी ओर सम्मुख होने का हमारे पास समय ही नहीं है, तो कैसे मिलेगी हम को शान्ति? एक विशेष तथ्य मैं आपके सम्मुख रखना चाह रहा हूँ इस प्राप्य की प्राप्ति के विषय में! इस विश्व में मानव के लिये पाँच वस्तुएँ अति दुर्लभ है जो सबको प्राप्त नहीं होती।

प्रथम– अच्छा स्वास्थ्य। अच्छा स्वास्थ सबको नहीं मिलता। कुछ लोग पैदाइशी ही रोगी होते हैं और कुछ अपने जीवन काल में अति दुस्तर एवं भयानक रोगों से ग्रसित हो जाते हैं और अपना समस्त जीवन रुग्णता में ही बिता देते हैं। बहुत कम लोग ऐसे संसार में मिलेंगे, जो कि पूर्णतया स्वस्थ कहलाने योग्य है। स्वास्थ्य न केवल शारीरिक बल्कि मानसिक और बौद्धिक स्वास्थ्य उससे भी अधिक आवश्यक है।

नम्बर दो– अच्छे स्वास्थ्य के साथ अच्छा धन। अच्छे धन का होना विशेषतया गृहस्थ परिवार के लिए अति आवश्यक है, जिससे हमारे और हमारे परिवार की प्रतिदिन की आवश्यकताएँ पूरी हो सकें, हमारा अच्छा खान–पान,

रहन–सहन इत्यादि सुन्दर हो सके, कोई कमी महसूस न हो तो अच्छा धन दुर्लभ प्राप्ति है, जो कि सबको नहीं होती।

जब अच्छा स्वास्थ्य और अच्छा धन प्राप्त हो जाता है, तो प्रायः देखने में आता है कि मानव उच्छृखंल हो जाता है। यहाँ तक कि कभी–कमी वह ईश्वरीय सत्ता को भी नकार देता है और कई विकारों में और दुर्व्यसनों में अपना समय व्यतीत करने लगता है। उसके लिए धर्म–कर्म, विचार, चिन्तन, ज्ञान, ईश्वरीय मनन, भक्ति, यह सब वस्तुएँ गौण हो जाती हैं और इन सबको वह बुढ़ापे में करने वाली वस्तुएं मान लेता है।

अच्छे स्वास्थ्य और अच्छे धन के साथ महापुरुषों ने जो **नम्बर तीन पर** दुर्लभ व्यवस्था दी है, वह है**–ईश्वर भक्ति।** अच्छे स्वास्थ्य और विशिष्ट धन के साथ यदि ईश्वर भक्ति की उपलब्धि हो जाए, तो सोने पे सोहागा लग जाता है। लेकिन इसमें एक विचित्र समस्या है, जब वास्तव में मानव मन में ईश्वरीय भक्ति की शक्ति खेलने लगती है, उसका प्रभाव होने लगता है, तो कई प्राकृतिक शक्तियाँ उसके भीतर स्वतः ही आने लगती हैं। तो अक्सर ऐसा देखने में आया है, कि उस भक्ति की शक्ति को प्राप्त करने के बाद अहम्, मद, अंहकार, यह बढ़ जाते हैं। धन की एक सीमा है, धन की शक्ति की एक सीमा है, धन की शक्ति से हम बहुत से ऐसे कार्य है जो नहीं कर सकते। उदाहरणतया हम प्रकृति के नियमों में धन के द्वारा बाधा नहीं डाल सकते, लेकिन ईश्वर भक्ति की शक्ति के द्वारा कुछ भी असम्भव नहीं है। इसके द्वारा ईश्वरीय प्रकृति में कुछ भी अदला–बदली की जा सकती है। किसी भी मानव की एक विशेष जीवन पद्धति, जीवन के मोड़ और आदर्श में परिवर्तन लाया जा सकता है। किसी को वरदान दिया जा सकता है, किसी को श्राप दिया जा सकता है। अक्सर ऐसा देखने में आता है, कि जब यह भक्ति की शक्ति मानव हृदय में खेलने लगती है तो वह उच्छृंखल हो जाता है, मद से चूर हो जाता है और कुछ ऐसे कृत्य करने लगता है जो ईश्वरीय नियमों का उल्लंघन होते हैं और यह कृत्य विध्वंस का कारण बन जाते हैं। जैसा कि आपने इतिहास में ऐसे कई उदाहरणों में देखा होगा, सुना होगा, एक क्या जो बहुत प्रचलित है–

लाहौर में एक छज्जु भक्त रहते थे। वे अविवाहित थे और थोड़ा सा अपना

जीवन यापन का कार्य करके ईश्वर के ध्यान में लीन रहते थे। उनका एक चौबारा था, वहाँ पर एक मुसलमान साई फकीर के साथ रहा करते थे और दोनों ही भगवान के अनन्य भक्त थे। कहते हैं कि भक्तों को किसी से प्रेम नहीं होता, ईश्वरीय प्रेम ही इतना अगाध हो जाता है। यद्यपि उनका प्रेम सबके लिए होता है, लेकिन किसी विशिष्ट व्यक्ति से, वस्तु से उनका लगाव नहीं होता। किसी से प्रेम न होने का अर्थ हमारा यह है कि ईश्वरीय भक्ति में जब मनुष्य तल्लीन हो जाता है, तो उसका किसी विशेष व्यक्ति, वस्तु अथवा स्थान से कोई लगाव नहीं रहता। जब यदि कोई लगाव भक्त को हो जाये, तो वह अदम्य होता है।

छज्जु भक्त को एक छोटे बालक जो कि एक नर्सरी स्कूल में पढता था, उससे विशेष प्रेम हो गया। उसके चौबारे के साथ ही कुछ दूरी पर नर्सरी स्कूल था, जहाँ सुबह वह बालक हर रोज़ पढ़ने के लिये आता था और उसको देखते ही छज्जु भक्त अपने चौबारे से नीचे उतर कर उसको गोद में लेते, दुलार करते और उसको कुछ टाफियाँ आदि भेंट करते थे। एक दिन वह बालक नहीं आया तो छज्जु भक्त को आशंका होने लगी कि कहीं कोई अनर्थ न हो गया हो। उसी आशंका में छज्जु भक्त उस बालक के घर पहुँचे, तो पाया कि ऊपर से गिरने के कारण उस बालक की मृत्यु हो चुकी थी और पूरा मोहल्ला वही पर एकत्रित था। माता–पिता विलाप कर रहे थे और बालक की मृतक देह को पृथ्वी पर लेटा रखा था, ऊपर सफेद कपड़े से ढका हुआ था। छज्जु भक्त यह दृश्य देखकर विदीर्ण हो गये, आवेश में आकर उन्होंने सबको चुप करा दिया। लाहौर के लोग उनको बहुत मानते थे। उस बालक के शव के पास उन्होंने बैठकर प्रभु से प्रार्थना करनी शुरु की उसके जीवन के लिए। वहाँ एक सन्नाटा छाया हुआ था, कि न जाने क्या चमत्कार होने वाला है? छज्जु भक्त आवेशित होकर जोर से गरजे, हाथ में जल लेकर उन्होंने बालक के शव के ऊपर जल फेंका और कहा 'उठ, खुदा के हुक्म से'! लेकिन दुर्भाग्यवश वहाँ कोई भी परिवर्तन नहीं हुआ। पुनः यह भक्त ध्यान में चला गया और पुनः यही प्रक्रिया फिर की, फिर कहा कि 'उठ, खुदा के हुक्म से' लेकिन फिर भी कुछ नहीं हुआ तो तीसरी बार उन्होंने फिर कहा, लेकिन फिर भी कुछ प्राप्ति नहीं हुई। बालक ज्यों का त्यों मृतक वहीं पड़ा था। छज्जु भक्त अति आवेशित हो गया, कम्पायमान हो गई उनकी

देह और चौथी बार हाथ में जल लेकर उन्होंने बहुत वेग से उस जल को बालक के ऊपर फेंका और गरजते हुए कहा, 'उठ, मेरे हुक्म से'। कहते हैं कि कफन हिला और कुछ क्षण में बालक उठकर बैठ गया। छज्जु भक्त के हाथ में कुछ टॉफियाँ थीं, उन्होंने बालक को भेंट की और उसको फिर वैसा ही दुलार–प्यार किया, माथा चूमा और वापिस अपने चौबारे पर जाने के लिए लौट पड़े इनकी वहाँ जय–जयकार हो गई। यह सत्य घटना है। मैं यह इसलिये बता रहा था कि ईश्वरीय भक्ति की शक्ति जब मानव के हृदय में खेलने लगती है तो उससे कभी–कभी कुछ अनर्थ भी हो जाते हैं।

जब यह छज्जु भक्त अपने चौबारे की तरफ प्रस्थान कर गया, उस बालक को जिन्दा करके तो उसके हृदय में अति ग्लानि होने होने लगी कि, 'मैंने यह क्या अनर्थ कर दिया' उस ईश्वर के विधान में मैंने बाधा डाल दी, एक तुच्छ मोह के लिये, एक मानव मोह के लिये मैंने यह क्या कर दिया? अनर्थ कर दिया मैंने।' इस प्रकार कई भावों से ग्रसित और व्याकुल, ग्लानि भाव से वह अपने चौबारे की तरफ बढ़ रहे थे, उनका रंग काला पड़ गया था ग्लानि से और उनका वह मित्र साई, उसने ध्यान द्वारा इस कृत्य को देख लिया। जैसे ही दबे पाँव धीरे–धीरे अपने चौबारे की सीढ़ियाँ चढ़े, वह साई बैठा हुक्का पी रहा था। उसने छज्जु भक्त का हुलिया देखा। वह अपनी ध्यान शक्ति द्वारा सब कुछ समझ गया था। उसने इसको फटकारा कि 'वाह! तूने तो अपने सारे जीवन की कमाई एक बालक को जिन्दा करने में लगा दी। अब देखो, तुम्हारी जय–जयकार होगी लाहौर में, तुम्हारी मान्यता बढेगी इत्यादि, व्यंग कसने शुरू किये।"

विष्णु भक्त उनके चरणों में गिर गये, क्षमा माँगने लगे और प्रार्थना करने लगे, कि 'हे साई, मुझे कोई मार्ग दर्शन करा, मैं बहुत गलित हो चुका हूँ, बहुत ही विक्षिप्त हो गया हूँ मैं', तो आखिर वह साई इनका मित्र था, उसने पश्चाताप के लिये छज्जु भक्त को एक कमरे में बन्द कर दिया। एक ब्लेड दिया और कहा कि इस कृत्य से तुमने जो प्रकृति के विधान में बाधा डाली है, उसके पश्चाताप हेतु अपने इस जिस्म की सारी चमड़ी को उतार और इस कमरे से बाहर मत निकलना। कहा जाता है कि छज्जु भक्त उस कमरे में अपने जीवन के अन्तिम 6 महीने लगभग वही रहे और उसके बाद उनका शव ही वहीं से निकाला गया।

ईश्वरीय भक्तों के साथ **चौथी वस्तु विनम्रता का होना अति आवश्यक है**। यदि विनम्रता, भक्ति के साथ नहीं होगी, तो उससे कभी–कभी बहुत भयानक कृत्य हो जाते हैं भक्तों के द्वारा, जो यद्यपि बाद में उनके लिए ग्लानि का हेतु बन जाते हैं। इन चार वस्तुओं–**अच्छा स्वास्थ्य, अच्छा धन, ईश्वर–भक्ति और ईश्वर–भक्ति के साथ विनम्रता और अन्तिम परन्तु सबसे आवश्यक जो उपलब्धि है–वह है सत्संग–*'बिनु हरि कृपा, मिले न संता'*।**

जो व्यक्ति संत का मुकुट पहन लेता है उसको कहा है 'संत'–जो सत्य देखना है, सत्य बोलता, सत्य सोचता है, जिसका व्यवहार सत्य है उसको कहा है–संत। ऐसे महापुरुष का मिलना, हरि–कृपा के बिना असम्भव है। इन वस्तुओं का जीवन में मिलना अति कठिन है, ईश्वर कृपा से, उसकी विशिष्टतम् कृपा से ही सम्भव हो सकता है।

।। जय जय श्री राम।।

प्रशंसा

प्रशंसा, प्रशंसक, प्रशंसनीय इत्यादि शब्दों से आप भली–भांति परिचित होंगे। संसार में यदि हम गहनता से विचार करके व्यक्तियों का विश्लेषण करें, तो हम पाएंगे जिस प्रकार सकारात्मक एवं नकारात्मक प्रवृत्ति के दो प्रकार के व्यक्ति और व्यक्तित्व होते हैं, उसी प्रकार **प्रशंसक और निदंक** ये भी दो प्रकर के मानसिक झुकाव हैं। कुछ व्यक्ति स्वभाव से प्रशंसक होते हैं, जबकि अन्य लोग स्वभाव से ही निंदक। संसार में कोई भी ऐसी वस्तु, कोई भी ऐसा पदार्थ, ऐसा जीवधारी, ऐसी वनस्पति और सामग्री नहीं है, जिसमें प्रशंसनीय गुण न हों। भले ही कोई किसी प्रकार का भी व्यक्ति हो उसमें यदि थोड़ा गहनता से विचार किया जाये, समझने की कोशिश की जाये तो अवश्य उसमें कोई न कोई प्रशंसा योग्य गुण निकल आयेगा। **प्रशंसा एवं आलोचना या निन्दा का सम्मिश्रण है प्रत्येक व्यक्ति एवं उसका व्यक्तित्व।** प्रशंसा के पीछे बहुत कुछ निर्भर करता है, कि प्रशंसक का बौद्धिक झुकाव किस तरफ है?

हम किसी व्यक्ति के दैहिक सौन्दर्य की, उसकी बुद्धि की, उसके विचारों की, उसकी पद–पदवी अथवा धन–सम्पदा की, उसकी सरलता की या किसी न किसी उसके दिव्य गुण की प्रशंसा करते हैं। यदि हम अति विचारपूर्वक सोचें, तो जो व्यक्ति संसार में प्रशंसक हैं या प्रशंसक हुए हैं और उनसे अधिक वे व्यक्ति जो प्रशंसनीय हैं, उनमें किसी न किसी ईश्वरीय गुण का थोड़ा बहुत समावेश अवश्य होता है। जैसा कि पहले भी वर्णन किया जा चुका है, कि ईश्वरीय सत्ता छ. दिव्य गुणों से परिपूरित है। **ईश्वर अति सौन्दर्यवान, बलवान, ज्ञानवान, ख्यातिवान, त्यागवान एवं ऐश्वर्यवान हैं।** जब विशिष्ट ईश्वरीय कृपा से किसी व्यक्ति की प्रशंसा होती है, तो उसमें इन छः गुणों में से एक अथवा एक से अधिक किसी न किसी गुण का अथवा गुणों का थोड़ा बहुत अंश अवश्य होता है, अर्थात् जो व्यक्ति प्रशसनीय हैं, वे विशिष्ट ईश्वरीय कृपा के पात्र होते हैं लेकिन जो प्रशंसक है उनके साथ भी यही सत्य है।।

ईश्वरीय गुणों से परिपूरित होना एक कठिन प्राप्ति है और उन गुणों की प्रशंसा करना, यह उससे बड़ा कार्य है। **जो व्यक्ति प्रशंसक होता है, वह स्वयं भी**

प्रशंसनीय होता है। कोई प्रशंसनीय व्यक्ति ही प्रशंसक हो सकता है, यह बहुत गहन तथ्य है। अक्सर मानसिक विश्लेषण से देखा गया है, कि जिनके स्वभाव में ही प्रशंसक गुण हैं, वे व्यक्ति अपने जीवन से बहुत हद तक सन्तुष्ट होते हैं। उनकी जीवन के प्रति सकारात्मक वृत्ति होती है। ऐसे व्यक्ति जीवन में सफल व्यक्ति होते हैं अथवा सफल व्यक्तित्व के गुणों से पूर्णतया परिपूरित होते हैं। कब किसी की प्रशंसा होती है? यह अपने में अलग विषय है।

हमारी भारतीय परम्परा में जब किसी सन्त को या महापुरुष को आमंत्रित किया जाता है तो तन–मन–धन व अन्य प्रकार की सेवा के साथ अपनी वाणी से उसकी सेवा की जाती है, यह हमारी एक परम्परा है। उस प्रशंसा में कभी–कभी अतिशयोक्ति भी आ सकती है और उस अतिशयोक्ति का आना स्वभाविक है, यह उसके अतिथि–सत्कार का एक अंश है। दूसरे, हम किसी व्यक्ति की प्रशंसा तब करते हैं, जब कोई वास्तविक प्रशंसनीय ही होता है और उसकी प्रशंसा करके हम उससे प्रेरणा लेते हैं। उसके श्री मुख से उन दिव्य गुणों की उत्पत्ति का कारण जानते हैं। यही यह बात जान लेना अति आवश्यक है, कि देव कृपा से कभी–कभी अभिमानी और मूर्ख लोगों में भी कुछ प्रशंसनीय गुण आ जाते हैं, लेकिन उनकी भी एक पहचान है। **कभी भी दम्भी या अहंकार–युक्त व्यक्ति की जब प्रशंसा की जाती है तो वह और भी उद्दंडी हो जाता है, अभिमान से भर जाता है जबकि दूसरी ओर जब एक सरल प्रकृति के महामानव की प्रशंसा की जाती है, तो प्रशंसा के बाद वे और भी विनम्र हो जाता है।**

जब प्रभु हनुमान जी लंका में अनेक बड़े–बड़े योद्धा राक्षसों को मारकर एवं परास्त करके, लंका दहन कर, सीता जी का पता लगा और उनकी चूड़ामणि लेकर आते हैं तो प्रभु श्रीराम, हनुमान जी की प्रशंसा करते है, उनको हृदय से लगाते हैं, तो हनुमान जी और विनम्र हो जाते हैं। कहते है, "प्रभु। मैं वानर हूँ और मेरा कार्य एक पेड़ की शाखा से उछल कूद करके दूसरी शाखा पर छलांग लगाना, पेड़ों की डालियाँ तोड़ना और कच्चे–पक्के फल खाना व उन फलों को गिराना है। आपकी कृपा से ही मैं इस प्रशंसा के योग्य हुआ हूँ। जो कुछ भी मैंने लंका में किया है वह मात्र आप की कृपा–दृष्टि से और आप ही की शक्ति से किया है'', जब वीर हनुमान

स्वयं की प्रशंसा प्रभु श्रीराम के श्रीमुख से सुनते हैं तो विनम्रतावश उनके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बहने लगती है। बार–बार वह प्रभु के चरणों में अपना शीश नवाते हैं व बार–बार उनको प्रणाम करते हैं। यह महापुरुषों के लक्षण हैं कि वह अपनी प्रशंसा सुनकर और भी विनय हो जाते हैं, उनको और भी अपने इष्ट की और ईश्वर की सान्निध्यता एवं उसकी समीपता की अनुभूति होती है। जैसा कि मैं पहले वर्णन कर चुका हूँ, कि वास्तविक प्रशंसा तभी मिलती है जब विशिष्ट ईश्वरीय कृपा होती है और ईश्वर के किसी न किसी गुण का थोड़ा–बहुत किसी व्यक्ति में समावेश हो जाता है।

कई बार प्रशंसा किसी व्यक्ति के दिव्य गुणों की जागृति के लिए भी की जाती है। जीवन एक बहुत विचित्र संयोग है, बहुत अटपटा सा मार्ग है, न जाने कब, किस प्रकार की परिस्थितियाँ मनुष्य को घेर लेती हैं और ऐसी परिस्थितियों में कई बार बहुत उच्च–विचारों के व्यक्ति भी क्षणिक गिर जाते हैं। वे अपने नियमों से, अपने कर्मों से, अपने मार्ग से च्युत हो जाते हैं, हट जाते हैं। ऐसे महामानवों को पुनः अपने मार्ग पर लाने के लिये कुछ दैवीय व्यक्ति उनकी प्रशंसा करते हैं। कई बार जीवन से हतोत्साहित एवं निराश व्यक्तियों को उनके सदगुणों को, उनकी शक्तियों को याद दिलाने से उन व्यक्तियों में दिव्य गुणों की जागृति हो जाती है और वह पुनः अपने खोए हुए स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं, पुन. सशक्त हो जाते हैं। यहाँ तक कि उनकी शक्तियाँ कई गुना बढ़ जाती है, जिनकी गणना करना अति कठिन है।

हनुमान जी सागर तट पर बैठे एक सैन्य टुकड़ी के साथ माता–सीता की खोज के समय जब देखते हैं कि सभी वानर समुद्र पार करने में असमर्थ हैं, तो अपना सिर झुकाये, नेत्रों में अश्रु लिए हुए बहुत गहरी चिन्ता मैं खोए हुए हैं। जामवंत जी जब इन्हें ऐसी दशा में निहारते हैं, कि यह साक्षात् भगवान शंकर व उमा–पार्वती अर्थात्, शिव और शक्ति का अवतार इस प्रकार चिंतित और उदास बैठा है, तो वे हनुमान जी को उनकी शक्तियों की स्मृति दिलवाते हैं व उनकी प्रशंसा करते हैं–

कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेउ बलवाना।
पवन तनय बल पवन समाना। सुधि बिबेक बिग्यान निधाना।
कवन सो काज कठिन जग माही। जो नहि होइ तात तुन्ह पाही।
राम काज लगि तव अवतारा। सुनतहि भयउ पर्बतकारा।

कनक बरन तन तेज बिराजा। मानहुँ अपर गिरिन्ह कर राजा।।
सिंहनाद करि बारहि बारा। लीलहि नाघउँ जलनिधि खासा।।
सहित सहाय रावनहि मारी। आनउँ इही त्रिकूट उपारी।।

(दोहा 21, किष्किन्धा काण्ड)

जब हनुमान जी के सदगुणों की प्रशंसा की जाती है, जब उनकी शक्तियों का स्मरण दिलाया जाता है, तो वे महाप्रलयंकर, महायोद्धा और अति बलवान स्वरूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार प्रशंसा से किसी व्यक्ति के खोए हुए स्वरूप की जागृति हो जाती है, उसमें सदगुणों का समावेश हो जाता है व उनका प्रगटीकरण हो जाता है।

जैसा कि वर्णन किया जा चुका है कि अतिथि–सत्कार में प्रशंसा एक औपचारिकता है। किसी व्यक्ति के गुणों की प्रशंसा करने से न केवल हम उस व्यक्ति के गुणों को जागृत करते हैं, बल्कि जो प्रशंसक है, वह स्वयं भी प्रशंसनीय बन जाता है। प्रशंसा कई बार कुछ व्यक्ति अति चातुर्यवश किसी अन्य व्यक्ति से कोई काम निकलवाने के लिए भी करते हैं, लेकिन उसके पीछे भी एक बहुत गहन मानसिकता है। जब भी हम किसी व्यक्ति की झूठी अथवा सच्ची प्रशंसा करते हैं, तो उसका विशेष व्यक्तित्व उभर कर सामने आता है उस समय, भले ही वे कुछ क्षण के लिये हो, वह उसका प्रशंसनीय व्यक्तित्व होता है। जव किसी व्यक्ति का प्रशंसनीय व्यक्तित्व उभर जाता है, प्रकट हो जाता है तो वह व्यक्ति हमेशा दाता बन जाता है।

प्रशंसनीय व्यक्तित्व का जो सर्वप्रथम गुण है, **'देना', कुछ न कुछ देना, आर्थिक दृष्टि से, अपनी मानसिक, शारीरिक अथवा आध्यात्मिक शक्तियों से कुछ देना या किसी के लिये कुछ न कुछ भला करना, यह उसके व्यक्तित्व का प्रथम गुण माना गया है और यह सत्य है।** इसलिये किसी भी व्यक्ति से जब कोई कार्य लिया जाता है, तो उसकी प्रशंसा की जाती है। यहाँ तक कि जब हम देव–दरबार में अपने इष्ट के सम्मुख प्रस्तुत होते हैं, तो प्रभु की प्रशंसा में बनाये हुए जो छंद है, पद्य है, गद्य है, उन सबमें प्रशंसा और स्तुति ही की जाती है। आप किसी भी धर्म के धर्म–ग्रन्थों में देख लीजिये, रामचरितमानस, रामायण, कुरान, बाईबल आदि में सर्वत्र ईश्वर की किसी भी नाम–रूप,

आकार–निराकार किसी भी स्वरूप में प्रशंसा की जाती है, वन्दना की जाती है, स्तुति की जाती है, प्रभु के गुणों का बखान किया जाता है।

प्रशंसा करते हुए यदि प्रशंसक एक बात का ध्यान रखे, कि जब वह किसी महापुरुष की प्रशंसा कर रहा है, उस समय अपने आपको उसके सम्मुख जितना छोटा प्रकट करता है, वह उसके दिव्य गुणों को प्राप्त करने का या उस प्रशंसनीय व्यक्ति से भौतिक अथवा आध्यात्मिक शक्तियों को प्राप्त करने का उतना ही बड़ा अधिकारी बन जाता है। यह एक बहाव है। किसी की स्तुति करते समय, प्रशंसा करते समय हम उसके दिव्य गुणों से और उसकी शक्तियों से कुछ न कुछ स्वतः ही अवश्य प्राप्त करते हैं। प्रशंसनीय व्यक्ति अथवा व्यक्तित्व से प्रशंसक की तरफ स्वतः ही सद्गुणों का, शक्तियों का एक बहाव उसी समय प्रारम्भ हो जाता है। प्रश्न यह उठता है कि ईश्वर की प्रशंसा करने की आवश्यकता क्या है? जो अति प्रशंसनीय है, जो विशिष्ट, अद्वितीय और विहंगम, अति उत्कृष्ट गुणों से, सद्गुणों से युक्त है, उनकी प्रशंसा की क्या आवश्यकता है? अति विचारणीय प्रश्न है।

वे सर्वशक्तिमान ईश्वरीय शक्ति जिसकी कोई मानव प्रशंसा करने योग्य ही नहीं है, जिसके गुणों को कोई व्यक्ति पूर्णत विचार ही नहीं कर सकता, जो असीम है, जिसकी प्रशंसा असीम सागर है, गहन सागर है, वेद–वेदान्त जिसके सम्मुख हाथ जोड़े खड़े रहते हैं और नेति–नेति कहते हैं, ऐसे प्रभु की प्रशंसा करने से स्वार्थी प्रशंसक, ईश्वरीय भक्त स्वतः ही ईश्वर के गुणों का, सदगुणों का एक बहाव अपनी ओर बना लेता है। प्रशंसा करते–करते वह धीरे–धीरे एक दिन स्वयं प्रशंसनीय हो जाता है, ऐश्वर्यवान हो जाता है, सौन्दर्यवान हो जाता है, सशक्त हो जाता है, त्यागवान हो जाता है, ख्यातिवान एवं बलवान हो जाता है, ईश्वरीय ज्ञान उसके भीतर से स्वतः ही प्रस्फुटित हो जाता है।

इसके विपरीत जो निंदक है और वह जिस व्यक्ति की निन्दा करता है, उसकी दृष्टि में जो निन्दनीय है, उस निन्दनीय व्यक्ति के अवगुणों का एक स्वाभाविक और प्राकृतिक बहाव उसी समय उस निंदक व्यक्ति की तरफ अवश्य हो जाता है, भले ही वह अपनी वाणी द्वारा प्रकट न करे। जब उसकी बुद्धि में निन्दा का विचार भी उठता है तो उसके भीतर उसके अन्त–करण में निन्दनीय गुण स्वतः ही उत्पन्न होने लगते

है क्योंकि प्राकृतिक रूप में देखा जाए, तो जैसा कि पहले भी वर्णन किया जा चुका है, प्रत्येक विधा अपने में परिपूरक है। निन्दक और निन्दनीय कभी न कभी एक हो जाते हैं, प्रशंसक और प्रशंसनीय भी एक हो जाते हैं, यद्यपि वे एक ही होते हैं। लेकिन निरन्तर इस विचारधारा में विचरण करने से एक समय ऐसा आता है कि प्रशंसक, प्रशंसनीय और प्रशंसा स्वयं एक ही हो जाते हैं।

ईश्वर से वरदान पाने के लिए और ईश्वरीय शक्तियों को स्वयं में जागृत करने के लिए प्रशंसा की जाती है, स्तुति की जाती है। प्रशंसा अथवा स्तुति के असंख्य प्रकार हैं, अनेक मार्ग हैं। किसी व्यक्ति के प्रशंसनीय की प्रशंसा करने से भी उस व्यक्ति की ही प्रशंसा होती है। प्रशंसा में यह आवश्यक नहीं, कि हम प्रशंसा किसी व्यक्ति विशेष की ही करें। यदि उस व्यक्ति विशेष में किसी अन्य व्यक्ति के प्रति प्रशंसा भाव है, तो उस अन्य व्यक्ति की भी प्रशंसा उसके सम्मुख करने से वह उसको स्वयं की ही प्रशंसा मानता है। किसी के कुल की, जाति की, परिवार की, किसी की संतान की, स्त्री की और किसी के पति की, किसी के सगे–सम्बन्धी की, जिनको कोई व्यक्ति बहुत हृदय से चाहता हो, किसी की भी प्रशंसा करने से वह व्यक्ति विशेष, उसमें स्वयं अपनी ही प्रशंसा मानता है।

प्रशंसा के साथ विनम्रता का होना अति आवश्यक है। संसार का प्रत्येक मानव भला स्वयं को कितना जानता है? बहुत विचारणीय बात है। मानव बुद्धि द्वारा निर्मित कितने ही वैज्ञानिक और अवैज्ञानिक यंत्र व अन्य वस्तुएं हैं। उनमें कभी थोड़ी बहुत त्रुटि आ जाने पर हम उनके कारीगर के पास दौड़ते हैं। यदि हम किसी भी जटिल विद्युत यंत्र के बारे में पढ़ें, तो हम पाएंगे कि हम उसके बहुत से कार्यों के बारे में जानते ही नहीं है, तो विचारिये कि मानव मस्तिष्क द्वारा निर्मित, जो केवल मानव मस्तिष्क की खोज है, ऐसे यन्त्रों के बारे में भी साधारण मानव स्वयं बहुत ज्यादा नहीं जानता। इसके बारे में पुस्तकें पढ़नी पड़ती है हमको, पूछना पड़ता है किसी से। तो स्वयं मानव मस्तिष्क उसके कितने असंख्य ऐसे कार्य होगें, जिन्हें हम नहीं जानते तो कौन से कारीगर से हम पूछने जाएं? कौन सी पुस्तक पढ़े, हम? यह एक बहुत बलिष्ठ तर्क है कि हम अपने मस्तिष्क, अपने हृदय और अपनी देह के जितने विशेष अंग हैं उनके बारे में बहुत कम जानते हैं। उनके असंख्य कार्य ऐसे हैं जिनके द्वारा

हम अपने मानव जीवन को अति उत्कृष्ट एवं आनन्दमय बना सकते हैं लेकिन हम स्वयं अपनी बुद्धि के, अनेकों कार्यों को जानते ही नहीं है तो किसके पास जाएं? क्या हम पैदा होते ही अपने साथ कोई पुस्तिका लेकर आए हैं? इसके लिये यह आवश्यक है कि यदि हम जीवन को अति उत्कृष्ट बिताना चाहते हैं, तो हम अपने हृदय के, मन–मस्तिष्क के कुछ विशिष्ट कार्यों का अवलोकन अवश्य करें।

इसके लिये हमें किसी सद्गुरु के पास जाना होगा, हमें अपने इष्ट के सन्मुख उपस्थित होना होगा। उससे पूछना होगा कि मेरे भीतर तुमने और क्या–क्या भरा है? इस प्रकार कुछ विशिष्ट कार्य ऐसे मिल जाते हैं, कि जिनका मात्र दिग्दर्शन करने से हमारा जीवन अति विलक्षण बन जाता है। अक्सर हम केवल थोड़े से ही कार्यों से अपना काम चलाते हुए जीवन को समाप्त कर देते हैं। कई बार लोग प्रश्न करते हैं कि आप निंदा की, प्रशंसा की जो बात करते हैं, इससे कहीं का व्यक्तित्व उभर कर आयेगा? हम उनको यह तर्क देते हैं कि आप अपने बारे में कितना जानते हैं? आप अपने व्यवहारिक जीवन में यदि बहुत विचारपूर्वक ध्यान से देखें, तो पाएगे कि जीवन में कुछ ऐसी विशिष्ट घटनाएं घटती हैं, जो सम्पूर्ण जीवन का स्तर और जीवन की गुणात्मकता को बदल देती है, विचारधाराओं को बदल देती है, जिससे मनुष्य का व्यक्तित्व बदल जाता है। इसका अर्थ क्या है? हमारे भीतर असंख्य शक्तियाँ न जाने कहाँ–कहाँ छिपी हुई हैं, जिनका हमको ज्ञान मात्र भी नहीं है, जिनके बारे में हमको कुछ भी मालूम नहीं है। जैसा कि पहले भी वर्णन किया जा चुका है कि एक व्यक्ति में अनेक व्यक्तित्व होते हैं और प्रत्येक व्यक्तित्व अपना एक महत्व रखता है। उस व्यक्तित्व के उभरने से उस व्यक्ति का बाह्य जगत एक विशिष्ट प्रकार का हो जाता है जो उस व्यक्तित्व के समान–अनुपाती होता है।

प्रायः हम लोग ऐसा कह देते हैं कि अमुक–अमुक समय पर मैंने अथवा किसी विशेष व्यक्ति ने अपना आपा खो दिया था, यह आपा क्या है? यह आपा एक व्यक्ति का साधारण व्यक्तित्व है, जिसमें वह साधारणतः विचरता है, लेकिन विशेष परिस्थितियों में वह उस व्यक्तित्व को ढक लेता है और उसका कोई अन्य व्यक्तित्व उभर कर सामने आता है एवं उसका बाह्य जगत उस व्यक्तित्व के अनुसार पूर्णतः बदल जाता है। जब हम देव–दरबार में अपने इष्ट के सम्मुख बैठते

है तो उसके पीछे मूल रहस्य क्या है? सब प्रकार से हम अपना दिव्य व्यक्तित्व प्रकट करते हैं। हमारा दिव्य व्यक्तित्व प्रकट होता है, उस सच्चिदानंद ईश्वर अपने इष्ट के सम्मुख बैठकर, ध्यान करने से, चिंतन करने से, एक विशेष प्रकार के वातावरण के उत्पन्न होने से। तो उस **दिव्य व्यक्तित्व की एक विशेष पहचान है कि वह मुदिता से, आनन्द से, भक्ति से, शक्ति से, मस्ती से, साहस से, उत्साह से एवं अभय से परिपूरित होता है, उसमें त्याग, ज्ञान एवं संतोष होता है। जहाँ दिव्यता है, वहाँ दैवीय गुणों का समन्वय एवं प्रगटीकरण साथ ही साथ चलते हैं।** जहाँ आसुरी व्यक्तित्व प्रकट होता है वहाँ अशान्ति, क्लेश, निर्धनता, समस्त दुर्व्यसनों का पदार्पण और न जाने क्या–क्या हो जाता है, जिनसे व्यक्ति का जीवन दुस्तर हो जाता है, कठिन हो जाता।

विशिष्ट कर्म क्या है? शुभ कर्म क्या है? मैंने अपने अनुभव से, इष्ट कृपा से, शुभ कर्म की जो परिभाषा पाई है, वह है कि **सब प्रकार से अपने दिव्य व्यक्तित्व को प्रकट करना और प्रकट के करने के बाद उसको बनाये रखना ही शुभ–कर्म है।** जैसा कि मैं वर्णित कर चुका हूँ, उस विशिष्ट दिव्य व्यक्तित्व के प्रकट होते ही हमारे जीवन की रूप–रेखा बदल जाती है। संसार का रंग–रूप हमें अलग सा नज़र आने लगता है, अनेक भ्रान्तियाँ समाप्त हो जाती हैं, एक नशा सा हो जाता है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

मै चला शराबखाने, जहाँ कोई गुम नहीं है।
जिसे देखनी हो जन्नत, मेरे साथ–साथ आए।

यह ऐसा नशा है जिसको बयान करना मुश्किल है, अनिर्वचनीय है। **प्रशंसा या स्तुति से जो भी व्यक्तित्व उभरेगा वह सशक्त व्यक्तित्व होगा, सदगुणों से परिपूरित होगा।** अब यह निर्भर करता है मानव बुद्धि पर कि उस व्यक्तित्व का सदुपयोग वह कैसे करे? यहाँ एक बात का उल्लेख करना मैं आवश्यक समझता हूँ, वह यह कि जब देह से सद् तत्व प्रकट हो, दैवीय व्यक्तित्व प्रकट हो तो उसमें अवश्य कुछ चमत्कार होते हैं। दैवीय चमत्कार। कुछ असम्भव सी लगने वाली चीजें संभव हो जाती है, जिनको साधारण तथा अति उत्कृष्ट मानव बुद्धि भी नहीं सोच पाती। ऐसी घटनाओं को, अनुभवों को, चमत्कारों को किसी के सामने वर्णन न ही

करें तो अच्छा है, वह अनुभव हमारी स्वयं की सम्पदा होते हैं, अति गोपनीय। कभी आप ऐसे समुदाय या ऐसे व्यक्तियों के बीच में बैंठे, जो ऐसे अनुभव कर चुके हैं और जो ऐसे अनुभवों में विश्वास रखते हैं, व ईश्वर को मानने वाले हैं तो आप अपने अनुभवों की थोड़ी चर्चा कर सकते हैं अन्यथा उनको अपने ह्रदय तक ही रखिए। कुछ ऐसा दिखाई देने लगता है जो साधारण मानव की ऑखें देख नहीं सकती, बुद्धि सोच नहीं सकती। इतनी प्रबलता है इस स्तुति और प्रशंसा में। यहाँ तक कि वे ईश्वरीय सत्ता जो ठोस–घन–शिला है जिसके बारे में महासिद्ध पुरुष, महामानव श्री गुरुनानक देव जी महाराज ने कहा है–

राम की दुहाई रे बाबा, राम की दुहाई
न कित आए भयो, न कित जाए भयो।

स्वयं वह ईश्वरीय सत्ता ज़रा भी नहीं हिलती। उस सत्ता की संकल्प शक्ति से मन और माया दो शक्तियाँ प्रकट होती हैं, जिनके संयोग से ब्रह्मा, विष्णु और महेश बनते हैं लेकिन स्वयं वह सत्ता अपने में कुछ भी नहीं बनती। ब्रह्मा, विष्णु, महेश यह इसकी तीन विधाएं हैं। ब्रह्मा बनकर वही ईश्वरीय सत्ता संसार का निर्माण करती है, विष्णु बनकर पालन एवं शिव बनकर उसका संहार करती है। यह तीनों प्रक्रियाएं उसके अपने आनन्द में और आनन्द से होती है। यह जानना बहुत आवश्यक है कि कोई भी प्रक्रिया, कोई भी कार्य, कोई भी परिवर्तन जब आनन्द से होता है, आनन्द में होता है और आनन्द से आनन्द में ही समाप्त होता है तो आप मान लीजिये कि वह शत–प्रतिशत दैवीय है और जब वह आनन्द के लिए होता है तो मानविक है।

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उस सर्वशक्तिमान परमात्मा की एक महान सृष्टि है। उसे कोटि–कोटि ब्रह्माण्डनायक कहा है। प्रत्येक जीव, प्रत्येक जन्तु अपने में एक पूर्ण इकाई है, अपने में एक ब्रह्मांड है और परिपूर्ण है। जिस प्रकार देह में प्रत्येक अंग का अपना–अपना कार्य है और उस कार्य के अनुसार ही उस अंग को निर्मित किया गया है, उसकी कोशिकाएं, उसका तंत्रिका–तंत्र, उसके रुधिर का प्रवाह और पूरी संरचना को इस प्रकार गढ़ा गया है, कि प्रत्येक अंग का अपना कार्य सुचारु हो सके। उदाहरण के लिये अगर जीभ चाहे कि वह ऑख का काम करे, तो यह सम्भव ही नहीं है। यद्यपि समस्त अंग एक ही देह के अंग है और देह की परिपूर्णता इन प्रत्येक

अंगों के सुचारु कार्य करने से है तो इस देह के उदाहरण से हम इसको ज्यादा स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं।

जिस प्रकार कि पूरी देह को आप महाब्रह्माण्ड मान लीजिये और इसके प्रत्येक प्रणाली की प्रत्येक कोशिका अपने में एक ब्रह्माण्ड है। जैसे नासिका की कोशिकाएं इस प्रकार निर्मित हैं, कि वह मात्र सूँघने का कार्य कर सकती हैं, उनका प्रमुख कार्य है–**सूंघना**। कर्णों की कोशिकाओं का मुख्य कार्य है–**सुनना**। त्वचा की कोशिकाएं भी अपने में पूर्णब्रह्मांड है, उनका कार्य है **स्पर्श और स्पर्श का अनुभव**। इस प्रकार जितने भी संसार में मानव हैं या अन्य जीव–जन्तु हैं, प्रत्येक अपने में उस महाब्रह्माण्ड की एक कोशिका है, इसलिये ईश्वर को कहा है कोटि–कोटि ब्रह्मांडनायक। जिस प्रकार देह में कोशिकाएं बनती और टूटती रहती हैं, उसी प्रकार इस महाब्रह्माण्ड में जीव–जन्तुओं का क्षय और निर्माण होता रहता है। अब यदि देह को हम स्वस्थ रखना चाहते हैं, तो हमें पौष्टिक भोजन, थोड़ा आहार का संयम, व्यवहार का संयम, थोड़ा व्यायाम और प्रत्येक कोशिका के विशेष स्वास्थ्य के लिये जो भी जरूरी है, उनका अनुसरण करना चाहिए। लेकिन यदि हम चाहें कि आँख, नाक का काम करे या त्वचा सुनने का कर्म करे तो ऐसा सम्भव नहीं है।

मैं यह बात इसलिये कह रहा हूँ कि जब प्रभु कुछ मानवों को कुछ विशेष शक्तियाँ दे देते हैं, आध्यात्मिक, भौतिक, बौद्धिक, शारीरिक व अन्य, तो मायावश लोग इस संसार के ठेकेदार बन जाते हैं। उस अवस्था में उन लोगों का यही कर्तव्य बनता है, कि उस सर्वशक्तिमान प्रभु के निर्देश को, आशा को भांपे, कि वह उनसे क्या कार्य लेना चाहते हैं और कितना कार्य लेना चाहते हैं? इस बात को मैं एक अन्य उदाहरण से स्पष्ट करूँगा। मान लीजिए हमने घर में कोई खाना पकाने वाला रसोईया रखा हुआ है और घर में हम चार व्यक्ति हैं। रसोईये को हमने रसोई घर में सब सुविधाएं दी हुई हैं, सब प्रकार की भोजन सामग्री है। यदि वह अति उत्साहपूर्वक 4 के बजाय 40 आदमियों का भोजन बनाए, तो भी उसका तिरस्कार हो सकता है और यदि चार के बजाय एक का बना दे, तो भी उसका अपमान किया जा सकता है। जब हमें इस विश्व में आकर सब सुविधाएं मिल जाए अपना कार्य करने के लिए, स्वतः ही विशेष वातावरण मिल जाए, यहाँ मैं यह उल्लेख करना आवश्यक समझूँगा

कि जिस कार्य के लिये परमात्मा ने हमारी हर एक की रचना की है, उस कार्य के लिए जो कुछ भी हमको वातावरण चाहिए, परिस्थितियाँ चाहिए, सुविधाएं चाहिए, वे हमको स्वतः भाव से उपलब्ध होती हैं, ऐसा ईश्वरीय नियम है, यद्यपि थोड़ा बहुत प्रयत्न करना पड़ सकता है। जिन व्यक्तियों को कुछ विशिष्ट कार्य के लिए निर्मित नहीं किया है वे चाहे कितना भी प्रयत्न करें, अन्य कार्यों की सुविधाएं उन्हें नहीं मिल सकती, अगर मिलती भी हैं, तो उनके द्वारा वह कार्य नहीं ले सकते। अत. अपनी भौतिक शक्तियों द्वारा, अन्तप्रेरणा द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को यह निर्णय करना अति आवश्यक है कि उसको इस संसार में क्या करने के लिए भेजा गया है? उसको एक विशेष प्रतिभा दी होती है परमात्मा ने और उसके अनुसार उसके ब्रह्माण्ड की रचना होती है, उसकी परिस्थितियाँ उसके अनुसार होती हैं।

जैसा कि मैं अपने इस व्याख्यान में प्रशंसा का वर्णन कर रहा हूँ, प्रशंसा से क्या होता है कि प्रत्येक व्यक्ति का वह व्यक्तित्व उभरता है, जिसके द्वारा वह अपने कार्य को अति सुचारु पूर्वक करके न केवल स्वयं के लिए, बल्कि जगत के लिये भी सहाई हो जाता है। उसके अनुसार जब व्यक्ति कोई कार्य करते हैं, तो स्वतः भाव से उस व्यक्ति को उसके अनुकूल वातावरण एवं परिस्थितियों स्वयं मिलती है लेकिन यहाँ पर अति उत्साही होना कि मेरे बिना यह कार्य हो ही नहीं सकता, मैं ही ऐसा व्यक्ति हूँ जो यह कार्य कर सकता है, जब यह भाव आ जाता है तो उसे कहा गया है अहम् की उत्पत्ति, जो विनाशकारी है। वह सर्वशक्तिमान परमात्मा ऐसी असंख्य इकाईयों को, ब्रह्माण्डों को क्षण भर में रचित कर सकते हैं। बहुत सशक्त हैं वे, अपने में साक्षात् शक्ति हैं, समर्थ हैं, अति बली हैं। तो इसलिये हमको जब प्रभु ने कोई विशेष चमत्कारिक अथवा अन्य शक्तियाँ प्रदान की हों और उनकी परिस्थितियाँ दी हों तो हमें हर कार्य को ईश्वर निमित्त करके करते रहना चाहिए और जो उस कार्य के बाद जो प्रशंसा मिलती है, उसको भी ईश्वर निमित्त कर देना चाहिए। यह सुखद एवं आनन्दमय जीवन बिताने का एक मार्ग है।

यदि हम यह समझकर संसार में चलें कि हमको इस पृथ्वी पर लाने का कोई विशेष कारण रहा होगा जो हम स्वयं नहीं जानते, हमको किस लिए एक अमुक समय पर इस पृथ्वी पर जन्म दिया गया है और एक अमुक समय पर हमें इस संसार

से ले जाया जाएगा और क्या कार्य हमसे करवाया जा रहा है, इन बातों पर यदि हम विचार करें, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि जन्म–मृत्यु हमारे हाथ में नहीं हैं। **प्रथम, जीवन हमको कोई उपहार में नहीं मिला हुआ है,** यह हमसे कभी भी वापिस लिया जा सकता है। दूसरा, यह भाव हम अपने हृदय में ग्रहण कर लें, कि **हमारे बिना संसार चल रहा था और हमारे बाद भी चलता रहेगा और तीसरी प्रमुख दशा कि हमारे हाथ में कुछ भी नहीं है।** जब हमारे हाथ में कुछ नहीं है, फिर भी हम कितनी योजनाएँ बनाते हैं, करना कुछ और चाहते हैं, हो कुछ और जाता है। समय को, काल को हम बाँधना चाहते हैं जो असम्भव है। हम धैर्य खो चुके हैं, ईश्वर में विश्वास खो चुके हैं।

जिस समय प्रभु ने जो कार्य करवाना है उसकी रचना उन्होंने की हुई है। अगर कोई कार्य हमसे करवाना है, तो हमसे ही करवाएगें। लेकिन उसके लिये समय की परिपक्वता, हमारे विचारों की परिपक्वता, वातावरण की परिपस्वता इत्यादि अनेक औपचारिकताएँ हैं। जब वे पूरी हो जाती हैं, तो मात्र निमित्त बनकर हम उस कार्य को कर लेते हैं और हम प्रशंसा एवं ख्याति के पात्र बन जाते हैं। लेकिन यहाँ यह समझना आवश्यक है, कि **यदि हम उस कार्य को ईश्वर की कृपा का फल मानकर चलें और उस कार्य को ईश्वर के निमित्त कर दें, तो उसमें हमारा कर्त्ताभाव जाता रहेगा। जब हम कर्त्ता नहीं बनेंगे तो उस कार्य का, उस कर्म का हमें बन्धन नहीं होगा और उसके द्वारा हमको जगत से और हमारे हृदय से स्वतः ही प्रशंसा मिलेगी। उस कार्य की समाप्ति के बाद हमे आनन्द की अनुभूति होगी जो उस कार्य का बहुत बड़ा परितोषिक है।**

जब हम किसी की प्रशंसा करते हैं तो यह समझ लीजिए, कि वह व्यक्ति प्रशंसनीय है, वह ईश्वर की कृपा का पात्र है। क्योकि प्रशंसा तभी मिलती है जब किसी व्यक्ति की प्रभु में, ईश्वर में आस्था हो। जो अहम् भाव से कार्य करते हैं, कि अमुक कार्य का कर्त्ता मैं हूँ तो उनको कभी प्रशंसा नहीं मिलती, भले ही कार्य सिद्ध हो जाये, अपना फल भी दे दे। वे उस कार्य के फल को भोग नहीं सकते, ऐसा प्रकृति का या ईश्वरीय नियम है। **जो प्रशंसनीय व्यक्ति है, वह ईश्वरीय कृपा**

के पात्र हैं और जो प्रशंसक हैं, वह ईश्वर की महती कृपा के पात्र हैं, क्योंकि वे ईश्वर की कृपा का दिग्दर्शन करने के योग्य हैं। यह भी समझ लीजिए कि जो प्रशंसक है वह स्वयं भी प्रशंसनीय है, अगर आज नहीं है, तो कल अवश्य प्रशंसनीय हो जाएंगे। प्रशंसा और स्तुति के पीछे एक बहुत बड़ा दर्शन है जिसे हमें अर्न्तनिहित कर लेना चाहिए।

प्रशंसा करने से हम प्रशंसनीय व्यक्ति को तो भले ही कुछ तुरन्त लाभ पहुँचा सके अथवा नहीं, प्रशंसा करने से प्रशंसक के हृदय में, मन में, मस्तिष्क में, उसी समय प्रशंसनीय गुण उभरने लगते हैं। कभी भी भूलकर किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिए। ईश्वर का अपना एक विधान है, इस महाब्रह्माण्ड का जो रचयिता है, पालनकर्त्ता है, संहारकर्त्ता है, वह इतना परमसशक्त है, कि उसकी शक्ति का अनुमान कोई भी मानव बुद्धि नहीं लगा सकती। एक छोटे से छोटे जीव की, एक वायरस की रचना भी उसने क्यों की है उसके पीछे भी उसका एक कारण है। इस मानव के नेत्रों द्वारा जो दिखाई भी नहीं देते, ऐसे सूक्ष्म अति सूक्ष्म बैक्टीरिया और वायरस इतनी भयानक बीमारियों को उत्पन्न कर देते हैं, कि मानव देह कुछ ही क्षणों में समाप्त हो जाती है। प्रत्येक इकाई अपने में एक ब्रह्माण्ड है। एक मच्छर व्यक्ति को मारने के लिये पर्याप्त है तो कितनी असीम, कितनी विस्तृत एवं विशाल सृष्टि है। उसकी तारीफ करने के लिये हमें अपने दिल–दिमाग को खोलकर रखना पड़ेगा और **यदि हम उस महाब्रह्माण्ड की कलाओं का थोड़ा बहुत दिग्दर्शन या आभास करना चाहते हैं, तो प्रभु की स्तुति के, वन्दना के, प्रशंसा के अतिरिक्त कोई और मार्ग ही नहीं है।**

मानव को बुद्धि ईश्वर ने इसलिये दी कि वह बुद्धि से विचार करे, व**ह ईश्वर की असीम लीलाओं की, एक में अनेकताओं की और अनेक में एक, जो विशेष विलक्षणता है, उसकी प्रशंसा करे। उसकी स्तुति करे। जो मानव के अतिरिक्त अन्य जीव–जन्तु नहीं कर सकते।** निन्दा, ईर्ष्या, द्वेष जब यह भाव मानव हृदय में उत्पन्न होते हैं, तो समझिए वह गर्त में जा रहा है। वह अपनी मानवता से, अपनी मानव बुद्धि से धीरे–धीरे अलग हो जाता है और पशु–श्रेणी में आ जाता है।

ऐसा एक शास्त्रीय नियम भी है और महापुरुषों ने यह बताया भी है कि सुबह उठते ही हमें प्रभु की स्तुति करनी चाहिए। प्रकृति की कोई विधा, जीवन का कुछ समय जैसा भी अपना रूप दिखा रहा है, हमें मात्र उसकी प्रशंसा करनी चाहिए क्योंकि हमारी मानव बुद्धि इतनी तुच्छ है, कि हम उसके किसी भी रहस्य को बुद्धि से पकड़ नहीं सकते। आज जो वस्तु, जो घटना और जो उसका कार्यक्रम, उसकी योजना हमको देखने में विक्षिप्त करती है, न जाने उसके पीछे उसका क्या रहस्य है? कल या आने वाले समय में यही घटना किस प्रकार हमारे जीवन मैं बहुत उपयोगी मील का पलार बन जाए। हम तुरन्त अपनी बुद्धि से निर्णय ले लेते हैं। यही नहीं, निर्णय की घोषणा करते हैं। उसमें अच्छी–बुरी आलोचनाएं होती हैं, यहाँ तक कि सद्–पुरुषों ने, शास्त्रकारों ने, जो धर्मग्रन्थों में, महाग्रन्थों में, काव्यों में लिखा है, हम उनकी आलोचना करने से भी नहीं चूकते।

ज़रा विचारिये, भगवान श्री कृष्ण, साक्षात् विष्णु भगवान के अवतार, जो पृथ्वी पर अपने भक्तों के आर्तनाद पर, मानव का कल्याण करने के लिये उतरे और एक दुर्योधन जैसे साधारण मानव के सम्मुख जब सन्धि का प्रस्ताव लेकर जाते हैं और पाँचों पाण्डवों के लिए पाँच गाँवों की याचना करते हैं, तो दुर्योधन उनको कहते हैं, कि वह सुई की नोक के बराबर की ज़मीन नहीं देंगे। इस पर विचार करिए कि क्या यह दुर्योधन का दोष है कि साक्षात् विष्णु भगवान, पूरे ब्रह्माण्ड का जो पालन करते हैं, वे किसी साधारण व्यक्ति से थोड़ी सी जमीन की याचना करें और वह व्यक्ति उनके व्यक्तित्व से प्रभावित न हो और उनको 'न' कर दे। यह कैसे सम्भव हो सकता है, जब तक कि स्वयं विष्णु भगवान यह न चाहें। यह भगवान कृष्ण की लीला थी, मात्र लीला, वे ऐसा चाहते थे। इन लीलाओं को यदि कोई समझना चाहे तो अपनी बुद्धि को ताक पर रख दे, परे कर दे और बहुत श्रद्धा से, भक्ति से, प्रेम से, ईश्वरीय मोह से वह परमात्मा के सम्मुख जाए, तो शायद उसकी अत्यन्त कृपा हो जाए और इन लीलाओं का रहस्य वह पकड़ सके।

भगवान कृष्ण की सोलह हजार आठ रानियाँ, पटरानियाँ थी, जो रात–दिन उनके आस–पास रहती थीं। एक बार गुरुपूर्णिमा के दिन उनका मोह भंग करने लिये भगवान कृष्ण उन्हें अपने गुरु दुर्वासा के आश्रम में भेजते हैं कि 'जाइए! आप

गुरुदेव की विभिन्न प्रकार के व्यंजनों से और सब प्रकार से उनकी सेवा करके आइए।" वे समस्त रानियाँ पटरानियाँ, महारानियाँ विभिन्न प्रकार के व्यंजन बनाकर जब जाती हैं। तो यमुना मैया अपने पूरे यौवन में होती है और वे उसको पार करने में असमर्थता व्यक्त करती हैं व पुनः भगवान के पास लौट आती हैं, पूछती हैं, "प्रभु! हम यमुना कैसे पार करें?' भगवान कृष्ण कहते हैं, कि जाइए, आप यमुना मैया से कहिए, 'हे यमुना मैया, अगर कृष्ण महायती है, अगर कृष्ण ने आजीवन किसी स्त्री का स्पर्श तक नहीं किया है, तो हमें रास्ता दे दो।' प्रभु के श्रीमुख से इस कथन को सुनकर वो हृदय में हँस पड़ती हैं, कि यह क्या लीला है? कह रहे हैं कि मैंने स्त्री का स्पर्श तक नहीं किया। वे मन ही मन मुस्कुराती है, संकुचित होती हैं, लेकिन चूंकि यह आदेश था तो वे यमुना के किनारे खड़ी होकर इस कथन को वर्णित करती है, कि "हे यमुना मैया, यदि कृष्ण महायती है, तो हमको रास्ता दे दो।" प्रभु का विशेष चमत्कार देखिए, यमुना मैया का जल वहीं रुक जाता है और बीच में रास्ता बन जाता है। सब नदी पार कर ऋषि दुर्वासा के आश्रम में पहुँच जाती हैं।

ऋषि दुर्वासा सारे थालों, के समस्त व्यंजन खा जाते हैं और उनको वापिस जाने का आदेश देते हैं। पुनः वह यमुना मैया को चढ़ा हुआ देखती हैं, तो वापिस दुर्वासा ऋषि के पास जाती हैं, कि "हे प्रभु! यमुना मैया को कैसे पार करें? कुछ सुझाइए?" दुर्वासा ऋषि कहते हैं, कि यमुना मैया से कहिए, प्रार्थना करिए, कि "हे यमुना मैया! अगर दुर्वासा महाव्रती है, महाउपवासी है तो हमको रास्ता दे दो।" इस कथन को सुनकर सब अचंभित हो जाती हैं, कि प्रसाद तक के लिए तो इन्होने कुछ छोड़ा नहीं है, यह कैसे महाव्रती है? चूंकि गुरु का आदेश था, तो यमुना मैया के पास जाकर जब वे वैसा ही बोलती हैं, तो यमुना मैया उन्हें रास्ता दे देती हैं। वहाँ से लौटने के बाद वे अब गम्भीर रहने लगती हैं, कि अवश्य कोई न कोई विशेष रहस्य है, जो यह अपने आपको महायती और दुर्वासा महाव्रती बताते हैं।

इन्होंने भगवान कृष्ण से यह प्रश्न किया कि इस कथन का रहस्य बताइए। प्रभु उनको रहस्य बताते हैं, कि क्या कोई ऐसा दिन या रात्रि थी, जब मैं तुम में से किसी के पास नहीं था।' कृष्ण एक है और तुम अनेक, एक कृष्ण सबके साथ एक ही समय में कैसे रह सकता है? इस कथन को सुनकर उनका मोह भंग हुआ कि बात तो सही

है कि कोई भी गोपी, सखी, रानी, पटरानी ऐसी नहीं थी जिसके साथ कृष्ण दिन–रात न रहते हों। भगवान कृष्ण ने इसका रहस्य बताया कि **रामावतार में सीता स्वंयवर में जब वह राम रूप में धनुष तोड़ने वाले थे, तो उनकी सुन्दरता देख सीता जी की सखियाँ उन पर मोहित हो गई थीं और वे सखियाँ तुम सब थीं। श्री कृष्ण ने कहा कि "मेरे दर्शन के बाद जब कोई भी, कैसी भी इच्छा करता है, तो मैं उनकी इच्छा अधूरी नहीं छोड़ता हूँ, इसलिये मुझे कृष्णावतार लेना पड़ा और तुम सबको अपनाना पड़ा लेकिन मैंने तो तुम में से किसी को छुआ तक भी नहीं है, यह सब मेरी लीला थी।"**

अब आप बताइये कि प्रभु की लीलाओं पर या हमारे दैनिक जीवन में जो घटनाएं घटती हैं उनमें हमारी बुद्धि का क्या महत्व है, क्या कार्य है? हम अपने नेत्रों से जो देख रहे हैं, कानों से जो सुन रहे हैं, उसके पीछे सत्य क्या है, हम नहीं जानते। जीभ से जो चख रहे हैं और बहुत स्वादिष्ट लग रहा है, हो सकता है वह विष हो। प्रभु लीलाओं से आनन्द लेने का एक मात्र मार्ग है, उसकी हर विधा को, उसके प्रत्येक प्रकरण को हम स्तुति से, प्रशंसा से, भाव से, श्रद्धा से नमन करते रहे। मात्र यही उपाय है और यही एक मार्ग है तभी हम अपने जीवन को आनन्द से बिता सकते हैं।

जहाँ पर आलोचक बुद्धि होगी, जहाँ पर निन्दा होगी, वहीं जीवन का स्वाभाविक आनन्द समाप्त हो जायेगा। हमें इस जीवन का भरपूर आनन्द लेने के लिए प्रशंसक बनना होगा। ईश्वर की स्तुति और प्रशंसा नित्य करते–करते, नित्याध्यासन करते–करते एक अवस्था ऐसी आती है, कि जीवन की हर विधा, हर मोड़ हर परिस्थिति, प्रकृति का प्रत्येक रूप हमको प्रशंसनीय लगने लगता है। जहाँ प्रशंसक बुद्धि होगी व वृत्ति होगी, तो समझिए वहीं जीवन के लिये सकारात्मकता उत्पन्न हो जाती है। जीवन का भरपूर आनन्द लेने वाले लोग हमेशा सकारात्मक होते हैं। जीवन मिला है, जीवन समाप्त हो जायेगा। समय बीतता रहता है, कभी समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। **प्रत्येक क्षण, प्रत्येक पल, प्रत्येक श्वास यदि हम आनन्दपूर्वक बिताना चाहते हैं तो हमें प्रशंसक बनना है।**

ईश्वर को कैसे माने? कैसे सम्पर्क करें? यह हम पहले वर्णन कर चुके हैं, अपनी अल्प बुद्धि से, अपने अनुभव के आधार पर, कि उसको हम किसी नाम–रूप में माने। मानने के बाद उसके साथ एक सम्बन्ध उत्पन्न कर लें, जिस प्रकार कि हमने संसार में सम्बन्ध माने हुए हैं। संसार हमारे भाव की उत्पति है। पूरा विश्व भावमय है। हम अपने एक भाव को यदि ईश्वर समर्पित कर दें, ईश्वर के साथ सम्बन्ध उत्पन्न करने के लिये उस भाव को लगा दें, तो जिस प्रकार संसार की मान्यताएं हमारे लिये बन्धन का हेतु बन जाती है, ठीक उसी प्रकार ईश्वर की मान्यता हमें खोलने का हेतु बन जाएगी। हमें बन्धन मुक्त कर देगी। बड़ा सरल उपाय है, लेकिन इसके लिये हमारी विशुद्ध मान्यता चाहिए, हमारा भाव चाहिए। दुर्भाग्य यह है कि संसार को मानने के लिए हम किसी का परामर्श नहीं लेते, जबकि ईश्वर को मानने के लिए हम भटकते रहते हैं। हम अर्थों का अध्ययन करते हैं। न जाने हम तर्क करने के लिये किस–किस के पास जाते हैं। संशयपूर्वक रहते हए हम, प्रश्न पूछते रहते हैं। इसलिए उस ईश्वरीय सत्ता में जन्म–जन्मान्तरों तक हमारा विश्वास नहीं जम पाता। जिस दिन संसार की तरह उस ईश्वरीय सत्ता में मान्यता व हमारा विश्वास हो जाएगा। उसके साथ हमारा सम्बन्ध हो जाएगा। उस दिन से समझिए हमारा सारा कार्य पूर्ण हो गया।

उस असीम की कोई सीमा नहीं है। हमारी बुद्धि सीमित है और हमारी समस्त शक्तियाँ सीमित हैं। उस असीम की मात्र हम प्रशंसा करते रहें तो इस सीमित बुद्धि से कभी न कभी उस असीम का आभास और अनुभव उसकी महाकृपा से अवश्य हो जाता है। आप पाएंगे जीवन उसकी बहुत विशुद्ध एवं आनन्दमय देन है और उस जीवन को देने से पहले उसने इसके लिए विशेष परिस्थितियों एवं वातावरण पहले से रचा होता है। इस जीवन में हमको जो कुछ इससे प्राप्त होता है उसको हम लेकर ही आते हैं। जैसा कि मैंने 'प्राप्य की प्राप्ति" में वर्णन किया है कि हम अल्प–बुद्धिवश, अज्ञानतावश यह समझते हैं कि मैंने जीवन में अमुक–अमुक भौतिक अथवा आध्यात्मिक पदार्थ पाए हैं, वास्तव में जन्म लेते ही उन पदार्थों को हम सूक्ष्म बीज के रूप में अपने भीतर लेकर आते हैं और समय–समय पर वे वस्तुएँ, वे उपलब्धियाँ हमारे सम्मुख आती रहती हैं। अज्ञानवश हम उनका निमित्त, उनका कारण और

उनकी प्राप्ति का साधन स्वयं को मान लेते हैं। जब यह अज्ञान हमारे भीतर जड़ें जमा लेता है तो हम कष्टों में पड़ जाते हैं, भयभीत हो जाते हैं। वही जीवन जो बैकुण्ठ की तरह आनन्दमय है उसको घोर नरक बना देते हैं।

इसलिए, आइए। उस सर्वशक्तिमान परमात्मा मैं अपनी सम्पूर्ण मान्यता दें उसके साथ सम्बन्ध बनाए। पग–पग, क्षण–क्षण, पल–पल, प्रत्येक श्वास में उसकी प्रशंसा करें और इस जीवन का भरपूर आनन्द लें। प्रशंसा मानसिक एवं ईश्वरीय आनन्द का मूलमंत्र है। यदि हम उस महासत्ता, उस सर्वशक्तिमान परमात्मा की अनुभूति और उसका सामीप्य एवं सान्निध्य पाना चाहते हैं, तो विशुद्ध ईश्वरीय प्रेम, उसकी स्तुति, उसकी मान्यता एवं उसके साथ मोह होना नितान्त आवश्यक है।

।। जय जय श्री राम।।

सम्बन्ध

सम्बन्ध, यह परमतत्व एवं ब्रह्मविद्या से लिया गया विषय है। थोड़ा जटिल है लेकिन अति सरल भी है। सम्बन्ध क्या है? सम्बन्ध का आधार क्या है? आध्यात्मिक एवं भौतिक सम्बन्ध क्या है? इनमें अन्तर क्या है? सम्बन्ध बंधन के एवं निवृत्ति के हेतु कब बनते हैं? ईश्वरीय सम्बन्ध क्या हैं? इत्यादि–इत्यादि। बहुत से ऐसे शीर्षक हैं जो इस विषय की विवेचना में स्वतः ही चर्चित हो जाएंगे।

यदि हम भौतिक रूप से देखे संसार को, स्वयं को, तो हम पाएंगे कि इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तो क्या, कोटि–कोटि ब्रह्माण्डों का एक ही आधार है, एक ही मूल है और वह मूल है **हमारी अपनी देह, हमारा शरीर**। अमुक स्त्री मेरी माँ है, बहिन है, पत्नी है, पुत्री है, शिष्या है, सेविका है। अमुक पुरुष, मेरा अमुक–अमुक सम्बन्धी है। यह धर्म मेरा है, यह स्थान मेरा है, यह विद्या मेरी है, यह समाज मेरा है, यह देश मेरा है, इत्यादि–इत्यादि।

यदि हम अति विचारणीय दृष्टि से सोचें, तो हम पाएंगे कि पूर्ण महाब्रह्माड का आधार हमारी अपनी देह है। यदि इस देह का ज्ञान द्वारा, ध्यान द्वारा और ईश्वर की असीम कृपा द्वारा देह भाव हटा लें तो हम पाएंगे कि समस्त कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड उसी क्षण विलुप्त हो जाते हैं। इस प्रकरण को शास्त्र ने **लययोग** की संज्ञा दी है। महायोगी अपने ध्यान द्वारा, अपनी इस मूल देह का अंत कर देते हैं। इसका विशिष्ट क्रिया कर्म करने के पश्चात् अपने सूक्ष्य मण्डल में प्रवेश कर जाते हैं। इसके बाद वे अपने कारण शरीर का जो ईश्वरीय स्वरूप है, दिग्दर्शन करते हैं, आभास करते हैं, अनुभव करते हैं।

यह जो हमारी मानवीय देह है, हमारी भौतिक देह, यह हमारे समस्त भौतिक संसार का आधार है। **यदि हम इस देह को ही समस्त क्रियाओं का कर्त्ता मान लेते हैं तो हमें इसका भोक्ता बनना पड़ता है।** अच्छा–बुरा, शुभ–अशुभ, यज्ञ–हवन, जप–तप. दान–पुण्य, इत्यादि–इत्यादि जितने प्रकार के कर्म हैं, उन कर्मों का हमें उत्तरदायी एवं उनका जिम्मेवार बनना पड़ता है। इसी प्रकार जब हम समस्त सम्बन्धों को, अपने इस मूल शरीर के साथ समन्वित कर देते हैं, इसके साथ बाँध देते हैं तो इसमे भी हमारी देह उत्तरदायी हो जाती है, यह है

भौतिक जगत और भौतिक जगत के सम्बन्ध–कोई माता, कोई पिता, कोई भाई, कोई बहिन, इत्यादि–इत्यादि, यह सम्बन्ध भौतिक स्तर पर हैं। इसमें हम अपने को एक देह मानकर चलते हैं और उसी में इतना तद्भाव हो जाता है, कि उस देह को ही हम समस्त क्रियाकलापों का, समस्त कर्मों का, धर्मों का, अधर्मों का कर्त्ता मान लेते हैं।

प्रभु की, सद्गुरु की और विशेषतया जब आत्म–कृपा होती है, तो जीव इस स्तर से ऊपर उठ जाता है। जिस प्रकार कि एक व्यक्ति सोया हुआ स्वप्न ले रहा हो। उस स्वप्न में वह महासृष्टि की रचना करता है। भिन्न–भिन्न देहों को रचता है जिसमें उसकी अपनी भी एक देह होती है। वह उस स्वप्न के विभिन्न दृश्य देखता है। उसमें पाप–पुण्य देखता है और जागृति के पश्चात् वह अपने स्वप्न की देह को ही उस स्वप्न में होने वाली क्रियाओं का, पुण्यों का, पापों का अधिष्ठाता बना देता है, जिम्मेवार ठहरा देता है, तो समझिए कि वह भौतिक जगत में, विचर रहा है और अगर वह उन कर्मों का कर्त्ता है, उसको अवश्य भोक्ता बनना पड़ेगा और यहाँ से शुरू होता है कर्मबन्धन।

कर्मबन्धन की शुरूआत है हमारी अपनी भौतिक देह। इस भौतिक देह को अज्ञाननावश हम अपना स्वरूप मान लेते हैं। **इस देह के द्वारा या इस देह के साथ हुई जितनी प्रक्रियाएं हैं उसका उत्तरदायी देह को मान लेते हैं और जितने हमारे सम्बन्ध हैं, उसका मूल हम अपनी इस देह को मान लेते हैं। वह है इस संसार की घोर सांसारिकता में उलझना, फंसना और बंधना।** यह है भौतिक संसार और कर्मवाद जो जीव के लिये बंधन का एक हेतु बन जाता है और वह जन्म–जन्मान्तरों तक उन कर्मों का भुगतान भुगतता रहता है, जो कि एक अविरल प्रक्रिया है। वह भुगतान कभी भी बन्द नहीं होता, कभी शुभ, कभी अशुभ, कभी शुभ–अशुभ का मिश्रण, कभी शुभ अधिक, कभी अशुभ अधिक। यही सबसे बड़ी जानने योग्य बात यह है, कि उन कर्मों का जो फल है, वह इसकी सफलता अथवा असफलता भी नहीं होती। उदाहरण के लिये यदि कोई परीक्षार्थी परीक्षा दे रहा है, उस परीक्षा में उसकी सफलता उस कर्म का फल नहीं है, जो कि अज्ञानतावश मान लेता है। कर्म का फल क्या है? कई बार असफलता के पीछे भी कुछ रहस्य छिपे रहते हैं, जो कि जीवन के लिये शुभ होते हैं और कभी–कभी

सफलता के पीछे भी ऐसी भयानक घटनाएं और ऐसा दुविधापूर्ण परिणाम होता है कि व्यक्ति या विद्यार्थी एक समय पर कहने को मज़बूर हो जाता है, कि मैं यदि सफल न होता तो ज्यादा अच्छा था। धन की प्राप्ति के लिए कार्य करना, देश के लिए, समाज के लिए, स्वयं के लिये कोई भी कार्य करना और उन कार्यों की सफलता को ही कर्म का फल मान लेना बहुत बड़ा कर्म–बन्धन है। इस बन्धन में इतनी उलझन आ जाती है, जिसको यह कभी भी भांप नहीं पाता व इसी उलझन में यह जन्म–जन्मान्तरों तक चलता रहता है।

यह है जीव–सृष्टि यह है संसार और सांसारिक परिदृश्य जन्म–जन्मान्तरों में भटकते–भटकते जब कभी इसके ह्रदय में एक विशेष हूक, एक आर्त्तनाद उठता है, एक जुनून, एक वहशियत जागृत होती है कि सत्य क्या है? इन कर्मों का अंत क्या है? इन सम्बन्धों का अर्थ क्या है? तो विशेष ईश्वर कृपा से और आत्मकृपा से इसको कोई ऐसा सद्गुरु मिल जाता है, जो इस रहस्य का अनुभव कराने की क्षमता रखता है और करवा देता है। वास्तव में हमारी यह मूल देह ही, मात्र हमारी देह नहीं है। **तीन देह है–स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण, जिसका बाह्य प्रगटीकरण है विराट्, हिरण्यगर्भ एवं ईश्वर।** स्थूल और विराट एक दूसरे के प्रगटीकरण है, सूक्ष्म एवं हिरण्यगर्भ भी ऐसे ही एक दूसरे के प्रगटीकरण है और ठीक इसी प्रकार कारण एवं ईश्वर।

जब गुरु कृपा, ईश्वरीय कृपा एवं आत्म–कृपा से जीव को यह अनुभव हो जाता है, कि यह जो माने जाने वाला कर्त्ता है पूरे परिदृश्य में, वह स्वयं में निठल्ला है। जिस प्रकार कि कोई सोया हुआ व्यक्ति स्वप्न देख रहा है। स्वप्न में समस्त प्रक्रियाएं होती हैं, सब कुछ ऐसा होता है जैसा कि जाग्रत अवस्था में होता है। जो स्वप्न का दृष्टा है वह व्यक्ति, एक स्थान पर सो रहा है, तो उस व्यक्ति को आप सूक्ष्म देह मान लीजिए, समझने के लिए। और उस स्वप्न में, उस व्यक्ति ने प्रक्रिया करते जो अपना स्वरूप देखा, वह स्वरूप उसकी स्थूल देह है। अतः जब वह खुल देह से सूक्ष्म देह में प्रवेश करता है, तो प्रक्रिया तो वैसे ही होती है, कार्यकलाप वैसे ही होते हैं लेकिन नित्याध्यासन से, गुरु–कृपा से और आत्म–कृपा से जीव को यह मालूम चल जाता है, कि यह जो वास्तविक क्रिया हो रही है वह मेरी एक ही देह में हो रही

है जो मेरी सूक्ष्म देह है। उसमें मेरी उतनी ही भूमिका है जितनी कि अन्य देहों की। आत्मा एक ही है, आत्मस्वरूप एक ही है और उसी मेरे आत्म–स्वरूप में यह विभिन्न प्रक्रियाएं हो रही हैं, जिसको मैं अज्ञानवश स्वयं कर्त्ता समझ रहा था। मेरी मूल देह मेरी सूक्ष्म देह का मात्र छोटा सा अंग है, जिस प्रकार कि अन्य देह है और वह सूक्ष्म शरीर जो दृष्टा बनकर समस्त स्वप्न को देख रहा है, उसके पीछे वह ईश्वरीय सत्ता, उस दृश्य को लीला की तरह दिखा रही है।

जब नित्याध्यासन करते–करते उसके ह्रदय में यह भाव आत्मसात् हो जाता है तो वह समर्थवान स्थिति को प्राप्त हो जाता है। क्रिया वही होती है, क्रिया–क्षेत्र वही रहता है लेकिन उन क्रियाओं का कर्त्तापन उनमें से समाप्त हो जाता है। इसको कहा है समर्थवान स्थिति, ***'खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर से पहले, खुदा बन्दे से खुद पूछे बता तेरी रजा क्या है?*** जब भाव परिवर्तन हो जाता है, सत्य का दिग्दर्शन हो जाता है। अब वह इस कर्म–बन्धन से विमुक्त हो जाता है। **उसे ज्ञात हो जाता है, कि कर्ता तो कहीं और बैठा हुआ है, करवा कोई और रहा है। वह तो इस दृश्य का मात्र छोटा सा अंग है। जब यह भाव उसके ह्रदय में समाहित हो जाता है, तो वह इस कर्म–बंधन से छूट जाता है। एक ही आर्त्तनाद होती है उसकी अपने इष्ट के सम्मुख 'हे प्रभु! मैंने कुछ नहीं किया, मुझे कर्म–बन्धन से मुक्त कर दीजिए। मैंने शुभ–अशुभ, अच्छा–बुरा, पाप–पुण्य, यज्ञ–हवन, जप–तप, दान–पुण्य कुछ नहीं किया।' यदि जाने–अनजाने में कुछ किया है, तो मुझे अभी क्षमा कर दीजिए और हे महासमर्थवान! अति बलवान! मुझे बल–बुद्धि–विद्याहीन, असमर्थ और अशक्त कर दीजिए, ताकि मैं कुछ करने योग्य ही न रहूँ। जो कुछ भी प्रभु आप करवाना चाहते हैं अपनी सामर्थ्य से, अपनी शक्ति से, अपनी बलबुद्धि और विद्या से, आप स्वयं करवाइए! मुझे आप अपने इस क्रिया क्षेत्र का, इस कर्म–भूमि का आनन्द लेने दीजिए। प्रभु! आप आनन्द स्वरूप हैं, आप सच्चिदानन्द हैं! मैं आपका अंश हूँ, जिस प्रकार यह विभिन्न प्रक्रियाएं, विभिन्न लीलाएं आप आनन्दपूर्वक दिखा रहे हैं और देख रहे हैं उसी प्रकार मैं भी देखूँ!**

इसके लिए अकर्त्ता भाव आवश्यक है, अति जहाँ भी जीव को अपनी बल, बुद्धि, विद्या का, सूक्ष्मतर अभिमान भी रहता है तो वह इस कर्म–बन्धन से कभी भी मुक्त नहीं हो सकता। इन सम्बन्धों के विवाद से वह कभी भी अलग नहीं हो सकता। कभी वह स्वयं कर्ता बनता है, कभी कर्त्तव्य का बोध हो जाता है इसको। इन कर्तव्यों का व कर्मों का बोझा ढोने–ढोते जीवन समाप्त हो जाता है। पुनः अन्य जीवन शुरु होता है और पुनः–पुनः वैसे से ही कुछ कर्मों का, कर्त्तव्यों का बोझा ढोते हुए यह आजीवन चलता रहता है। अन्ततः थक जाता है। जीवन समाप्त हो जाता है और फिर वही काल–चक्र। यह सम्बन्ध, यह अधिकार, यह कर्त्तव्य अन्ततः उसको एक पशुवत् जीवन जीने के लिए बाध्य कर देते हैं। इष्ट–कृपा, गुरु–कृपा और सबसे बड़ी आत्म–कृपा उस समय होती है जब इसके हृदय में एक आर्त्तनाद उठती है कि यह सब क्या है?

अब प्रश्न यह उठता है कि **आध्यात्मिक सम्बन्ध क्या हैं?** जीव को यह आभास हो जाता है कि यह समस्त एक स्वप्न सृष्टि चल रही है और इस सृष्टि का मैं मात्र एक अंग हूँ। इस सृष्टि का नियंत्रण कर रही है, मात्र एक महाशक्ति। वही विभिन्न लीलाएं कर रही है। मैं कभी कुछ बनता हूँ, कभी कुछ, कभी किसी संसार में विचरता हूँ, कभी किसी में। जब इसको इस स्थूल, सूक्ष्म और कारण का दिग्दर्शन हो जाता है, तो इसके जितने भी सम्बन्ध है, यद्यपि इनका आधारभूत यह देह ही होती है, इसका नज़रिया बदल जाता है और वही सम्बन्ध इसके आध्यात्मिक सम्बन्ध हो जाते हैं, क्योंकि आत्मा एक ही है। इसका एक ही स्थूल शरीर है, जिसमें समस्त कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड विचर रहे हैं अर्थात् इस महाज्ञान की अनुभूति न होने तक वह स्वयं को ही, सब कर्मों का कर्त्ता और सम्बन्धों का आधारभूत मानता है। लेकिन जब सद्गुरु की कृपा से यह सत्य पल्ले पड़ जाता है, कि इस समस्त संसार के कर्मों का, सम्बन्धों का आधारभूत उसका सूक्ष्म शरीर और उसके सूक्ष्म शरीर में एक आत्मा है जो कि ईश्वरीय अंश है तो यह समर्थवान हो जाता है। कर्मों के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। किसी भी कर्म का कर्तापन इसमें से समाप्त हो जाता है अन्यथा संचित–कर्म, वर्तमान–कर्म व आगामी–कर्म इनके असंख्य बीजों को यह जन्म–जन्मान्तरों में निरर्थक ढोता रहता है। उन सम्बन्धों को पालता रहता है कि

यह मेरे पूर्व जन्म के सम्बन्ध है, यह मेरे आगामी जन्म के सम्बन्ध है, इत्यादि। जब ज्ञान की अग्नि भड़क जाती है, उस समय जीव के असंख्य जन्मों के आगामी, संचित और वर्तमान कर्मों के बीज नष्ट हो जाते हैं, जल जाते हैं। परमेश्वर की कृपा हो जाती है। वह उसी समय स्वतन्त्र हो जाता है।

जब जीव उस ईश्वरीय सत्ता के सन्मुख हो जाता है, उसकी ओर मुख कर लेता है, जन्म–जन्मान्तरों से थका सा होने के कारण, कर्मों से और सम्बन्धों से तो वह तुरन्त इनसे मुक्त हो जाता है चूंकि वे **सम्बन्ध से** होते हैं, **बन्धन से** होते हैं और जीव अज्ञानवश अपने आपको बँधा हुआ महसूस करता रहता है। ***'बिनु सत्संग विवेक न होई', 'बिनु हरिकृपा मिलहि नहि संता।'*** संत और सत्संग का मिलन इसका जन्म–जन्मान्तरों का बन्धन काट देता है और यह स्वयं को बहुत प्रफुल्लित, हर्षित, उल्लसित और हल्का–सा महसूस करने लगता है। एक दिव्य स्थिति हो जाती है देह की। वास्तव में पूछिए, तो **यह भौतिक देह से दिव्य देह में प्रवेश कर जाता है। यह है सत्संग का महात्म्य।** सम्बन्धों की रचना के पीछे उसकी एक मानसिकता, एक मान्यता छिपी रहती है। प्रत्येक सम्बन्ध के पीछे एक मान्यता होती है। जन्म–जन्मान्तरों में जीव अपनी उसी मान्यता के आधार पर अपना संसार बनाता रहता है। असंख्य सम्बन्धों में मान्यता दे देकर उनकी रचना करता है और अन्ततः उनसे बंध जाता है। **उनकी निवृत्ति के लिये जब यह ईश्वर के सम्मुख हो जाता है, तो अपनी समस्त मान्यता, महामान्यता वह ईश्वर में दे देता है** और जब वह मान्यता अति दृढ हो जाती है तो सांसारिक प्रत्येक मान्यता इसकी अपने में ढीली पड़ जाती है। इसका मोह, विशुद्ध प्रेम में परिवर्तित हो जाता है और उस **महान ईश्वरीय सत्ता के साथ इसका मोह हो जाता है, महामोह। उस महासत्ता के साथ महामोह और महामान्यता के कारण संसार से, स्वयं से, इसकी मान्यता हट जाती है,** फिर यह संसार में विचरण करता है लेकिन एक विशेष आनन्दमय स्थिति में इसका विचरण होता है और **प्रत्येक कार्य इसको लीला लगती है, यह असंग होता है, ईश्वर की तरह असंग।**

विशेष नित्याध्यासन, ईश्वर–कृपा, आत्म–कृपा और सदगुरु की कृपा से जब

यह रहस्य खुलता है, तो सारे सम्बन्ध ढीले पड़ जाते हैं। एक परम सम्बन्ध जो उसके आत्मस्वरूप के साथ, जो इसके ईश्वर के साथ है जीव और ब्रह्म का, वह सम्बन्ध अति दृढ़ हो जाता है। जितने भी सांसारिक सम्बन्ध हैं, सब बंधन का हेतु हैं। मान्यताओं पर आधारित हैं। कष्टों का हेतु हैं। जितने आध्यात्मिक सम्बन्ध हैं, उस परम रहस्य के खुलने के बाद वे समस्त, आनन्द का हेतु बन जाते हैं, क्योंकि वे मात्र अपनी एक लीला होती है, उसमें स्वयं जीव की वही भूमिका होती है, जो कि अन्य लोगों की उस लीला में, उस प्रक्रिया में उसके साथ।

विषय थोड़ा जटिल है, सम्पूर्ण तत्व है और ब्रह्मविद्या का यह अंश है। इन सम्बन्धों का आधार यद्यपि हमारी यह भौतिक देह ही है, इस परम रहस्य के खुलने के बाद इस देह का रूपान्तर हो जाता है। यह भौतिक देह, दिव्य देह में परिणत हो जाती है और दिव्य देह में परिणत होने के बाद जब वह भौतिक सम्बन्धों, अधिकारों और कर्त्तव्यों के बन्धन से मुक्त हो जाता है तो यह दिव्य परिवर्तन इसको हर्ष, उल्लास, अभय, आरोग्यता, सर्व–सम्पन्नता, शक्ति, भक्ति, मस्ती, साहस, उत्साह, ईश्वरीय मोह और ईश्वरीय मोह के अश्रु और परम ईश्वरीय कृपा एवं ईश्वरीय आनन्द के महासागर में ओत–प्रोत कर देता है। अन्यथा यह जीव सृष्टि में उस ईश्वरीय सत्ता से विमुख होकर और स्वयं को समस्त सम्बन्धों का आधार मानकर, कारण मानकर, उत्तरदायी मानकर, बन्धन में बंधा सा हुआ, भय से, त्रास से, विक्षेप से, मल से, आवरण से ढका रहता है और जन्म–जन्मान्तरों तक इसी कष्ट को और इन्हीं कर्तव्यों के बोझ को झेलता रहता है। उस परम सत्ता, उस ईश्वरीय सत्ता ने जो स्वयं में आनन्द है, आनन्द स्वरूप है, ज्ञान–स्वरूप है और स्वयं में महाशक्ति है, अति सौन्दर्यवान, ऐश्वर्यवान, त्यागवान है, ऐसे परमपिता परमात्मा ने इस दृष्टि की रचना भी आनन्द में ही की है लेकिन दुर्भाग्यवश जीव इस सृष्टि में आकर अज्ञानवश, इस सारे क्रिया–कलाप का कर्त्ता–धर्त्ता स्वयं को मान लेता है। स्वयं की मान्यता और उस मान्यता पर आधारित समस्त जगत, उसका पालन–पोषण करने वाला यह स्वयं को मान लेता है और अन्ततः यह कर्म–बन्धन, सम्बन्ध–बन्धन में पड़ जाता है।

जब हम अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानते हैं, तो सम्बन्ध और देह तो वही रहती है, भौतिक स्वरूप भी वही रहता है, लेकिन उसके पीछे जो दृष्टिकोण है,

उसके पीछे जो रहस्य है, जो सत्य है, वह जब सम्मुख आता है तो हमारी दृष्टि ऊँची उठ जाती है और हम कर्म–बन्धन से और सम्बन्ध–बन्धन से ऊपर उठ जाते हैं। **इस बन्धन की मुक्ति जो कि वास्तव में बन्धन नहीं होता, बन्धन सा होता है** और जन्म–जन्मान्तरों से हम इस बन्धन–से में जकड़े रहते हैं और इसके छूटने के बाद इतनी आनन्दमय स्थिति हो जाती है, कि हम स्वयं को, उस परमपिता परमात्मा के सामीप्य में पाते हैं और उसके बाद हमारे द्वारा किए गए जितने भी कर्म हैं, वे निष्काम कर्म होते हैं। **निष्काम कर्म योग वह है, कि जहाँ पर हमारे द्वारा किए गए कर्म हमें किये हुए नहीं, बल्कि ऐसा लगता है जैसा कि कुछ हो गया हो।** तो हम न तो उन कर्मों से बंधते है और न ही उनके फल से। कर्म, मात्र कर्म के लिये कर्म फल तथा कर्त्ताभाव के अभाव के कारण हमें उनसे कोई भी बंधन नहीं होता, वे मात्र लीला होते हैं। जैसे कि ईश्वर स्वयं अवतार लेकर विभिन्न प्रकार की लीलाएं करते हैं जो कि आलोचना एवं संशय से विमुक्त होती हैं। **लीलाओं का आधार लीला ही है, असंगता है।**

देह धारण करने के बाद जो कुछ भी किया जाता है, **वह ज्ञान–दृष्टि में एक लीला है लेकिन अज्ञान दृष्टि में वह कर्म–बन्धन है**। इन लीला और बन्धन के अनुसार हमारे सम्बन्धों का बन्धन और सम्बन्धों के बन्धन से मुक्ति का रहस्य इसके समानान्तर चलता है। यदि अति सूक्ष्म दृष्टि से यही विचार किया जाए जैसा कि मैं अभी उल्लेख कर चुका हूँ कि जहाँ भी कोई द्वैत में विचरता है कि मैं अमुक हूँ, वह मेरे से अलग हैं, तो **उस द्वैतभाव में बंधन है–कर्म का, सम्बन्ध का और कर्त्तव्यों का।** उसके फलस्वरूप उसके फल का भोक्ता बनना और तदानुसार जन्म–जन्मान्तरों तक सुखों–दुखों इत्यादि में विचरना पड़ता है। जब उसकी दृष्टि उठती है और समस्त महाब्रह्माण्ड का एक ही कर्त्ता उसको नज़र आने लगता है, एक ही सत्ता इसका कारण शरीर और उसका दिग्दर्शक मात्र, इसका सूक्ष्म शरीर हो जाता है तो **समस्त प्रक्रिया अद्वैत में हो जाती है। द्वैत से अद्वैत में प्रवेश करने के बाद यह सांसारिक सम्बन्धों से ऊपर उठ जाता है और वही सम्बन्ध इसके आध्यात्मिक सम्बन्ध बन जाते हैं। यह आध्यात्मिक सम्बन्ध इसकी आत्मा से रचित हैं।** नित्याध्यासन करते–करते

अति इष्ट कृपा से जब इस रहस्य का ज्ञान हो जाता है, कि एक ही आत्मस्वरूप से सारी सृष्टि का बल्कि करोड़ों ब्रह्माण्डों का उत्पादन, विचरण और विलय होता है तो इसकी सृष्टि में जितने भी सम्बन्ध हैं, वे द्वैत में होते हुए अद्वैत में हो जाते हैं। **यह द्वैत और अद्वैत, बन्धन और मुक्ति की आधार–शिला है। जहाँ यह द्वैत में विचरता है, वहाँ यह जीव–कोटि में आ जाता है और जहाँ पर इसका यह द्वैत, अद्वैत में परिणत हो जाता है, जो कि परम सत्य है कि यह सारी सृष्टि एक ही आत्मा से, एक ही देह से जिसे हमने सूक्ष्म देह की संज्ञा दी है, उसी से उत्पन्न हुई है तो यह कर्म–बन्धन से विमुक्त हो जाता है और यह अद्वैत से द्वैत में विचरता है, लीला करता है। कर्म–बन्धन से इसका कोई सरोकार नही रहता, मुक्त–आत्मा हो जाता है, इसको कहा है जीवन–मुक्ति।**

सांसारिक सम्बन्धों में बन्धन हैं और आध्यात्मिक सम्बन्धों में मुक्ति है। सम्बन्धों का रूप नहीं बदलता, देह नहीं बदलती, सारी प्रक्रियाएं वैसे ही होती हैं। लेकिन उसके पीछे जो रहस्य है, जब उसका दिग्दर्शन हो जाता है, वह रहस्य खुल जाता है। यह ज्ञात हो जाता है, कि सारे सम्बन्ध मेरे उस परमस्वरूप से, उस परमात्मा, जो मेरा कारण शरीर है और उस कारण के बाद जो मेरा सूक्ष्म शरीर है, उसी सूक्ष्म शरीर की समस्त रचना है, जिसका मैं एक अंश मात्र हूँ। इस परम रहस्य को समझने के बाद, अनुभव करने के बाद इसके आध्यात्मिक सम्बन्ध जन्म–जन्मान्तरों में अलग–अलग नाम, रूपों में, अलग–अलग सम्बन्धों में इसको आनन्दित करते रहते हैं।

यहाँ यह बात परम उल्लेखनीय है कि आध्यात्मिक सम्बन्धों का कोई एक विशेष नाम अथवा रूप नहीं होता। जिस प्रकार कि किसी रंगमच पर नाटक में अथवा किसी चलचित्र में एक ही अभिनेता अथवा अभिनेत्री को समय, देश, परिस्थिति एवं संवाद के अनुसार अलग–अलग नाम और रूप दे दिया जाता है, अलग–अलग भूमिका दे दी जाती है, उसी प्रकार आध्यात्मिक सम्बन्धों में वे सम्बन्ध भी विभिन्न नाम–रूपों में और विभिन्न सम्बन्धों में विचरते हैं और प्रत्येक सम्बन्ध में वह उसका आनन्द लेता है। उसको न कोई बन्धन होता है और न उनका कोई इसके ऊपर कर्त्तव्य बोध होता

है अर्थात् जितने आध्यात्मिक सम्बन्ध हैं, चूंकि वे एक ही आत्मा के विभिन्न रूप हैं इसलिये उनके साथ न कोई ग्लानि होती है, न कोई बन्धन होता है। जबकि भौतिक सम्बन्धों में मोह, ग्लानि, बन्धन, कर्त्तव्य न जाने कितने–कितने विकार अर्न्तनिहित होते हैं। आध्यात्मिक जगत और भौतिक जगत का प्रारूप यद्यपि एक ही है, लेकिन उनकी धारणाएं अलग–अलग हैं। यह जीव की गतियाँ हैं जो उसको सांसारिक अथवा आध्यात्मिक बना देती हैं। उसी के अनुसार वह बन्धन–युक्त होकर जन्म–जन्मातरों में बार–बार आता रहता है। बन्धन–युक्त होकर वह कष्टों को झेलता है व **बन्धन–मुक्त होकर इस जीवन–रूपी वीणा की ध्वनि का आनन्द लेता है, रस लेता है, भोग लेता है। जीवन उसके लिये एक सुरा की तरह होता है, जिसका पान उसके एक–एक पल, एक–एक क्षण को मदमस्त कर देता है।** सम्पूर्ण जीवन को वह हर रोज़, नित्य अपने इष्ट के चरणों में समर्पित कर देता है और उस समर्पण के बाद वह नित्य उससे अपने दिव्य जीवन की आकांक्षा करता है, इस संज्ञा को शास्त्रकारों ने नाम दिया है **नित्य–नूतन।**

वह प्रारब्ध से मुक्त हो जाता है। कर्मों से, कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है। प्रारब्ध जीव–कोटि में, अवश्य होता है लेकिन इस बन्धन से मुक्ति के बाद वह प्रारब्ध की संज्ञा से भी मुक्त हो जाता है। यदि वास्तव में देखा जाए, तो यह मानव देह पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश इन पांच महाभूतों से, उस ईश्वरीय सत्ता आत्मा के प्रवेश से निर्मित है जिसका संचालन, पालन–पोषण और सब कुछ वह आत्मिक शक्ति करती है। इन से निर्मित यह देह जो कि स्वयं में जड़ है, इसका कोई प्रारब्ध हो ही नहीं सकता और **इसकी जो अंतरात्मा है, वह ईश्वरीय सत्ता है उसका स्वयं में कोई प्रारब्ध हो नहीं सकता, तो प्रारब्ध होता है–इस जड़ अथवा चेतन से जो ग्रन्थि उत्पन्न होती है उसका।** वह अज्ञानता में उस ग्रन्थि में जन्मों–जन्मान्तरों तक विचरता रहता है इसलिये यह प्रारब्ध के बोध से ग्रसित रहता है।

भौतिक सम्बन्धों का आधार मानव देह है और मानव देह अपने में परम अस्थिर है। जीवन के प्रति–पल इसमे एक अथवा अनेक परिवर्तन क्रमशः होते रहते हैं। कभी–कभी तो यह परिवर्तन अत्यधिक तीव्र गति से और कभी–कभी धीमी गति से होते हैं। इस प्रकार इन परिवर्तनों का सिलसिला लगातार आजीवन जारी रहता है।

जिन्हें हम भौतिक सम्बन्ध कहते हैं व जिनका आधारभूत देह है जो स्वयं में अस्थिर है तो वे सम्बन्ध स्थिर कैसे रह सकते हैं? **यदि किसी भव्य भवन की नींव स्वयं में अस्थिर हो तो वह भवन भी अस्थिरता की आशंका में ही निर्मित होगा और उसका अन्त भी अस्थिरता में ही होगा।** इस प्रकार जो भौतिक सम्बन्ध, देह पर आधारित हैं, वे देह की तरह ही अस्थिर होते हैं, लेकिन हम यह जानते हुए भी इस अस्थिरता में स्थिरता की आकांक्षा करते हैं और कभी–कभी तो महाअकांक्षा भी कर बैठते हैं जो हमारे विक्षेप का हेतु बनती है।

जो आध्यात्मिक सम्बन्ध हैं, भले ही उनका प्रगटीकरण इसी देह के द्वारा ही होता है, चूंकि वे आत्मा पर आधारित रहते हैं और आत्मा से ही सम्बन्धित रहते हैं इसलिये वे स्थिर सम्बन्ध होते हैं। उन सम्बन्धों का रूप परिवर्तित हो सकता है लेकिन वे सम्बन्ध अपने में आत्मा की नाईं स्थिर होते हैं। उदाहरण के लिए जब महामानव अवतरित होकर पृथ्वी पर आते हैं, जैसे– भगवान विष्णु ने जब श्री राम का अवतार लिया तो शेषनाग जो उनकी शय्या है, वे भाई लक्षमण के रूप में आए। अन्य देवता, व सेवक विभिन्न प्रकार के सम्बन्धों के रूप में श्री विष्णु भगवान के साथ इस पृथ्वी पर अवतरित हुए। लक्ष्मी मैया उनकी धर्मपत्नी, माता–सीता के रूप में जनकपुरी में अवतरित हुईं। इसी प्रकार कृष्णावतार में भगवान श्री यम स्वयं श्री कृष्ण के रूप में अवतरित हुए और माता–सीता, रुक्मणी जी के रूप में व लक्षमण जी बलराम भैया के रूप में इत्यादि–इत्यादि। इन सम्बन्धों का नाम–रूप, यहाँ तक कि सम्बन्धों का भाव बदल जाता है, सम्बन्धों का प्रकार बदल जाता है लेकिन वे स्थिर सम्बन्ध होते हैं, **उनमें जो मूल विशेषता रहती है, वह है सम्बन्ध।**

इन आध्यात्मिक सम्बन्धों का रूप क्या है? प्रकार क्या है? इनकी पहचान क्या है? जो आध्यात्मिक सम्बन्ध होते हैं वह खून का रिश्ता हो भी सकते हैं और नहीं भी। जीवन के किसी विशेष मोड़ पर कुछ ऐसे व्यक्तित्व आपको मिल जाते हैं जिन्हें देखते ही एक विशेष प्रकार की भीतर से प्रसन्नता एवं लगाव उत्पन्न हो जाता है। **उनसे मिलते ही एक अपनत्व का भाव जागृत हो जाता है। ऐसे सम्बन्ध अपनी देह के अंग की तरह ही हमेशा साथ रहते हैं, भले ही भौतिक रूप में इनसे मिलन कई–कई वर्षों बाद हो, कई–कई जन्मों बाद हो।**

शायद जो प्राचीन पौराणिक कथाओं में दशानन, सहस्त्रबाहू इत्यादि की परिकल्पनाओं का वर्णन है, वे इन सम्बन्धों की अगाधता का द्योतक हैं अर्थात् किसी व्यक्ति के दस सम्बन्ध ऐसे हैं, उनमें इतना तालमेल एवं घनिष्ठता होती है, कि वह दसों सिर ऐसा लगता है, मानो एक ही व्यक्ति के हों। किन्हीं बीस व्यक्तियों का आपस में इतना समन्वय और इतना तालमेल है, कि उनकी समस्त बाजूओं ऐसा लगता है मानो एक ही व्यक्ति की हों, उन समस्त का बल एक ही में संगठित एवं एकत्रित हो जाता है।

आध्यात्मिक सम्बन्धों को यदि हम गहनता से विचार करें, तो जो व्यक्ति एवं व्यक्तित्व किसी के साथ आध्यात्मिक रूप से जुड़े रहते हैं, तो उनकी सब प्रकार की शक्तियां, दैहिक, बौद्धिक एवं मानसिक कई गुना होकर उस एक व्यक्ति में प्रकट होने लगती हैं। आध्यात्मिक सम्बन्धों में सबसे बड़ी पहचान यही है, उन सब देहों का समन्वय एक ही देह में बड़ी शीघ्रता से हो जाता है और उनसे मिलकर एक विशेष प्रसन्नता की अनुभूति होती है। वे सदा हितकारी होते हैं। उनके साथ कोई औपचारिकता नहीं होती। जबकि भौतिक सम्बन्ध अक्सर कष्टमय बन जाते हैं, उनमें औपचारिकताएं बहुत होती हैं। इस प्रकार भौतिक एवं आध्यात्मिक सम्बन्धों में यह एक प्राकृतिक भिन्नता अक्सर पायी जाती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि हमारी सृष्टि, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड क्या कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड, उनका सम्पूर्ण अस्तित्व केवल हमारी देह के कारण है, तो हमारी देह का हमसे क्या रिश्ता है? क्या सम्बन्ध है? यह बड़ा विचारणीय प्रश्न है। बहुन गोपनीय प्रश्न है, कि जिस देह के कारण असंख्य देहों का सम्बन्ध जीवन में शनैः शनैः उत्पन्न होता है, सम्बन्ध जिसके कारण बिछुड़ते हैं, जिनके कारण प्रसन्नता होती है, विषाद होता है, खेद होता है, उस देह का हमारे साथ क्या सम्बन्ध है? उस देह का अस्तित्व क्या है? कारण क्या है उस देह का? देह का प्रारूप क्या है? आवश्यकता क्या है? यह सब बहुत रहस्यमय प्रश्न है। इस देह को धारण करने की आवश्यकता ही क्यों पड़ी? अति विचारणीय विषय है। यदि अति सूक्ष्मता से विचार करें तो इष्ट कृपा से इसको समझने के लिये एकाग्रता की आवश्यता है, कि मानव देह की आवश्यकता क्यों पड़ी जीवात्मा को? जबकि यह बहुत क्षणिक है, क्षणभंगुर है, आनी–जानी है,

परिवर्तनशील है, हर क्षण इसमें परिवर्तन होना है, रोगों से, दोषों से ग्रसित हो जाती है, कर्त्ता बनकर कर्म–बन्धन से युक्त हो जाती है और जन्म–जन्मान्तरों तक जीव इस कर्म–बन्धन का बोझा सा ढोता रहता है और कभी–कभी तो अपने उस वास्तविक स्वरूप, अपने उस सच्चिदानन्द स्वरूप, परमसत्ता से विमुख हो जाता है और भटकता रहता है।

वास्तव में क्या अर्थ होगा इस देह को धारण करने का, मानव देह को जिसका वर्णन मैं अपने अनुभव के आधार पर विस्तारपूर्वक पहले कर चुका हूँ। ईश्वर ने मानव देह और मानव मस्तिष्क का अविष्कार शायद इसलिए किया होगा कि वह ईश्वर के द्वारा निर्मित इस विहंगम, उत्कृष्ट सृष्टि की प्रशंसा करे, लेकिन दुर्भाग्य, मानव ने इस बुद्धि का दुरुपयोग किया। इस बुद्धि को प्राप्य की प्राप्ति में लगा दिया। जब ईश्वर ने इसका प्रारब्ध रचा तो इसके सम्पूर्ण जीवन का लेखा–जोखा स्वयं पहले ही तैयार कर दिया था। इसके लिए सब कुछ प्रबन्ध कर दिया था, श्वास लेने के लिए वायु चाहिए अतः परमात्मा ने बहुत बड़ा ब्रह्माण्ड रचा और उसे हवा से ठसाठस भर दिया। इसके बाद जल की आवश्यकता पड़ती है, तो असंख्य जल के स्त्रोत रच दिए ताकि जल के बिना मानव की देह न चली जाए। उसके पश्चात् असंख्य वनस्पतियाँ रची, जो कि उसके उदर की जठराग्नि को शान्त करने के लिए महाप्राप्त थीं। लेकिन एक मानव ने दूसरे मानव के प्रति प्रतिशोध, ईर्ष्या, द्वेष, छीना–झपटी, मारधाड़, लड़ाई–झगड़े और एक दूसरे के अधिकारी का हनन, न जाने किन–किन कुकृत्यों में इस बुद्धि का दुरुपयोग किया और अन्ततः उस परमसत्ता से विमुख हो गया। क्लेशों और विक्षेपों में पड़कर मलिन हो गया, आवृत्त हो गया। आवरण से इतना ढक गया, इतना धूमिल हो गया, कि वह अपनी ईश्वरीय सत्ता को खो बैठा और जीव कोटि में आ गया। इस प्रकार जन्म–जन्मान्तरों तक वह भय से, विक्षेप से और न जाने कैसे–कैसे विकारों से ग्रसित होकर अपने सच्चिदानन्दस्वरूप से बहुत दूर हो गया और परे हट गया।

प्राप्य की प्राप्ति का मेरा अर्थ है कि जो–जो मानव को इस जीवन में प्राप्तियाँ होती हैं, उपलब्धियाँ होती हैं, जिन्हें अज्ञानवश हम मान लेते हैं कि यह उपलब्धियाँ हमारे पुरुषार्थ के कारण है, यह एक बहुत बड़ी भूल है। सर्वप्रथम हमको पुरुषार्थ का

उचित अर्थ समझना अति आवश्यक है। पुरुष है मेरी चेतन सत्ता, मेरा सच्चिदानन्द स्वरूप, मेरा ईश्वरीय भाव, मैं कौन हूँ? कहीं से आया हूँ? कहाँ जाऊंगा? मेरी चेतन सत्ता का अस्तित्व क्या है? मेरा अस्तित्व क्या है? मेरा उसके साथ सम्बन्ध क्या है? योग क्या है? वियोग क्या है? इन सबको समझना और समझने का प्रयत्न करना, इसका मनन करना, चिंतन करना, **यही है पुरुषार्थ।** इसके अतिरिक्त पुरुषार्थ का अन्य कोई अर्थ नहीं है। परन्तु दुर्भाग्यवश मानव ने अपनी बुद्धि का दुरुपयोग करके इस पुरुषार्थ के अर्थ को ही बिगाड़ दिया। पुरुषार्थ के अर्थ को अपने हिसाब से लगाकर मानव अपना जीवन व्यतीत करता है और कष्टों में चला जाता है।

मानव एक सामाजिक जीव है। जितने सम्बन्धों का निर्माण होता है उनका अर्थ होता है, कि जीवन को अति सौन्दर्यमय और माधुर्यमय बनाया जाए, मिल–बैठकर ईश्वर चिंतन करते हुए, भजन करते हुए, सत्संग करते हुए और एक दूसरे के कष्टों को अपना कष्ट समझकर उसमें शामिल होना, एक दूसरे के सुखों में सुखी होना ताकि वे सुख और कई गुणा बढ़ जाएं। इसलिए एक मानव ने अपना समाज रचा होगा या ईश्वर ने मानव को समाज दिया होगा, सम्बन्धवाद का एक नज़रिया दिया होगा, ताकि मानव स्वयं को अकेला महसूस न करे। सबसे बड़ी उत्कृष्ट रचना उसके भीतर की, उसके समाज की, समस्त सम्बन्धों की, एक ही मानव के भीतर अंकित कर दी 'जो ब्रह्माण्डे सो पिंडे'। वे सम्बन्ध समय–समय पर उसके बाद जगत में स्वतः प्रकट होने लगे लेकिन अति अज्ञानतावश उसने उन सम्बन्धों को भी स्वयं के द्वारा निर्मित घोषित किया। जो स्वतः भाव से उत्पन्न सम्बन्ध थे, उन सम्बन्धों में भी अपनी बुद्धि की चतुराई का प्रयोग करके, उनको हृदय या भाव से नकार कर बौद्धिक सम्बन्धों में परिवर्तित कर दिया अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए। वे सम्बन्ध धीरे–धीरे कटुता में परिवर्तित हो गए और जीवन का जो सम्बन्धों द्वारा माधुर्य और सरसता का अनुभव था, वो कटुता में परिवर्तित हो गया। जीवन और अधिक बोझ और कंटकाकीर्ण सा लगने लगता है, यह है बुद्धि का दुरुपयोग जो मानव ने किया।

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है जो मैं आपके सम्मुख रख भी चुका हूँ कि जीवकोटि में आकर जो सम्बन्ध, मात्र भौतिक होते हैं और भावनाओं से अधिक जहाँ बौद्धिक बाहुल्य होता है, वे सम्बन्ध देह की तरह ही बहुत क्षणिक, नाशवान एवं

कष्टवान होते हैं। जबकि आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थिर होते हैं, जन्म–जन्मान्तरों तक, युग–युगान्तरों तक चलते हैं, उनमें माधुर्य होता है, सरसता होती है, विलक्षणता होती है, एकात्मकता, प्रेम, श्रद्धा और एकरसता का इतना बाहुल्य होता है कि समस्त सम्बन्ध एक ही देह में भास होने लगते हैं। ऐसा महसूस होता है समस्त भौतिक आध्यात्मिक, बौद्धिक एवं शारीरिक शक्तियाँ एक ही देह में प्रकट हो रही हों। उसका एक विशेष नशा होता है, उसका एक विशेष आनन्द रहता है, जबकि भौतिक सम्बन्धों में ऐसा कुछ नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत ही होता है।

जीवन का लक्ष्य क्या है? जैसा कि इस समस्त विवेचना के बाद कुछ विचार जो स्वतः ही उभर कर आते हैं, वे जीवन के लक्ष्य को स्वतः ही उद्घोषित करते हैं। प्रकट करते हैं कि हम अपनी समस्त शक्तियों का उपयोग करें और उस महान रचयिता, सृजनकर्त्ता, पालनकर्त्ता और संहारकर्त्ता ईश्वर और उसकी विभिन्न विधाओं, विभिन्न शक्तियों और विभिन्न गुणों का गान करते हुए उसकी इस महान कृति को, विश्व को, कोटि–कोटि ब्रह्माण्डों को नमन करें। उसकी माया शक्ति को नमन करें, उसकी मानसिक शक्ति को, मन को नमन करें और जीवन के हर पल, हर क्षण हर पहलू में उसकी सान्निध्यता और समीपता में रहें। यदि हम शास्त्रीय विचार द्वारा मनन करें, तो ब्रह्म का साया ही माया है। माया ब्रह्म का साया है और ठीक ब्रह्म के पीछे चलती है। जितनी भी माया एश्वं मायिक शक्तियां हैं, वे ब्रह्म की चेरी हैं और उसके पीछे उसके साये की तरह चलती हैं, ब्रह्म के साथ जुड़ी रहती हैं, अनुसरण करती हैं ब्रह्म का। जीव यदि दुर्भाग्यवश माया का अनुसरण करता है, तो ब्रह्म विलुप्त हो जाता है।

भगवान राम वन में जा रहे हैं। प्रभु श्री, के एकदम पीछे माता–सीता हैं। प्रभु ही राम ब्रह्म का द्योतक है, जबकि माता सीता, माया की। वह ठीक ब्रह्म के पीछे हैं और लक्ष्मण जो जीव का द्योतक हैं, वह माया के बिलकुल ठीक पीछे नहीं है, थोड़ा हटकर है, ताकि वह प्रभु श्री के और माया के, एक ही साथ दर्शन कर सकें। यह बड़ा रहस्यमय एवं विचारणीय प्रसंग है। जीव प्रभु की माया में इतना लिप्त हो जाता है, कि उसके हृदय से उस सर्वशक्तिमान परमात्मा का पूर्णतया लोप हो जाता है लेकिन यदि वह माया का अनुसरण करता हुआ, माया से थोड़ा हटकर चलता है,

पूर्णतया लिप्त नहीं होता, तो उसको उस माया के साथ–साथ उस प्रभु का दर्शन हो जाता है जिसकी वह माया है। जो महामानव हैं, वे प्रभु की माया पर कभी अपना अधिकार नहीं करते, उसको प्रणाम करते हैं और उसकी शक्तियों को अपने लिए मानकर चलते हैं, अपनी मानकर नहीं चलते।

यदि हम जीवन का अत्यधिक आनन्द लेना चाहते हैं, तो जितना जीवन हम बंधनों से मुक्त होकर बिताएं वही वास्तविक सुख होगा। उसके लिए अधिकार की वृत्ति को हटाना होगा। यह बहुत विचारणीय तथ्य है, जिसका मनन और नित्याध्यासन अविरल रूप से करना परम आवश्यक है। यदि हम इस छोटे से जीवन को आनन्दमय और अत्याधिक सरसता से बिताना चाहते हैं, तो हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि आनन्द हमारे भीतर की वस्तु है, हमारा स्वरूप है आनन्द क्योंकि जीवात्मा उस परमात्मा का, उस सन्निदानद ईश्वर का अंश है। **आनन्द हमारा स्वरूप है, हम बाह्य जगत को आनन्द देते हैं, बाह्य जगत से आनन्द नहीं लेते। आनन्द का स्त्रोत हमारे भीतर है।** पाश्चात्य संस्कृति के वशीभूत होकर हमारी मान्यताएं बदल गई हैं। हम समझते हैं कि आनन्द विषय–जनित है जबकि विषय और भोग इस आनन्द को जो हमारा वास्तविक, हार्दिक, भीतरी और आत्मिक आनन्द है, उसको धूमिल कर देते हैं। इस आनन्द की प्राप्ति के लिए अपने भीतरी जगत में प्रवेश करना पड़ता है, ईश्वर का चिन्तन, मनन, ध्यान करना पड़ता है। उस अवस्था में बाहर का संसार ही नहीं रहता और न भीतर का, मात्र आनन्द ही आनन्द रहता है अर्थात् .जो आनन्द हम अनुभव करना चाहते हैं, उसके लिए वस्तुओं की उपलब्धि और उनका भोग कहीं दूर–दूर तक भी कोई सम्बन्ध नहीं रखता।

भौतिक जगत में जो भौतिक सम्बन्ध हैं, उनमें एक भौतिकता की होड़ होती है। वस्तुओं की छीना–झपटी होती है अज्ञानवश, कि मैं धन ज्यादा संचित कर लूँ, मैं सम्पदा ज्यादा एकत्रित कर लूँ, मेरी भौतिक शक्तियाँ औरों से ज्यादा हों। दुर्भाग्यवश, जो हमारी विशुद्ध भारतीय संस्कृति में पाश्चात्य संस्कृति का पदार्पण हुआ, उससे मानसिक तनाव बढ़ गए हैं। हमारा आनन्द और उस आनन्द का दर्पण धूमिल हो गया है। हम स्वयं का चेहरा भी नहीं देख पाते और एक विक्षिप्त, त्रसित एवं भयभीत जीवन की संरचना करते हैं और उसी में जीवन बिता देते हैं।

भौतिक सम्बन्ध अन्ततः हमारे विक्षेप का कारण ही बनते हैं, जबकि आध्यात्मिक सम्बन्ध हमको इस कीचड़ से निकाल देते हैं। आध्यात्मिक जगत में मात्र एक आकांक्षा होती है, अपने स्वरूप चिन्तन की, अपने सच्चिदानंद स्वरूप को पाने की और उसको पाने के प्रति सतत् प्रयास की। चूंकि आध्यात्मिक सम्बन्ध मात्र सत्य की ओर प्रेरित करते हैं, अग्रसर करते हैं इसलिए वे सम्बन्ध स्थिर होते हैं, इनका अन्त आनन्द में होता है, सत्य में होता है, चेतनता में होता है।

अभी तक जो वर्णन किया उसका सारांश यही उभरता है कि आध्यात्मिक और भौतिक सम्बन्ध यद्यपि इस भौतिक देह पर ही आधारित होते हैं, लेकिन उनकी गुणात्मकता में, प्रारूप में और उनके परिणाम में एक विशाल अन्तर है, महा–अन्तर है। हमें अपनी मानव–बुद्धि को, अपनी चेतनता को, पुरुषार्थ का वास्तविक अर्थ समझते हुए, उस पुरुषार्थ को करते हुए इन दोनों प्रकार के सम्बन्धों के प्रति सतत् जागरूक रहना अति आवश्यक है, ताकि हम प्रत्येक जन्म में अत्याधिक आनन्दपूर्वक जीवन का प्रतिपल, प्रतिक्षण, प्रति–श्वास उस प्रभु की सान्निध्यता में, उपासना में, अपने आध्यात्मिक परिवार के सहित बिता सकें! उस सम्पूर्ण परिवार के आध्यात्मिक सम्बन्धों की समस्त शक्तियों को, अपने एक ही के भीतर महसूस कर सकें, अनुभव कर सकें और सशक्त होकर हम जीवन बिताएं। उस जीवन का रसास्वादन कर सकें, जिसमें स्वतः ही एक विशेष नशा अन्तर्निहत रहता है।

यही जीवन का वास्तविक लक्ष्य है। हम अपने उस परम पिता परमात्मा, उस सर्वशक्तिमान ईश्वर जो कोटि–कोटि ब्रह्माण्डों का रचयिता, पालनकर्त्ता एवं संहारकर्ता है, उसकी हर विधा और हर संरचना का सूक्ष्मता से अध्ययन करते हुए, जब वह हमारी बुद्धि से परे का विषय हमको महसूस हो, उसकी वाह–वाह करें! प्रशंसा करें। अबोधता एवं अज्ञानतावश मानव लोभ व लालच में पड़कर इस बुद्धि का अति दुरुपयोग कर बैठता है और अन्ततः विभिन्न प्रकार के कष्टों और त्रासों में ग्रसित हो जाता है और जीवन का एक न एक समय अंत हो ही जाता है। अपने सम्बन्धों को भी वह भौतिकता में ढाल देता है और वे सम्बन्ध भी उसके लिए कटु हो जाते हैं। यह शरीर जो भौतिक शरीर है हमारा, जो स्वयं में क्षणभंगुर है, इस पर

आधारित जो भी सम्बन्ध होंगे वे भी क्षणिक होंगे।

प्रश्न उठता है कि इस देह का, इस शरीर का हमारे साथ क्या सम्बन्ध है? **यह देह मात्र हमारी क्रीड़ा स्थली है, जीवात्मा की क्रीड़ा स्थली है। इस देह के साथ अपने स्वरूप का तद्भाव हमको कष्टों से ग्रसित कर देता है।** यदि हम अपनी सम्पूर्ण दिनचर्या पर विचार करें, तो रात्रि का समय ऐसा आता है, जब जीव अपने आनन्दमय कोष में प्रवेश करना चाहता है, इस देह का नित्य त्याग करना चाहता है। योगी ध्यान में, तुरीय अवस्था में, समाधि में इस देह से परे हटना चाहते हैं, हट जाते हैं और विशिष्ट आन्तरिक आनन्द की अनुभूति करते हैं, उस आनन्द के महास्त्रोत की जो भीतर विद्यमान है।

साधारण मनुष्य रात्रि के समय, सुषुप्ति में इस देह का और इस दुनिया का नित्य परित्याग करते हैं और उसमें आनन्द का अनभुव करते हैं। भला विचारिए, कि किसी दिन अच्छी निद्रा न आए, तो हम लोग कितने विक्षिप्त हो जाते हैं। 'निद्रावस्था में कोई भी भौतिक सुख, इन्द्रियजनित सुख, देहजनित सुख और अन्य वस्तुएँ जो देह से सम्बन्धित हैं, उनका कोई भी सुख नहीं होता। जिन सुखों के लिये हम जागृत अवस्था में लालायित रहते हैं, रात्रि के समय, सुपुप्ति में स्वतः ही जीव इन सुखों से परे हटकर, देह से और इस दुनिया से परे हटकर अपने वास्तविक आनन्द की अनुभूति के लिये भीतरी आनन्द के स्रोत में प्रवेश करना चाहता है। शायद कुछ विक्षिप्त मानव आज के जगत में नशों का सहारा भी इसलिए लेते हैं, ताकि वे इस भौतिक देह से व भौतिक जगत से दूर हट जाए।

देह का मात्र इतना ही सम्बन्ध है कि जीव अपनी क्रीड़ास्थली के रूप में इसका प्रयोग करे लेकिन जीव देह–जनित भोगों में, इन्द्रिय–सुखों में इतना लिप्त हो गया कि इस देह को ही वह अपना स्वरूप समझ बैठा। यह बहुत गहन विषय है इसका मनन अति आवश्यक है अन्यथा हम प्रत्येक जन्म में इस देह को अपना स्वरूप मानकर और इस देह के विभिन प्रकार के भौतिक सुखों की लालसा लिए हुए और उन सुखों की पूर्ति के लिये विभिन्न प्रकार के कष्टों को सहते हुए जन्म दर जन्म युग–युगान्तरों तक कष्टमय जीवन बिताते रहेंगे जिसका कोई अन्त नहीं है।

।। जय जय श्री राम।।

मानसिक एवं भौतिक काल

अपने इष्ट प्रभु श्री हनुमान जी की, जो मेरे परम गुरु भी हैं, उनकी प्रेरणा से मैं काल एवं अकाल का वर्णन करने जा रहा हूँ। अति गहन विषय है। कहा है– एक कल्प, ब्रह्मा का एक दिन और प्रलय, ब्रह्म की एक रात है। **एक कल्प को शास्त्रकारों ने 4 अरब 82 करोड़ वर्ष का माना है। एक महायुग में चारों युग सतयुग, त्रेता, द्वापर एवं कलयुग,** एक कल्प में 1000 महायुग माने हैं। एक कला को यदि 1000 से भाग करें तो 43 लाख 20 हजार वर्षों का एक महायुग है और उसमें लगभग **17 लाख वर्षों का सतयुग, 13 लाख वर्षों का त्रेता, लगभग 9 लाख वर्षों का द्वापर एवं 4 लाख वर्षों का कलयुग।** एक महायुग, एक कल्प में एक हज़ार बार आता है। अब यह सुनकर बड़ा अचम्भा होता है आज के वैज्ञानिकों को, कि यह कल्प ब्रह्मा का एक दिन कैसे हो गया। यह समझ से ज्यादा अनुभूति का विषय है, इसको समय की गणना से नहीं समझाया जा सकता।

वैज्ञानिकों ने इतना अवश्य जान लिया है, कि रात्रि में मानव को जब बड़े से बड़ा स्वप्न भी आता है, तो वे मात्र कुछ सेंकण्ड का ही होता है। जागृति के बाद जब हम किसी भी बड़े स्वप्न का वर्णन करते हैं, जिसमें हम बहुत दिनों, बहुत महीनों और वर्षों तक विचरे होते हैं तो स्वप्न के उस समय का जब विशेष यन्त्रों द्वारा हिसाब किया जाता है, तो वह मात्र कुछ सेकण्ड का समय होता है।

समय एक सापेक्षिक वस्तु है। आपने अपने दैनिक जीवन में अनेक बार अनुभव किया होगा, कि जब हम अति मानसिक प्रसन्नता की स्थिति में होते हैं या किसी भी कारण जब हमारा चित्त एकाग्र होता है, तो बहुत अधिक समय बीत जाने पर भी हमें ऐसा लगता है, कि जैसे बहुत कम समय बीता हो। और जब मानसिक रूप से हम विक्षिप्त होते हैं, त्रसित होते हैं, तो बहुत कम समय भी हमको बहुत लम्बा समय लगता है। यह बात जो मैं आपको कहने जा रहा हूँ, बहुत रहस्यमय है। जीवन में व्यवहारिक उपयोग की बात है। जब व्यक्ति अपने आनन्द में समय बिताता है, तब समय बीतने का भास भी नहीं होता, बहुत समय बीत जाता है और लगता है कि जैसे थोड़े से समय में ही कितना समय बीत गया। जब हम बहुत सुन्दर स्थिति में होते हैं,

किसी से प्रेमपूर्वक वार्तालाप में ही एकाग्र होते है तो घण्टों बीत जाते हैं और ऐसा लगता है, कि मात्र अभी कुछ मिनट पहले ही हम बैठे थे, **यह एक मानसिक समय है।** यह मानसिक समय ही ब्रह्मा का समय माना जाता है। आप देखेंगे कि कई व्यक्ति दीर्घायु होते हैं, चिंरजीवी होते हैं और बहुत वर्षों के बाद भी जब आप उनको देखते हैं, तो उनकी देह में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आता। बहुत वर्षों तक वे युवा रहते हैं। उनके चेहरों पर और उनकी देह में तरुणाई रहती है, तो इसका कारण भौतिक समय नहीं है, उनका मानसिक समय है। आप पूछे कैसे? जब कोई ईश्वर के भजन में, नाम में, चिन्तन में बहुत गहराई से और हृदय से तन्मय हो जाते हैं, पूरा दिन, पूरी रात जिसको हम 24 घटे कहते हैं, उस व्यक्ति को मात्र एक घण्टा ही बीता सा महसूस होता है। कहने को तो उसकी आयु एक दिन बीत गया, लेकिन मानसिक समय के अनुसार उसकी आयु एक घंटा ही बीती। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति कष्टमय समय बिना रहा होता है दुखी होकर, विक्षिप्त होकर, तो हम कहते है कि यह बहुत जल्दी वृद्ध लगने लगा है। कारण कि भौतिक समय बिताना इतना कठिन लगता है कि उसकी मानसिक आयु बहुत वर्ष आगे बढ़ जाती है। शायद आप इस रहस्य को समझ गए होंगे, कि **हमारी देह पर भौतिक समय से ज्यादा प्रभाव हमारे मानसिक समय का पड़ता?**

मान लीजिए कोई व्यक्ति मूर्च्छित अवस्था में सात दिन तक पड़ा है। जब उसकी मूर्च्छा खुलती है, उसको होश आता है, तो उसको सात दिन मात्र एक क्षण की तरह ही लगते हैं, कि" अच्छा। मैं तो अभी वहाँ था और अब यहाँ पहुँच गया हूँ।" वे सात दिन का जो भौतिक अन्तराल है, उसके मानसिक पटल पर एक क्षण से अधिक नहीं होता। यही मानसिक समय है जो हमारे वास्तविक जीवन को नियमित करता है। इस विषय पर आप बहुत गहनता से एकाग्रचित्त होकर मनन जरिए! भौतिक समय से कई गुना अधिक हमारे जीवन को मानसिक समय प्रभावित करता है। आप कभी अत्यन्त शान्त वातावरण मे, सुबह के समय एकाग्रचित्त होकर बैठिए और अपने जीवन के बीते हुए अनेकों वर्षों की विशेष घटनाओं को याद करिए, तो आप देखेंगे, कि किसी भी विशिष्ट वर्ष की कुछ चन्द घटनाएं ही आपके मानसिक पटल पर अंकित होती हैं। बीच में कुछ ऐसे वर्ष भी आप देखेंगे, कि उनकी कोई भी

घटना आपको याद नहीं रहती। इस पर पुनः गौर करिए। मान लीजिए, आपकी आयु 50 वर्ष है, जब से होश संभाला आपने, जब से स्कूल जाने लगे हैं बचपन, युवावस्था, विवाह के पूर्वका समय, विवाह का समय, सन्तान उत्पत्ति का समय, सन्तान के बाल्यकाल, इत्यादि–इत्यादि। इस पर आप प्रति वर्ष के हिसाब से मनन करें, तो आप देखेंगे कि पूरे इतने विशाल अन्तराल की चन्द घटनाएं ही आपके मानसिक पटल पर अंकित होती है। अब जो यह मानस पटल पर अंकित घटनाएं हैं, वे आपके अब तक के जीवन का निचोड़ हैं। इस प्रकार जीवन के अन्त तक वही घटनाएं जो आपके मानसिक पटल पर अंकित हैं, आपके विशिष्ट संस्कारों को साथ संजोये रहती है। उसी के अनुसार अगले जन्म में भी आपका व्यक्तित्व, आपका परिवार, स्थान, क्रियाएं, प्रतिक्रियाएं, उस मानसिक पटल पर अंकित घटनाओं पर ही आधारित होती हैं।

यह अति गहन विषय है। समय की जो भौतिक गिनती होती है उसे हम निरर्थक नहीं कह सकते। क्योंकि व्यवहारिक जगत में हमें भौतिक समय पर ही आधारित होना पड़ता है, लेकिन यह हमारे जीवन की दर्शक रेखा नहीं है, कदापि नहीं। ईश्वरीय मन ही हमारे लिये ब्रह्मा है, ईश्वरीय मन ही विष्णु और ईश्वरीय मन ही शंकर है। **इस ईश्वरीय मन पर जब हम अज्ञानवश अपना अधिकार जमा लेते हैं तो वह जीव मन हो जाता है।** उस जीव मन में और ईश्वरीय मन में एक बड़ा अन्तर आ जाता है। उस जीव मन में हम भौतिक समय के अनुसार गणना करना चाहते हैं, तो उस गणना में हम इतने तन्मय हो जाते हैं, कि उस भौतिक गणना को ही हम वास्तविक समय की गणना मानने लगते हैं। हम मानसिक समय के रहस्य को समझने का प्रयत्न मात्र भी नहीं करते। यद्यपि यह समझ का विषय भी नहीं है। यह बौद्धिक गणना के बाहर का विषय है। इसको जानने के लिये सबसे पहली शर्त यह है कि अपने मन को ईश्वर के चरणों में समर्पित कर दीजिए और वास्तविकता भी यही है कि मन ईश्वरीय शक्ति है। मन और माया दोनों पर तहे–दिल से आप अपना अधिकार छोड़ दीजिए, उसके बाद विशेष ईश्वरीय रहस्य एक–एक करके खुलने शुरु हो जाते हैं। इसके बिना हम उन रहस्यों को जानने के अधिकरी ही नहीं हैं। यह जो परम सत्य मैंने आपके सम्मुख रखा है, मात्र अनुभव का विषय है। यदि आप ईश्वरीय रहस्यों को अपने अनुभव में उतारना चाहते हैं, तो यह

मन और माया दोनों पर तहे–दिल से, हृदय से अपना अधिकार छोड़ दीजिए। जिस समय आप यह अधिकार छोड़ देंगे, तो किस प्रकार ईश्वरीय मन ब्रह्मा बनकर सारे करोड़ों ब्रह्माण्डों का सृजन करता है, विष्णु बनकर पालन करता है, शंकर बनकर संहार करता है, इसका रहस्य आपके पल्ले पड़ने लग जाएगा। आप उस समय यह समझ जाएंगे, कि किस प्रकार 4 अरब 82 करोड़ वर्ष, एक दिन है ब्रह्मा का!

आप विचार करिए, जैसा कि मैं उदाहरण दे रहा था, कि आप पचास वर्ष के हो गये हैं और पूरे जीवन को आपने याद किया, अपने जीवन का पूरा स्मरण किया कि जब से होश संभाला, अभी तक मेरा जितना जीवन बीता और जीवन की चंद घटनाएं जो कि मात्र आधे घंटे में आप विचार कर लेते हैं तो पचास वर्ष क्या आधे–एक घण्टे के बराबर नहीं हो गए? बहुत बुद्धिजीवी लोग इस विषय पर, जो आज से हजारों–लाखों वर्ष पहले हमारे ऋषियों–मनीषियों ने शास्त्रों में वर्णित किया है, तर्क करते हैं। यह कोई कुतर्क का विषय ही नहीं है, यह तर्क का विषय भी नहीं है, इसके लिये प्रथम शर्त है, **आप मन एवं माया पर अपना अधिकार छोड़ दीजिए।** प्रमाण के लिए जिस समय शिशु, माँ के गर्भ में बन रहा होता है, उसकी देह का निर्माण हो रहा होता है, बुद्धि का निर्माण होता है, उस समय कौन सा मानस होता है, कौन सा मन होता है, जो उसके विशिष्ट अंगों को, विशिष्ट बुद्धि को, विशिष्ट संस्कारों को, विशिष्ट समय को नियमित करता है? **वह एक मन ऐसा है जो ईश्वरीय मन है।**

उसी प्रकार जब हम संसार में आते हैं, एक विशिष्ट समय आकर विवाह–शादी होती है, आगे सन्तान होती है और एक विशिष्ट समय पर मुत्यु होती है। इस सारे समय को कौन नियमित कर रहा है? क्या हम जानते हैं, हमें कब मरना है, हमको मरना कैसे है, अमुक स्त्री से मेरा विवाह क्यों हुआ, अमुक पुरुष से विवाह क्यों हुआ, अमुक सन्तान किसी विशिष्ट समय पर उत्पन्न क्यों हुई, उसमे विशिष्ट प्रतिभाएं क्यो हैं? यह परम रहस्य बुद्धि का विषय नहीं है। इस रहस्य का यदि हम थोड़ा बहुत मनन करना चाहते हैं, तो हमें ईश्वरीय मन को नमन करना होगा, तभी इस मन और माया की कुछ झलक, कुछ सत्यताओं का अनुभव हो सकता है। उसकी बुद्धि द्वारा

फिर भी गणना नहीं कर सकते। ईश्वरीय शक्ति, महा ईश्वरीय शक्ति माया और मन स्वयं ब्रह्मा बनते हैं। यही माया और मन स्वयं विष्णु और यही अन्ततः संहारकर्त्ता महेश बनते हैं, तो जो भौतिक समय, भौतिक काल है, वह मात्र भौतिक ही है, सापेक्षिक है। एकाग्रचित्त द्वारा, एकान्त में, गुरु कृपा से, इष्ट कृपा से, यदि हम इस विषय पर गहन विचार करें, कि समय एक ही परिस्थिति में, अलग–अलग लोगों का अलग–अलग क्यों बीतता है? परिस्थिति एक ही है, उस परिस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति की रुचि कितनी है, एकाग्रता कितनी है, उसमें तन्मयता कितनी है? समय की जो मानसिक गणना है वह उसकी एकाग्रता का प्रतिफल है। यदि हम जीवन को आनन्दपूर्वक बिताना चाहते हैं, तो हमें चित्त की एकाग्रता का अभ्यास अवश्य करना पड़ेगा।

हम कई बार किसी महापुरुष या सत को देखकर कहते हैं, कि वृद्धावस्था में उनकी शिशु जैसी बातें हैं। क्योंकि मानसिक समय उनका बाल्यकाल में ही होता है। वास्तविकता यही है, उनमें शिशुवत् स्वभाव इसीलिए रहता है, कि मानसिक रूप से, मानसिक समय के हिसाब से वे अपने बाल्यकाल में होते हैं और कुछ लोग बचपन में ही परिस्थितियों वश इतना कठिन समय बिताते हैं, कि जीवन के कुछ वर्ष, बहुत ज्यादा वर्ष लगने लगते हैं और उसी के अनुसार उनकी देह पर प्रभाव पड़ता है। मानसिक रूप से, समय की गणना, यह केवल हमारे भारतीय दर्शन में ही है। जो अपने आपको बहुत विकसित देश कहलाते हैं यूरोप, अमेरिका इत्यादि, वहाँ भौतिकवाद की मात्र पराकाष्ठा ने हमें भी समय को भौतिक रूप से ही गिनने का आदी बना दिया है। हमें इस गहन रहस्य को जो मात्र हमारे पुराणों में, हमारे भारतीय दर्शन में ही है, इस पर विचार करना होगा, इसको सिद्ध करना होगा। विश्व के सामने प्रस्तुत करना होगा, कि किस प्रकार हमारे पास एक विशिष्ट विज्ञान है, जिसके आधार पर हम समय को आगे–पीछे कर सकते हैं। कितना विकसित था हमारा मानसिक ज्ञान। यदि हम इस पर नियंत्रण न कर पाएं, तो कम से कम इसकी सराहना तो करें। जो आठों सिद्धियों का वर्णन आता है, उनका आधार भी यह मानसिक समय है। कभी अपनी देह को बचपन में ले आना, उसी देह को अति वृद्ध, कभी इसको बड़ा विस्तृत कर देना कभी सूक्ष्म कर देना, कभी रूपान्तर कर देना, उस स्थिति को बदल देना और इसका आभास दूसरी को होना। यह महासिद्धियों का

जो आधार है, नींव है, वे भी मानसिक समय पर आधारित है। विषय इतना गहन है कि मैं यहाँ वर्णन नहीं कर सकूँगा। वास्तविक समय, जिसके अनुसार यह जीवन, **यह जन्म, बीते हुए जन्म और आगामी जीवन नियमित होते हैं, कार्यन्वित होते हैं, प्रारम्भ होते हैं, अन्त होता है और मध्य होता है, वह है–मानसिक समय। वास्तव में देखा जाए तो जीवन का कभी अन्त ही नही होता, जीवन एक अविरल धारा है।** जब किसी व्यक्ति की मृत्यु होती है तो हम भौतिक समय से गिनती करते हैं, इतने वर्ष तक जिया यह व्यक्ति। आध्यात्मिक जगत में, इस गणना का कोई भी महात्म्य नहीं है। यदि हमें मानसिक समय का गहन चिंतन हो जाये, उसके साथ हमारा सांमजस्य हो जाये और वह रहस्य हमारे पल्ले पड़ जाए, तो हमें यह रहस्य भी समझ में आ जाएगा, कि **जीवन कभी समाप्त नहीं होता। जीवन एक अविरल धारा है जो चलती रहती है, इसमें कुछ पड़ाव आते हैं, जिन्हें हम जन्मों–जन्मान्तरों के नाम से पुकारते हैं।**

जीवन के दो स्तम्भ मान लिये गए हैं– **जन्म एवं मृत्यु और इन दो स्तम्भों के बीच में सम्पूर्ण एक जीवन, इसका दूसरा नाम है समय।** इन दो स्तम्भों का आपस में इतना तालमेल एवं तद्भाव है, कि यदि एक स्तम्भ को गिरा दिया जाए तो दूसरा स्तम्भ स्वयं ही गिर जाता है। बहुत रोचक बात है। जीवन को जन्म और मृत्यु नामक दो खम्बों में जकड़ लिया है, जबकि ऐसा कोई स्तम्भ है ही नहीं। यदि जन्म है, तो मृत्यु है और उस जन्म की निरर्थक धारणा से हमारा जीवन प्रारम्भ होता है और एक विशेष काल–चक्र से गुज़र कर मृत्यु नामक दूसरे स्तम्भ पर समाप्त हो जाता है। जब हम दो स्तम्भों का निर्माण करते हैं, तो इसके मध्य के जीवन को भी हमें एक काल–चक्र में बाँधना पड़ता है और दुर्भाग्यवश यह ऐसा चक्र बन जाता है कि हमको जन्म–जन्मान्तरों व युग–युगान्तरों तक घसीटता रहता है और हम सुखों–दुखों का अनुभव करने रहते हैं, कभी हर्षित, कभी उन्मादित, कभी विक्षिप्त, कभी त्रसित, कभी भयभीत, कभी साहसिक इत्यादि। विभिन्न प्रक्रियायें इस समय के अनुसार हमारे भीतर एवं बाहरी जगत में क्रमशः घटती रहती हैं, कुछ ऐसा सा प्रारूप है इस मानव जीवन का। आदि से अंत तक किसी न किसी कार्य में, किसी न किसी

कर्त्तव्य की पूर्ति में, किसी न किसी कर्म का बोझा सा ढोते हुए निरन्तर प्रयास करने रहते हैं हम। कभी हम स्वयं को सफल अथवा असफल घोषित कर देते हैं। जीवन में तथाकथित व्यस्तता को अपना लक्ष्य मान लेते हैं, भले ही वह व्यस्तता निरर्थक हो और अक्सर यह निरर्थक ही होती है। हम चलते रहते हैं और एक बिन्दु पर आकर जीवन, मृत्यु में लीन हो जाते हैं। यदि हम स्वयं को देंखे और अपने नित्य के कृत्यों को देंखे। अपने उन संकल्पों को देखें, जिन्हें लेकर हम जीवन का मूल्यांकन करने हैं। हम अपनी उन प्रतिज्ञाओं को और आस्थाओं को देखें, जिनको लेकर हम जीवन में चलते हैं और चलना चाहते हैं। तो इस प्रकार हम अपना कोई न कोई उद्देश्य और मंज़िल स्वयं बना लेते हैं और उसमें इतने व्यस्त हो जाते हैं, कि हमें कुछ और सोचने–विचारने का न समय होता है और न ही उसकी इच्छा होती है।

अगर आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाए, तो इस प्रकार किए गए जीवन का प्रत्येक कार्य एक अँधेरा ढोने के अलावा कुछ भी नहीं है। कारण, जैसा कि मैं 'प्राप्य की प्राप्ति' लेख में घोषित कर चुका हूँ अपनी अनुभूति एवं अनुभव को, कि ईश्वर ने जन्म देने से पहले ही एक प्रारब्ध की रचना की है और उस प्रारब्ध के अनुसार जीवन का कालचक्र घूमता है और समय–समय पर अन्य प्रकार की सांसारिक उपलब्धियाँ या उपलब्धियाँ–सी होती हैं। समय–समय पर कुछ वस्तुएँ हमको छोड़ जाती हैं, कुछ व्यक्ति हमको छोड़ जाते हैं और यदि बहुत विचारणीय दृष्टि से देखें तो जीवन का कोई भी पहलु हमारे हाथ में नहीं है। यहाँ तक कि जब हम इस संसार में पदार्पण करते हैं, हमारा जीवन भी हमारे हाथ में नहीं होता और हमारी मृत्यु भी हमारे हाथ में नहीं है। तुलसीदास जी ने कहा है ***हानि–लाभ, जीवन–मरण, यश– अपयश विधि हाथ।***

जीवन की छह प्रमुख घटनाएं लाभ, हानि, जीवन, मरण, यश, अपयश यह सब उस विधाता के हाथ में हैं। यदि आप स्वयं विश्लेषण करें कि इन छः घटनाओं के बाद जीवन में बच क्या जाता है? आप स्वयं इसका उत्तर देंगे, कि जीवन इनके अतिरिक्त कुछ है भी नहीं। इन छः घटनाओं के इर्द–गिर्द सम्पूर्ण काल–चक्र चलता है और यह विधाता के हाथ में है और बहुत सत्य है। लेकिन हम दुर्भाग्यवश, बुद्धिजीवी होने के कारण इस सत्य को पचा नहीं पाते और सतत् प्रयासों में,

व्यस्तताओं में उलझ जाते हैं और जीवन व्यर्थ कर देते हैं। यही नहीं, यह अविरल क्रम चलता रहता है, जीवन के बाद जीवन, फिर जीवन, फिर जीवन और इस प्रकार जीवन क्रमशः व्यर्थ होते रहते हैं।

उन प्राप्तियों को, जिनको हम जीवन में पाना चाहते हैं, उन एक–एक उपलब्धियों का हमें विश्लेषण करना होगा, कि जिस कार्य में हम व्यस्त हैं, उसके पश्चात् उससे हुई उपलब्धि का अर्थ क्या है? क्या हो जायेगा हमारे जीवन में? क्या मिल जायेगा और यदि मिल जायेगा, तो क्या बिछुड़ जायेगा? क्योंकि कुछ ऐसा नियम सा है जीवन का, कि जब कुछ मिलता है तो कुछ बिछुड़ता भी है। जीवन एक नदिया की भांति है, जो अविरल बहती है। **नदिया में, बहने वाले जल की तरह जीवन सतत् बहता रहता है, अविरल, निरन्तर, अबाध गति से। जिस प्रकार कि किसी नदिया के एक ही जल में हम दोबारा डुबकी नहीं लगा सकते, तो जीवन भी इसी प्रकार बहते हुए समय की सरिता है। हमारा यह जीवन प्रति–पल प्रति–क्षण बदलता रहता है।** महामानव इस रहस्य को पकड़ लेते हैं।

जिस प्रकार कि एक सरिता, एक नदिया सागर में, मिल जाने के बाद अपनी गति खो देती है, अपना व्यक्तित्व खो देती है, अपना नाम खो देती है, अपना स्वरूप खो देती है उसी प्रकार जीव जन्म–जन्मान्तरों में भटकता हुआ, अंत में अपने परम–सच्चिदानन्द स्वरूप में लय हो जाता है। व**ह जीव और ब्रह्म का एक ऐसा समन्वय है जहाँ जीव, जीव नहीं रहता और ब्रह्म, ब्रह्म नहीं रहता। अद्भुत, उत्कृष्ट विहंगम, अति दिव्य मिलन जिसको परमयोग कहते हैं, वह मोक्ष–पद है, जिसके बाद समस्त गति समाप्त हो जाती है।**

उस परम स्थिति में पहुँच जाता है मानव, जहाँ मानसिक व भौतिक दोनों स्वयं विलीन हो जाते हैं, जिसका नाम है **'मोक्ष' पद**। यह गहन विषय जो आपके सम्मुख रखा है इसको बार–बार सुनना, मनन करना। इसके बारे में यदि थोड़ा बहुत कोई रहस्य आपके पल्ले जाए तो इष्ट कृपा।

।। जय जय ही राम।।

गुरु महिमा

गुरुब्रह्मा, गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवौः महेश्वरः, गुरुर्साक्षात् परम् ब्रह्म,
तस्मै श्री गुरुवे नमः। तस्मयै श्री गुरुवे नमः।।

आज गुरु पूर्णिमा है, 20 जुलाई 1997! गुरु पूर्णिमा के अवसर पर कुछ विशिष्ट बातें आप लोगों को स्पष्ट करना चाहता हूँ। आप इन बातों को ध्यान से सुनें और इन पर चिन्तन व मनन करें।

गुरु की परिभाषा क्या है? गुरु, जिससे हम कुछ सीखते हैं। किसी को गुरु धारण करने से पहले यह जानना आवश्यक है, कि हम उससे सीखना क्या चाहते हैं? क्या कोई सांसारिक विद्या, कोई कला? जब कोई गाड़ी चलाना सीखता है, कोई सिलाई करना सीखता है, कोई चिकित्सा–विज्ञान सीखना चाहता है। किसी भी कला या विद्या को सीखने के लिए जिसे उसका ज्ञान हो, उस विद्या में प्रवीण हो, उस व्यक्ति विशेष को गुरु बनाते हैं। **आध्यात्मिक गुरु या सद्गुरु वह व्यक्ति है, जो हमें आत्मचिंतन और आत्मज्ञान के बारे में अनुभूति कराता है।** इस गुरु पूर्णिमा के अवसर पर हम अपने आध्यात्मिक गुरुओं की पूजा करते हैं।

एक बात यहाँ बहुत स्पष्ट करने की है, कि–एक है **देह–चिन्तन,** वे वस्तुएँ, वह ज्ञान जो देह से सम्बन्धित है और दूसरा है– **आत्मचिंतन**। देह–चिन्तन और आत्मचिन्तन के बीच एक बहुत महीन पर बहुत स्पष्ट सीमा रेखा है।

यह बहुत महत्वपूर्ण एवं विचारणीय विषय है। आत्मचिंतन का कोई आरम्भ या अन्त नहीं है। जहाँ देह–चिन्तन का अन्त होता है, वहीं से आत्मचिन्तन शुरु होता है। आत्मचिंतन अपने में परिपूर्ण है। उसका चाहे एक अंश हो या पूर्ण अंश हो, फिर भी आत्मचिंतन अपने में परिपूर्ण है। हम आत्मचिंतन के लिए किसी व्यक्ति को अपना गुरु बनाते हैं, तो उसकी परिभाषा जानना बहुत आवश्यक है, वह परिभाषा है **'किसी विशिष्ट नाम व रूप में किसी विशिष्ट समय और स्थान पर, जब हम स्वयं पूर्ण शिष्या अथवा शिष्य भाव से परिपूरित हो जाते हैं, तो हमारे द्वारा उस विशिष्ट व्यक्ति में, प्रकट हुई गुरु–विधा उस समय वह नाम–रूप, हमारा गुरु है।'** एक बार फिर कहता हूँ; गुरु एक विधा है एक आपका व्यक्तित्व है और उस व्यक्तित्व की पूर्णता होती है शिष्या अथवा शिष्य विधा में। यह

सकारात्मक और नकारात्मक के जीते–जागते उदाहरण हैं। मान लीजिए आप एक चिकित्सक के पास जा रहे हैं। आप अगर मरीज भाव में होंगे, तो चिकित्सक का पूरा लाभ उठा सकेंगे। पिता के पास जा रहे हैं, तो पुत्र अथवा पुत्री भाव में जायेंगे, तो ज्यादा लाभ होगा। भगवान के पास जा रहे हैं, तो भक्त भाव में जाना पड़ेगा। जिस व्यक्तित्व के सामने हम जा रहे हैं, वह हमारी एक विधा का प्रगटीकरण है। वहाँ पर वह हमको पहले बनना पड़ेगा। अगर आप किसी गुरु के पास जा रहें हैं, तो पहले आपको शिष्य या शिष्या बनना पड़ेगा। **गुरु किसी विशिष्ट नाम व रूप में, किसी विशिष्ट स्थान व समय पर, जब आप में परिपूर्ण शिष्य या शिष्या भाव जागृत हो जाता है, तो आपकी गुरु विधा का प्रगटीकरण होता है। उस समय उस नाम व रूप में ही वह आपका गुरु है।**

जैसा कि आपने सुना होगा दत्तात्रेय ने 108 गुरु बनाए। वह आत्मचिंतन के बारे में कुछ जानना चाहते थे। वह घर–बार, राजपाठ छोड़कर निकल गए। जहाँ भी उन्हें सीखने को कुछ मिला आत्मचिंतन के बारे में, उसको उन्होंने अपना गुरु बना लिया। आपने उन्हीं के बारे में एक कहानी सुनी होगी। वह एक वेश्या के कोठे के नीचे से गुज़र रहे थे, वहाँ चन्द्रमा की चाँदनी बिखरी हुई थी। तभी उनको, चमकता हुआ कुछ लाल सा जमीन पर पड़ा हुआ प्रतीत हुआ। पहले वे वहाँ खड़े हो गए। उनके मन में दुविधा थी, कि वह क्या करें? स्वयं राजा थे, राजपाठ छोड़कर आए थे। उन्होंने सोचा,चलो उठा लेता हूँ, किसी को बाँट दूंगा। जब उन्होंने उसे उठाने की कोशिश की, तो वह पान की पीक फेंकी हुई थी। उनका हाथ थूक में सन गया। अब उन्हें बड़ी ग्लानि हुई। ''अरे! मैं इतना बड़ा राजा, लालो, हीरों, जवाहरतों की मेरे पास इतनी सम्पति रखी हुई है, जिसे मैं छोड़कर चला आया हूँ, तो मुझे इसकी लालसा क्यों हुई?" इस विचार में वह डूबे हुए थे, कि तभी ऊपर निगाह पड़ती है। एक सजी–धजी वेश्या कोठे के छज्जे पर खड़ी थी। सुबह का ढाई–तीन बजे का समय था। वह बेचैन सी थी। उन्होंने पूछा, "तुम क्यों खड़ी हो?" उसने जवाब दिया कि वह सारी रात एक सेठ का इतज़ार करती रही। उसने मुझे आने के लिये कहा था, लेकिन वह आया नहीं। इसलिए कभी मैं अन्दर जाती हूँ, कभी बाहर आती हूँ, इससे अच्छा तो यही चिंतन अथवा इतज़ार मैं भगवान का करती, तो मुझे कुछ मन

की शान्ति प्राप्त होती। दत्तात्रेय ने उस वेश्या को प्रणाम किया और उसे अपना गुरु मान लिया कि अगर हमें इन्तज़ार ही करनी है, तो सांसारिक लोगों की क्यो करें? भगवान की करें। इस प्रकार उन्होंने 108 गुरु बनाए।

गुरु बनाने के लिए हमें कभी भी, किसी भी एक नाम और एक रूप तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए **क्योंकि आध्यात्मिक ज्ञान खुलने का मार्ग है, बंधने का मार्ग नहीं है।** जहाँ आदमी बँधता है, वह बन्दा हो गया। जहाँ आदमी खुलता है, वह खुदा हो गया। हम खुदाई मार्ग, उस खुदा के बारे में जानना चाहते हैं, तो हमको खुलना होगा। ये नई बातें बता रहा हूँ। इन बातों की आलोचना होगी या नहीं, मुझे इसकी चिता नहीं है।। अगर हम आपसे प्रश्न पूछें कि, "आप हमेशा शिष्या भाव में या शिष्य भाव में रह सकते हैं' ऐसा नहीं हो सकता। नहीं हो सकता, तो जिसको आपने गुरु धारण किया है, वह हमेशा गुरु भाव मैं कैसे रह सकता है? एक व्यक्ति अपने में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है। कभी वह माँ है, कभी वह पिता है। कभी भाई तो कभी बहन है। कभी शत्रु है तो कभी मित्र। कभी सखा है तो कभी प्रेमी, कभी पति है तो कभी पत्नी। एक व्यक्तित्व में, एक विधा में कोई देह हमेशा विचर नहीं सकती।

आप यदि हमेशा शिष्य नहीं बन सकते, तो जिसको आपने गुरु धारण किया है, वह हमेशा गुरु कैसे रह सकता है' परम सत्य है यह। इसलिये गुरु बनाने के लिये अपना दिल–दिमाग खुला रखिए, आपने आत्मचिंतन के लिए गुरु बनाया है। आप चाहे तो मिठाई बनाने वाले को गुरु बना लीजिए लेकिन वह भी हमेशा आपको मिठाई बनाना नहीं सिखाएगा। उसका भी आपको मूड देखना पड़ेगा, कि किस प्रकार, किस समय वह उसके लिए तैयार है। हम आत्मचिंतन के लिए जब गुरु बनाते हैं, तो उसके लिये हमें स्पष्ट यह जानना है, कि गुरु आत्मचिंतन के लिए बनाया जा रहा है, देह चिंतन के लिए नहीं।

यह भी कहा जाता है कि **जब भी गुरु के पास जाओ तो खाली हाथ नहीं जाना चाहिए, कुछ भेंट लेकर जाना चाहिए।** एक प्रसंग है–युद्ध भूमि में रावण घायल पड़ा हुआ था, वह मृत्यु शय्या पर था। भगवान श्री राम ने लक्ष्मण को रावण के पास भेजा कि, "जाओ! रावण से आप कुछ सीख कर आओ। वह प्रचंड–योद्धा, महा–विद्वान और बहुत बड़ा ज्ञानी हुआ है। बहुत शक्तियों का स्वामी

रहा है। उससे कुछ राजधर्म की व अन्य शिक्षा लो।" उस समय लक्ष्मण जी को यह बात बहुत बुरी सी लगी, कि वह रावण से सीखें, जो उनका इतना बड़ा शत्रु है। बड़े भाई श्री राम की आज्ञा के कारण वह गये और अभिमान पूर्वक रावण के सिर के पास जाकर खड़े हो गए। रावण ने मुस्कराते हुए पूछा कि, "कहो भाई! क्यों आए हो?" उसने कहा कि, "मुझे श्री राम का आदेश मिला है, कि मैं आपसे कुछ सीखूं।" रावण मुस्कुराया बोला, ''ऐसे तो हम तुम्हें कुछ नहीं सिखा सकते। एक तो तुम हमारे सिर के पास अभिमानपूर्वक खड़े हो, दूसरे खाली हाथ आए हो। जाओ! इस समय तुम्हें कुछ नही सिखा सकते। कुछ भेंट लेकर आओ और चरणों के पास खड़े हो।" लक्ष्मण, राम जी के पास लौट गए। श्री राम सब समझ कर बोले, "गुरु के पास सदैव विनम्र भाव से जाओ और चरणों के पास खडे होइए और कुछ भेट भी लेकर जानी चाहिए। यह सीख याद रखना।"

युद्ध भूमि में तो कुछ भी नहीं था। अन्ततः लक्ष्मण जी ने पेड़ की कुछ सूखी लकड़ियाँ इकटठी कीं। सूखी लकड़ियों का एक गट्ठा अपने सिर पर रखा और फिर रावण के पास जाकर लकड़ियाँ रख दी और उन्हें प्रणाम किया। वह विनय भाव से खड़े हो गए। बोले, "मुझे कुछ शिक्षा दीजिये।'' इस पर रावण ने उनको राजनीति के काफी उपदेश दिए। रावण के जब प्राण छूटने लगे, तो उसने कहा कि, ''देखो, अपने भाई श्री राम से कहना, मैं उनके जीते जी उनके बैकुण्ठ धाम जा रहा हूँ, जबकि मैंने अपने जीत जी तुम्हारे भाई को अपनी लंका में प्रवेश नहीं होने दिया''। लक्ष्मण हैरान हो गए, कि रावण को यह मालूम था कि श्री राम, विष्णु के अवतार हैं।

यहाँ प्रश्न यह उठता है, कि जब गुरु आत्मचिंतन के लिए बनाया है, आत्म–ज्ञान के लिए बनाया है तो उसके लिये भेंट क्या ले जाई जाए? यह एक महत्वपूर्ण पहलु है। यहाँ भेंट के दो अर्थ है। जब हम किसी को कोई चीज़ भेंट करते हैं, तो एक तो वह आपकी विनम्रता का द्योतक होता है अर्थात् भेंटकर्त्ता जब किसी को कोई चीज़ भेंट करता है, तो वह किसी के सामने कुछ समर्पण करता है। प्रणाम करना और भेट करना उसकी विनम्रता का द्योतक होता है। नम्बर दो– यह भेंट उस व्यक्ति का मूड बनाती है, कुछ सीखने के लिए वह आपकी श्रद्धा का प्रगटीकरण है। अगर आपने उस वक्त कोई सांसारिक चीज़ भेंट कर दी है, जिससे आप आत्मज्ञान

लेना चाहते हैं तो वह अनुचित भेंट होगी। आजकल अक्सर देखा जाता है कि बहुत धनाढ्य शिष्य लोग गुरु से कुछ पाने के बदले, वहाँ पर भेंटों की ही प्रतिस्पर्धा में उलझ जाते हैं। यदि अपनी भेंट द्वारा आपने गुरु का मन–मस्तिष्क संसार में या देह में लाने का प्रयत्न किया है, वह अनुचित भेंट है, इससे बचना चाहिए। उचित भेंट क्या है? पुष्प, सुगन्धि, कोई ऐसा पदार्थ जिससे गुरु का आत्म–ज्ञान देने के लिए एक विशेष मूड बन जाए। गुरु पूर्णिमा में उचित भेंट वह होगी, जो आपकी श्रद्धा का प्रतीक है, समर्पण का प्रतीक है, विनम्रता का प्रतीक है। इसमें कोई संशय नहीं। लेकिन भेंट का आत्म–ज्ञान के गुरु के लिए उचित चयन परम आवश्यक है। मैं समझता हूँ कि पुष्प, चन्दन, सुगन्धि, अगरबत्ती, हवन–सामग्री, पूजा की वस्तुएं ही सुन्दर और उचित भेंट हैं।

गुरु की सेवा का महात्म्य क्या है? चाहे आप आत्म–चिंतन व आत्मज्ञान लेना चाहते हैं या आत्मज्ञान कोई देना चाहता है, इसका माध्यम क्या है? यहाँ देह को नकारा नहीं जा सकता, न हम नकार रहे हैं। क्योंकि इस आत्म–चिंतन को देने के लिए, आत्मज्ञान को लेने के लिए आपकी देह एक माध्यम है, एक जरिया है देह। उस देह के लिए, उस देह के प्रति श्रद्धा, विश्वास, विनम्रता जहाँ समर्पित करते हैं गुरु को, तो आत्म–चिन्तन गुरु के भावों से, उसके स्वरूप से प्रकट होने लग जाता है।

कई बार आपने सुना होगा कि फलां महात्मा मौनी है, कुछ बोलते नहीं है, मौन धारण किए हैं तो आत्मचिंतन उस समय, उस विशेष व्यक्तित्व से स्वतः ही प्रगट होने लगता है। आप वहाँ बैठ जाएं तो उस समय आपको जो सत्य की अनुभूति होती है,उसका अनुभव करें। गुरु उस वक्त अपने ही मुख से कुछ बोलें या न बोले, समाधिस्थ बैठे हो, शान्त बैठे हो, यदि आपकी उनकी देह के प्रति श्रद्धा, विनम्रता होगी और आप स्वयं सही शिष्य अथवा शिष्या भाव में होंगे, तो उस समय, उस विशिष्ट व्यक्तित्व से, जिसको आप गुरु कहते हैं, विशेष तंरगें निकलने लगती हैं। अगर आप उसको बहुत शान्त ह्रदय से, मन से अनुभव करें, तो आपको स्वतः दिव्य प्रेरणाएं होनी शुरु हो जाएंगी। सच्चे महात्मा का, संत का और गुरु की यह एक जाँच है। लेकिन इस के लिये आपको स्वयं को टटोलना होगा, कि आप किस भाव में बैठे हैं? अगर आप कुतर्क दृष्टि, अपनी संदेह दृष्टि से कुछ तलाशने की सोचेंगे तो वही

आपको कुछ नज़र नहीं आएगा। आप वहां से क्या प्राप्त करते हैं, यह पूर्णतया आपके दृष्टिकोण पर निर्भर करता है।

आप अपनी बुद्धि हटा लीजिए, अपने में भाव रखिए क्योंकि आत्मचिंतन भाव है। यह बुद्धि का विषय नहीं है। आत्मचिंतन अथवा आत्मज्ञान अनिर्वचनीय है। इसे समझाया नहीं जा सकता, बोला नहीं जा सकता, पढ़ा नहीं जा सकता। आत्मचिंतन आपकी अनुभूति है, इसको अनुभव किया जाता है। यदि आपको कोई मिठाई खिलाए और पूछे कि स्वाद कैसा है? आप कहेंगे–मीठा है। आपसे पूछें कि मीठा कैसा होता है? मीठा बयान करिए, तो अन्त में आप कहेंगे कि आप खुद खाकर देख लीजिए।

मैं चला शराबखाने, जहाँ कोई ग़म नहीं है।
जिसे देखनी हो जन्नत, मेरे साथ आए।

आत्मानुभूति अनुभव का विषय है। इसको वाणी से बयान नहीं किया जा सकता, इसको बुद्धि से पकड़ा नहीं जा सकता।

आप अगर सोचते हैं, कि मैं आत्मज्ञान किसी से सीख लूंगा या अपनी बुद्धि से समझ लूंगा, तो यह आपकी बहुत बड़ी भूल है।, आत्मज्ञान के लिये गुरु का सामीप्य ही काफी है, बशर्ते कि आप पूर्ण शिष्य भाव से, सपर्पित भाव से, श्रद्धा भाव से वहाँ बैंठे, तो आपको गुरु के प्रवास से, गुरु के व्यंग से, गुरु के स्वरूप से आत्मज्ञान और आत्मानुभूति हो जायेगी। यहाँ कुछ अनुभव हो जाएगा कि सत्य क्या है? उसकी विशिष्ट प्रेरणा होनी शुरु हो जाएगी। आप का शरीर हल्का और रोगरहित हो जाएगा जहाँ तक बातों का प्रश्न है, बताना, सुनना, यह एक वाक्‌विलास है, बुद्धि–विलास है वे विचार आत्मनिंतन की ओर ले जा सकते हैं, लेकिन आत्मानुभूति नहीं करा सकते। **चिंतन और मनन का अंत है–आत्मानुभूति।** यह विचार अतिचिंतन और आत्म–मनन करा सकते हैं, लेकिन आत्मानुभूति के लिए आपको अपनी बुद्धि को हटाना परम आवश्यक है। जहाँ मानवबुद्धि हस्तक्षेप करती है, वहाँ आत्मानुभूति नहीं हो सकती।

अब जो विशेष विचारणीय विषय है, वह है **गुरु कृपा क्या है? गुरु कृपा को कैसे पाया जा सकता है? गुरु कृपा का वास्तविक और उचित उपयोग क्या है?** यहाँ एक बात स्पष्ट हो जानी आवश्यक है, कि जब तक आत्मकृपा नहीं

होती, तब तक किसी की कृपा हमारे ऊपर हो ही नहीं सकती। यह आत्म–कृपा क्या है? यह बहुत समझने का विषय है। बिना आत्म–कृपा के हम किसी कृपा को प्राप्त नहीं कर सकते। प्राप्त कर भी लें, तो उसका सदुपयोग नहीं कर सकते। आत्म–कृपा का गुरुकृपा, माता–पिता की कृपा, संतों की कृपा और ईश्वरीय कृपा के साथ दामन–चोली का सम्बन्ध है। इस बात से हम आपको विस्तारपूर्वक समझाएंगे कि मान लीजिए, समुद्र ईश्वरीय कृपा का भरा हुआ है, ईश्वर तो कृपा के सागर हैं ही। अब उस कृपा के सागर में से हम कितनी कृपा अर्जित कर पाते हैं, यह निर्भर करता है हमारी पात्रता पर!

यहाँ पात्रता से अभिप्राय है, कि हमारी ग्राह्य क्षमता कितनी है? उदाहरण के तौर पर एक सौ वाट के बिजली के बल्ब में एक हज़ार वाट की ऊर्जा शक्ति प्रवाहित कर दें, तो वह जल जाएगा। इसी प्रकार ईश्वर की कृपा की कमी नहीं है। उस कृपा को आपने प्राप्त करना है,उस कृपा को आप कितना संग्रह कर सकते हैं, कितना सहन कर सकते हैं, यह निर्भर करता है, आपकी पात्रता पर। जहाँ तक मैं समझता हूँ कि सब साधना, जप, तप का अर्थ है कृपा को पाने के लिए अपनी पात्रता को बढ़ाना, इतना अधिकतम् बढ़ाना कि उसके आगे पात्रता का कोई छोर दिखाई ही न पड़े। यही अर्थ है कठिन से कठिन साधना का कि हम अपनी पात्रता बढ़ाए। उचित पात्रता पाने के लिए हमारा संग कैसा है, यह अति महत्वपूर्ण है।

संगदोष–संगदोष से हमास अभिप्राय है, कि हम जिस किसी के साथ उठते–बैठते हैं, परस्पर व्यवहार करते हैं, उसका प्रभाव एक दूसरे पर पड़े बिना नहीं रहता अर्थात् कुछ दिनों में, कुछ महीनों में, कुछ वर्षों में उस व्यक्ति के कुछ गुण–दोष हमारे भीतर आ जाते हैं। उस सच्चिदानद ईश्वर जो सद्–चित–आनन्द और तीनों का समन्वय है, परम सौन्दर्यवान, ऐश्वर्यवान, सशक्त, समर्थवान, ख्यातिवान, बलवान, ज्ञानवान और त्यागवान है। ऐसे विभिन्न गुणों के प्रतीक, सच्चिदानन्द ईश्वर का हम संग करते हैं। उसके प्रतिनिधि, गुरु का संग करते हैं तो हमारे अंदर कुछ समय बाद उसके किसी एक गुण के लाखवें, करोड़वे हिस्से का समावेश होना आवश्यक है। जब उस गुण या कुछ गुणों का समावेश हमारे भीतर होता है, तो वह हमारी पात्रता को बढ़ाने में सहायक होता है।

हम अपनी पात्रता का अनुमान स्वयं लगा सकते हैं। यहाँ मुझ से कोई पूछे कि ध्यान क्या है? तो मैं उसका उत्तर देता हूँ, **स्वयं के साथ बैठना**। अपने साथ, खुद के साथ बैठना और खुद पर विचार करना कि मैं कौन हूँ? कहाँ हूँ? यही ध्यान है। गुरु कृपा के लिए ध्यान दूसरी बड़ी और अहम् जरूरत है।

किसी के साथ जब हमारा वास्ता पड़ता है, लेना–देना, व्यवहार, शादी–विवाह इत्यादि, तो हम उस व्यक्ति के बारे में अपने विचार प्रकट करते हैं, उसकी प्रशंसा करते हैं, आलोचना करते हैं, परन्तु यदि मैं आपसे पूछूँ कि आप अपने बारे में कितना जानते हैं? उसको जानने के लिए हमें अपने साथ वास्ता कब पड़ता है? कैसा पड़ता है और उस वास्ता पड़ने पर हम अपने साथ क्या और कैसा व्यवहार करते हैं? इसका विवेक पूर्वक निर्णय हमारे अतिरिक्त कोई नहीं कर सकता। अपने खुद के साथ हमारा वास्ता पड़ता है–

1. **जब सामने कोई प्रलोभन होता है,** धन का, पद का या अन्य, उस समय आपका विवेक कैसा है? आप पूरा खज़ाना ले सकते हैं, आप सब कुछ कर सकते हैं लेकिन उस समय आपका व्यवहार कैसा है अपने साथ? इस पर विचारना स्वयं का विश्लेषण करना। इससे हमे अपने स्वयं के बारे में कुछ ज्ञान होता है।

2. **जब कोई अकस्मात् विपत्ति आ जाये,** मनुष्य का उस समय अपने प्रति व्यवहार कैसा है? उसको ध्यान करके, स्वयं के सामने, स्वयं को स्पष्ट करना बहुत जरूरी है। यद्यपि हम लोगों के सामने बनावट करें, लेकिन खुद के सामने हमको स्पष्ट होना पड़ेगा।

3. **जब कोई अकस्मात् खुशी आ जाये**, उस समय हमारा स्वयं के साथ क्या व्यवहार है?

4. **जब कभी मृत्यु सामने खड़ी हो**, उस समय भी हम स्वयं को परखने वास्तविकता यह है, कि सच्चिदानन्द स्वरूप को जानने के लिये हमें खुद का खुदी का पर्दा हटाना होगा। हम स्वयं को स्वयं से ढके रहते हैं। जब तक वह पर्दा नहीं हटेगा, तब तक गुरु कृपा, ईश्वर कृपा में हम बाधक बने रहेंगे। यह परम सत्य है। कृपा को पाने के लिए हमे अपनी पात्रता को बढ़ाना होगा और उसके लिए हमें स्वयं को स्वयं के सम्मुख स्पष्ट करना पड़ेगा। मैं कौन हूँ? मैं कहाँ हूँ? जब तक हम स्वयं

को सत्यता पूर्वक जानकर विशुद्ध नहीं करेंगे, तब तक गुरु कृपा हमारे अन्दर प्रवेश नहीं कर सकती।

स्वयं के पास बैठकर यदि हम यह जान जाएं, कि हमारी स्थिति निम्न है तो उसके लिए हम आँखों में अश्रु भरकर, वेदना के भाव को अपने गुरु और इष्ट के सामने प्रकट करे, 'प्रभु! मैं ऐसा हूँ, मुझे आगे आने दें' उस समय गुरु कृपा, इष्ट कृपा अवश्यभावी होती है और उससे पात्रता बढ़ जाती है। उसे कहते हैं कि पात्रता को बढ़ाने के लिये गुरु और इष्ट का सहायक होना। आत्म–कृपा से अर्थ है कि जब आस्था से, मन से, हृदय से, बुद्धि से हम उस सत्य को जानने के लिये अपने स्वयं के बारे में स्पष्ट तौर से जान जाते हैं कि, "मैं कहाँ हूँ'। मेरा स्तर निम्न है तो मुझे इस ग्रन्थि से उभरना है। उस समय श्रद्धा और समर्पण भाव हो, तो गुरु कृपा, इष्ट कृपा अवश्यभावी है। आपको कोई जप, तप करने की आवश्यकता नहीं है।

जब हम अपनी भावना को बढ़ा लेते हैं, तो कृपा का स्वतः ही हमारे अन्दर समाहन हो जाता है। गुरु कृपा को, इष्ट कृपा को हमने प्रयोग कहाँ करना है, यह हमारे संस्कारों के और हमारे बुद्धि के चातुर्य पर निर्भर करता है। कभी–कभी हम उस कृपा का दुरुपयोग भी कर बैठते हैं। बड़े–बड़े तपस्वी, जपी–तपी, सिद्ध पुरुष बात–बात क्रोध करने लगते हैं एवं श्राप देने लग जाते हैं। यह गुरु कृपा और इष्ट कृपा का दुरुपयोग है। इससे छुटकारा पाने के लिये एक बड़ा सरल उपाय है, जिस प्रकार एक बड़ी नदी से नहरें निकाली जाती हैं और खेतों की सिंचाई व अन्य कार्य किए जाते हैं, उसी प्रकार आप उस महान नदी से निकली हुई एक नहर बन जाइए और प्रार्थना करिए, ''हे प्रभु! मेरे पर कृपा कर, तुम्हारी कृपा मेरे द्वारा बहे, कहाँ पर, कितनी कृपा चाहिए, कहाँ पर इसका क्या प्रयोग हो, हे प्रभु! आप ही इस पर ध्यान दीजिए, मुझे केवल उस कृपा की धारा बना दीजिए।" तो आपमें बिलकुल निश्चिंतता और हल्कापन आ जाएगा, शान्ति मिल जाएगी। आपके द्वारा उसकी कृपा बहने लग जाएगी। आपका समस्त स्पर्श, आपका दर्शन, आपका सामीप्य, आपका सान्निध्य आपके पास आने वालों को शान्ति देगा। आप जिसके बारे में विचार भी करेंगे, उसके बारे में सोचेंगे भी, तो उसको शान्ति मिल जाएगी।

दूसरा उपाय, कि कृपा का प्रवाह आपके द्वारा हो, उसके लिए आपका निस्वार्थ

भाव होना अति आवश्यक है। ईश्वरीय कृपा, अनन्त कृपा आपके द्वारा बहने लगती है, आप उसमें प्रभु कृपा से प्रशंसा के पात्र बन जाते हैं, बस। जैसा कि माँ अपने बच्चे को कुछ खेल खिलाती हैं, कभी वह उसे फौजी की पोशाक पहना देती है, तो कभी पुलिस की, इस पर बच्चा खुश हो जाता है, ''मै बहुत बड़ा सेना का अफसर या पुलिस अफसर बन गया हूँ।'' माँ लोगों से उसको प्रशंसा दिलवाती है, ''हाँ, तुम वीर हो, महान हो।'' इसी प्रकार प्रभु अपने भक्तों को, जिनके द्वारा उनकी कृपा बहती है, लोगों से उनकी प्रशंसा दिलवा देते हैं। यह है कृपा और कृपा पात्रता का ग्रहण अथवा उसके द्वारा बहाव और आपके द्वारा संसार का कल्याण होने लगता है।

इस गुरु पूर्णिमा के अवसर पर हम आपको यह प्रसाद वितरित करते हैं, कि गुरु तत्व क्या है? गुरु पद के साथ शिष्य अथवा शिष्या पद की क्या आवश्यकता है, गुरु कृपा क्या है? गुरु कृपा की पात्रता कौन सी चाहते हैं आप? उसके लिए आपको ध्यान करना पड़ेगा, स्वयं को जानना पड़ेगा, स्वयं के सामने स्वयं को पकड़ना पड़ेगा। हम स्वयं बहुत सी ग्रन्थियों से जन्म–जन्मान्तरों से उलझे पड़े हैं। जब तक हम इन ग्रन्थियों में उलझे हुए हैं, साक्षात् विष्णु भगवान भी आपके सामने आकर खड़े हो जाएं, तो हम उनको पहचान नहीं पाएगे। यदि स्वयं हमे मालूम चल जाए, कि मैं कौन हूँ? मेरी मानसिक स्थिति क्या है, भौतिक स्तर क्या है और उसके लिए आप रो पड़े श्रद्धा से, तो गुरु कृपा और ईश्वर कृपा से आपकी सुपात्रता बढ़ जाएगी।

।। जय जय श्री राम।।

खुदाई इश्क

जीव उस परमब्रह्म परमेश्वर को पाने के लिये, अपने उस खोए हुए सच्चिदानन्द स्वरूप का दिग्दर्शन करने के लिए सतत् प्रयास करता रहता है, यद्यपि उसका स्वरूप खोया सा हुआ है। कभी अपने बौद्धिक, कभी शारीरिक, कभी जप, कभी तप के बल से यह उसको पाना चाहता है। कभी कठिन समाधियों में लीन होकर, अनुभूतियों द्वारा, आत्म–प्रेरणाओं द्वारा यह अपने उस खोए से स्वरूप की एक झलक देखना चाहता है, उसका दिग्दर्शन करना चाहता है और अन्ततः असफल ही रहता है, लेकिन इसका प्रयास सतत् जारी रहता है जन्म–जन्मान्तरों तक। अन्त में यह उस ईश्वरीय सत्ता को किसी नाम व रूप में बाँधकर मान्यता देकर उससे प्रेम करने लगता है। **प्रेम एक हार्दिक भाव है एक भीतरी और एक बहुत व्यक्तिगत अनुभूति, जिसका प्रारूप समर्पण के साथ गुँथा है। यदि प्रेम और समर्पण को हम पर्यायवाची कह दे, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।** अन्ततः जीव अपने उस सन्निदानन्द स्वरूप, उस परमात्मा को कोई नाम अथवा रूप देकर और उसमें अपनी मान्यता स्थापित कर, उससे प्रेम करने लगता है। यही बुद्धि का, आत्मानुभूतियों का, समाधियों का कोई भी पक्ष नगण्य सा हो जाता है। **प्रेम और विशेषकर ईश्वरीय प्रेम अपने में एक शक्ति है। एक ऐसी विधा है जीव की, जो नेत्रों में अश्रु बनकर, हृदय में रोमांच बनकर और देह में कम्पन बनकर प्रकट होती है।** इतनी तीव्र तरंग होती है इसकी, कि जो अपने आस–पास के वातावरण को प्रभावित किए बिना नहीं रहती, जिसकी अति तीव्रता कभी–कभी पत्थरों को भी पिघला देती है।

जिसे आँखें खुदा ने दी, वो पत्थर में खुदा देखे।
जिसका हो दिल पत्थर वो पत्थर में क्या देखे?

एक अद्‌भुत दीवानगी, एक जुनून, एक वहशियत, एक पागलपन सा, उसके दिलो–दिमाग में, उसके रोम–रोम में उमड़ पड़ता है। बस, उसको अपना यार अपना इष्ट, अपना वह खोया सा हुआ सच्चिदानन्द स्वरूप, बाहर–भीतर ऊपर–नीचे और चहुँ ओर वही–वही दिखाई देने लगता है।

जिधर देखता हूँ, उधर तुम ही तुम हो।

कानों से यदि यह कोई आवाज़ सुनता है, तो अपने इष्ट की। यदि उसकी त्वचा किसी को स्पर्श करती है, तो अपने इष्ट को और नासिका से गन्ध अपने इष्ट की, नेत्रों से दिग्दर्शन अपने इष्ट का। एक नाम असंख्य रूपों में, एक रूप असंख्य नामों में और असंख्य नाम असंख्य रूपों में, करोड़ों–करोड़ों ब्रह्माण्डों में, जहाँ–जहाँ उस ईश्वरीय सत्ता की, जिस–जिस नामरूप, अनाम, अरूप, निराकार, साकार आदि विधाओं में पूजा, मान्यता और परिकल्पना होती है, वहाँ यह प्रेमी उसको मात्र अपने इष्ट के रूप में ही देखता है। वहीं इसका दिल–दिमाग झुक जाता है। उसी नाम–रूप में यह मोहित हो जाता है, ठहर जाता है और अपना सब कुछ भूल जाता है। ऐसे से होते है सच्चे आशिक, सच्चे प्रेमी। इसकी एक ही आकांक्षा और एक ही आर्त्तनाद होती है कि, 'हे प्रभु! यदि यह तुमसे मेरा मोह मात्र भ्रम ही है, तो मुझे इसी भ्रम में जीने दो, इसी भ्रम में मेरा अन्त हो और फिर यदि मेरा जन्म हो, तो वह भी इसी भ्रम में हो, कि तुम मेरे हो, सिर्फ मेरे हो, तुम मेरे बहुत करीब हो, सर्वत्र, भीतर–बाहर तुम ही तुम हो।"

जहाँ प्रेम होता है, वहाँ भक्ति होती है और जहाँ भक्ति होती है, वही प्रेम होता है। भक्तों की अपने ईश्वर से कोई लम्बी–चौड़ी माँगें नहीं होती। ईश्वरीय प्रेम बहुत बड़ी उपलब्धि है। यह वह शक्ति है जिसके सामने खोना–पाना, आबादी–बर्बादी, मिलना–बिछुड़ना इत्यादि संज्ञाएँ कोई भी महात्म नहीं रखती। आशिक को तो केवल इश्क चाहिए। कहते हैं, भगवान राम का जब अयोध्या में राज–अभिषेक हुआ, तो सुग्रीव, अंगद, जामवंत आदि अन्य सेनानी कुछ दिन अयोध्या में ठहरे। विदाई के दिन राज–दरबार लगा और एक आयोजन किया गया। माता सीता और प्रभु श्रीराम के पास कीमती उपहार रखे गये, जो उन्होंने इन सेनानायकों को विदाई से पहले वितरित करने थे। दरबार भरा हुआ था। प्रभु राम के तीनों भाई व सुमंत जी एवं हनुमान जी सभी विराजित थे। एक–एक को बुलाया जा रहा था। भगवान राम अपने कर–कमलों द्वारा उनको कोई न कोई उपहार भाव–पूर्ण भेंट करके विदा करते जा रहे थे, बड़ा मार्मिक दृश्य था। सभी की ऑखो में अश्रु थे और हृदय में एक लालसा कि शायद प्रभु राम उन्हें थोड़े दिन और रुकने के लिए कह दें। वे बार–बार पीछे मुड़कर देखते हैं और कहते हैं, अच्छा। तो प्रभु हम चलते हैं,

इसी उम्मीद में शायद वहाँ से कोई इशारा हो जाए, लेकिन उनका जाना तो निश्चित था।

इधर हनुमान जी, सुग्रीव जी के पास खड़े हैं अति चिंतित से, कि कहीं उन्हें उपहार के लिए न बुला लें और उपहार देकर उनको विदा न कर दें। प्रभु श्रीराम ने सबको उपहार दिए और विदा किया, लेकिन हनुमान जी के साथ उन्होंने ऐसा नहीं किया अन्ततः माता जानकी ने कहा, कि 'हनुमान जी को भी कुछ दीजिए।' स्वयं श्रीराम भावुक हो उठे और बोले, "जानकी, आप जो चाहें स्वयं ही दे दीजिए।" हनुमान जी को भी आमंत्रित किया गया। हनुमान जी कम्पायमान हो गए, क्योंकि उनको तो प्रभु से इश्क था, मोह था। उनके लिए तो यह विदाई असहनीय थी। वे बहुत त्रसित हृदय से हाथ जोड़कर, माँ जानकी और प्रभु राम के सम्मुख खड़े हो गए। उनके मुखारविन्द पर अनेक भाव हैं, विह्वलता है, उदासी है, अति भावुकता है, मोह है। माँ जानकी ने प्रभु राम की ओर देखा, तो श्रीराम ने माता जानकी को इशारा किया, "आप जो चाहे दे दें।" कहते हैं कि जनक महाराज ने विवाह के उपरान्त विदाई के समय एक बहुमूल्य मणियों की माला माँ जानकी को दी थी। जैसा कि आप जानते हैं, कि लड़कियों को अपने मायके के आभूषण बहुत प्रिय होते हैं। तो माता जानकी ने हनुमान जी की सेवाओं को देखते हुए अपने गले से वह माला उतारकर हनुमान जी को भेंट की। उन्होंने काँपते हाथों से वह माला ले ली और उसके साथ एक कौतूहल करना शुरु किया। हनुमान जी ने माला के एक–एक मनके को तोड़ा, उसको दाँतो तले दबाया, देखा और कुछ पाने की कोशिश में नाकाम होकर उन मनको को फर्श पर फेंकना शुरु कर दिया। कुछ देर लोग यह दृश्य देखते रहे। अन्ततः सुमन्त जी ने पूछा, "हनुमान जी, यह आप क्या कर रहे हैं? हनुमान जी उत्तर देते है।

"मंत्री जी, मैं इन मनकों में अपने श्रीराम को देख रहा हूँ।" सुमन्त जी बोले, 'आप तो ऐसे कह रहे हैं, जैसे कि आपके अन्दर भी श्री राम विराजमान हों।' उन्होंने कहा, ''हाँ! मेरे अन्दर, मेरे रोम–रोम में श्रीराम ही विराजमान हैं। मैं ऐसी कोई चीज़ स्वीकार नहीं कर सकता, जिसमें श्रीराम न हों।" उन्होंने भरे दरबार में अपनी बात का प्रमाण दिया, नखों से अपनी छाती को फाड़ डाला, ''जय श्री राम'' कहते हुए। जब उन्होंने अपनी छाती फाड़ी, तो उपस्थित जनों ने उनके हृदय में भगवान श्री राम का दर्शन किया, सभी अवाक् रह गए। इस दृश्य को देखकर सुग्रीव द्रवीभूत हो उठे

और बोले, "प्रभु! आप इस कपि को अपने पास रख लीजिए। इसको किष्किन्धा वापिस मत भेजिए, न जाने वहाँ जाकर इसका आपके बिना क्या हाल होगा? " यह लीला प्रभु राम ने इसलिए की, कि सुग्रीव जी स्वयं श्री हनुमान को प्रभु राम के पास रहने की आज्ञा दे दें।

आशिकों की महिमा बड़ी विचित्र होती है। उनका हर श्वास अपने प्यारे प्रभु के लिए होता है। उनका हर अश्रु अपने प्यारे के लिए टपकता है। अश्रुओं की माला से ध्याते हैं वे अपने इष्ट को। लोग कई बार पूछते है कि, "प्रभु के जाप के लिए मालाएं कौन सी अच्छी होतीं है?" कोई रुद्राक्ष की बताता है, कोई चन्दन की, कोई किसी अन्य मनकों की बताता है, लेकिन जो अश्रुओं के मनकों की माला है, वह सर्वोपरि है। इसके जपने से प्रभु को नि.संदेह, तुरन्त अपने भक्त की पुकार सुनाई देने लगती है और स्वयं प्रभु चिन्तित हो जाते हैं, जिस प्रकार अयोध्या लौटते समय प्रभु राम, भरत जी के प्रति चिन्तित होगए थे। जब हनुमान जी अयोध्या आकर भरत जी को प्रभु राम की पहुँच का सन्देश देते हैं, तो भरत जी की अवस्था को देख वे समाधिस्थ हो जाते हैं। क्या देखते हैं, कि राज–सिहांसन पर प्रभु श्री राम की खड़ाऊँ पड़ी है। भरत जी अपना मस्तक उन पर टेके हुए राम। राम! राम! की अविरल रट लगाए हुए हैं और प्रत्येक राम शब्द पर उनके नेत्रों से एक अश्रु टपकता है। दोनों नेत्रों से अविरल अश्रुओं की धारा टपक रही है, बह रही है और उनके गालों से होती हुई नीचे उनके हृदयस्थल पर आकर ये दोनों अश्रु की धाराएं एक हो जाती हैं, मानो भगीरथी और अलकनंदा का संगम हो और वह गंगा रूपी धारा पुनः हृदयस्थल से नीचे की ओर बह निकलती है। इतनी अद्भुत भक्ति की इस व्यक्ति ने चौदह वर्ष तक, प्रभु श्री राम जी का भजन और उनका नाम–जाप अपने अश्रुओं, से किया है। यह दृश्य देखकर हनुमान जी स्तब्ध हो गए, कि वाह! क्या प्रभु का उत्कृष्ट भक्त है यह, कितना भक्ति भाव है कितना निश्छल प्रेम है! अविरल! द्रवीभूत हो जाते हैं हनुमान जी। तो इस प्रेम के होते भक्त का संसार से मोह स्वप्न ही कम होने लगता है। वे संसार से हटने लगता है, संसार का स्वरूप बदल जाता है उसके लिए। जिस प्रकार आप कभी आम के बगीचे में जाएं और देखें कि कोई विशेष आम परिपक्व हो जाता है, तो वह स्वतः ही आम के वृक्ष को छोड़कर टपक पड़ता है। इसको टपके का आम कहते

हैं। इसी प्रकार जब कोई भक्त भक्ति एवं प्रेम रस से इतना ओत–प्रोत हो जाता है, तो वह स्वयं ही संसार से और संसार उससे छूट सा जाता है। संसार में रहते हुए भी वह संसार से छुटा हुआ ही होता है। भक्ति और प्रेम एक दूसरे के पूरक हैं।

यह अगाध प्रेम निरन्तर और अविरल चलता रहता है। एक ऐसी स्थिति आती है कि भक्त को अपने भगवान अपने इष्ट एक अधिकार सा होने लगता है। जब अधिकार होने लगता है, तो समझिए कि भक्ति की परिपक्वता प्रस्फुटित हो चुकी है और वह अधिकार कभी न कभी एक सम्बन्ध का रूप ले लेता है। यद्यपि यहां यह बात मैं उल्लेखनीय समझता हूँ कि प्रेम अपने में भी एक सम्बन्ध है। लेकिन उस प्रेम की विशिष्टता के लिए और उसके अति विशिष्ट प्रगटीकरण के लिए उसको किसी सम्बन्ध का रूप दे दिया जाता है। अन्ततः वह भक्त अब प्रभु का भक्त न रहकर उसका सम्बन्धी बन जाता है, उससे सम्बन्धित हो जाता है और प्रभु अपने प्रेमी सें सम्बन्धित। यह सम्बन्ध किसी भी नाम व रूप में हो जाता है। यदि सच पूछिये तो इस अवस्था को मोक्ष का एक प्रकार कहा गया है। क्योंकि जब मान्यताओं की समाप्ति हो जाती है, विशेषकर सांसारिक मान्यताओं की और वे मान्यताएं प्रभु में ईश्वर में लग जाती हैं। **किसी भी नाम व रूप में तो मान्यताओं की समाप्ति और मान्यताओं का किसी विशेष ईश्वरीय नाम–रूप में प्रगटीकरण, एक मोक्ष है।** मोक्ष के पाँच प्रकार वर्णित किये जा चुके हैं। मोक्ष के पाँच प्रकारों में से चार प्रकार के मोक्ष ईश्वर के प्रेमियों के लिए हैं। ईश्वर मैं अपनी मान्यताओं के अनुसार या तो यह सालोक्य मोक्ष या सायुज्य मोक्ष अन्यथा सामीप्य मोक्ष या सारूप्य मोक्ष का भागी हो जाता है। इस अवस्था के बाद जो आत्मानुभूतियाँ होती हैं, जो अपने इष्ट के सामीप्य में इसको अनुभव होती हैं, वह अनिर्वचनीय होती है।

जब ईश्वर की और भक्त की सम्बन्धमय अवस्था आ जाती है उसके बाद सारी कहानी खत्म हो जाती है, प्रवचन समाप्त हो जाते हैं। ज्ञान की कोई इच्छा नहीं रहती, भक्ति अपना अस्तित्व खो देती है। जप, तप, मनन, चिंतन, इनका कोई अर्थ सा नहीं रहता। वेद–वेदान्त, शास्त्र, श्रुतियाँ, उपनिषद्, पुराण इत्यादि, ये मात्र एक दरबारी चारण अथवा भाट से नज़र आने लगते हैं। यद्यपि छोटा मुँह बड़ी बात कर रहा हूँ

लेकिन यह सत्य है, एक नितान्त और निरंतर सत्य! ऐसी सी मोक्ष की अवस्था होती है। जिस प्रकार एक बारात चलती है, दूल्हे एवं दुल्हन की शादी होती है और शादी के बाद बारात एवं बाराती अपना अस्तित्व खो देते हैं, उसी प्रकार ईश्वर से सम्बन्ध हो जाने के पश्चात् और इन सम्बन्धों में विचरने के बाद अन्य सभी चीज़ें अपना अस्तित्व खो देती हैं, निरर्थक सी लगने लगती हैं। मानसिक दायरा संकीर्ण सा लगते हुए भी इतना उदात्त होता है, इतना विशाल होता है कि उसमें करोड़ों ब्रह्माण्ड समा जाते हैं। एक भावुक ईश्वर सम्बन्धी ने लिखा है –

आप ही मोरे नयनवा, पलक ढाँप तोहे लूँ
न मैं देखूँ और को, न तोहे देखन दूँ।

''ऐ मेरे यार, ऐ मेरे प्यारे, तुम्हीं हो मेरे नयनों में, मेरी आँखों में, मेरे चक्षुओं में। आओ! मैं तुम्हें अपनी पलकें ढाँप कर छुपा लूँ, इतना छुपा लूँ, कि न मैं अपनी बंद पलकों से किसी अन्य को देख सकूँ और न मैं तुम्हें देखने दूँ। हे प्रभु! तुम ही तुम मेरे नयनों में बस जाओ ताकि मैं और तुम, मेरे और तुम्हारे अलावा कोई न हो और यदि कोई हो तो या वह तुम हो या मैं हूँ। मुझे सर्वत्र, भीतर–बाहर यदि कोई दिग्दर्शन हो, यदि कोई आभास हो, यदि कोई अनुभूति हो तो वह मुझे तुम्हारी हो या मेरी खुद की हो।''

पर्वतों में, पर्वत श्रृंखलाओं में, उमड़ते–घुमड़ते मेघों में, सागर की गम्भीर ध्वनि में और सागर में उठती हुई लहरों में, पवन के वेग में और वसुन्धरा के नाद में, आकाश में, पाताल में, सर्वत्र उसको ध्वनि सुनती है, तो अपने इष्ट की। स्पर्श अपने इष्ट का, गंध–स्वाद अपने इष्ट की, चिंतन–मनन वह भी अपने इष्ट का ही होता है। एक अजीब सी स्थिति होती है, एक दीवानापन जो अपने में अनिर्वचनीय है।

यहाँ तक कि कभी–कभी अपने इष्ट के मोह में, चिरकाल तक दीदार, दर्शन नहीं होता तो उसका प्रेमी तिलमिला उठता है, कसमसा जाता है और उसके हृदय से यह अल्फाज़ जबरदस्ती निकल पड़ते हैं –

माना तुम्हारी दीद के काबिल नही हूँ मैं,
तू मेरा शौक देख, मेरी इन्तज़ार देख।

कि, "हे प्रभु, इतने दिनों तक, इतने जन्मों तक, इतने युगों तक मैं तुम्हारा दीदार, तुम्हारा दर्शन नहीं कर पाया। अब मैं यह मान बैठा हूँ, कि मैं तुम्हारे दर्शनों के योग्य नहीं हूँ, अगर मैं योग्य होता, तो अभी तक तुम्हारा दर्शन हो गया होता। अब तो मेरे जीवन का एक ही शौक रह गया है और एक ही इन्तज़ार रह गयी है और वह है तुम्हारी केवल तुम्हारी इंतज़ार। मैं तुम्हारा इन्तज़ार करूंगा। मुझे अपने पास बिठाए रखिए। मुझे यह महसूस होने दीजिए कि आप सदा मेरे पास है। मेरे करीब हैं। क्या यह कम है कि मुझे तुम्हारी समीपता का अहसास हो।"

पड़ा रहने दो अपने दर ये, मुझको क्यों उठाते हो?
मेरी किस्मत संवरती है, तुम्हारा क्या बिगड़ता है?

''ऐ, मेरे आका, मुझे अपने दर पर पड़ा रहने दे। अब तो मैं अपना सब कुछ खो चुका हूँ, अब मुझे अपने दर से मत उठाइए।" बड़ा भयानक रोग है यह इश्क जिसका कोई इलाज नहीं है–

ऐ इश्क! तूने कौमों को खा के छोड़ा।
जिस घर से सिर उठाया, उस घर को खा के छोड़ा।

इस रोग को पालकर आशिकों को बड़ा अच्छा लगता है। तिल–तिल वे जलते रहते हैं, हर क्षण, हर पल वे घुलते रहते हैं। उनको देह की, दुनिया की कोई परवाह नहीं होती। अक्सर वे आलोचना का विषय बने रहते हैं लेकिन उनको उसकी कोई भी चिंता नहीं होती। बर्बादी का अपना एक आनन्द होता है। उस बर्बादी का वे आलिंगन करता है। यह आशिकी उसकी व्यक्तिगत सम्पदा हो जाती है, व्यक्तिगत, जिसमें सिवाय खोने के कुछ नहीं मिलता लेकिन उसी में वह जीता है, उसी में जन्म लेता है और उसी में समाधिस्थ हो जाता है–

खुदा के वास्ते तू बेरूखी से काम न ले,
तड़प के कोई दामन को तेरे थाम न ले।
जहान भर में चर्चे हैं मेरी तबाही के,
मैं डर रहा हूँ कि कोई तेरा नाम न ले।
जिसे तू देख ले इक बार मस्त नज़रों से,
वो फिर कभी हाथ में जाम न ले।

आशिकी एक ऐसी चीज़ है, जब यह अपना रूप दिखाने लगती है, अपने यौवन में आती है तो इसके साथ ही साथ एक विशेष उन्माद जागृत हो जाता है। एक विशिष्ट उन्माद, एक ऐसा उन्माद जो कि आशिक का सारा जगत समाप्त कर देता है। सम्पूर्ण जगत का, सम्पूर्ण सम्पदा का अस्तित्व खत्म कर देता है।

यह एक ऐसी आग है न जाने कब लग जाये' आप विचार करें, इसका आनन्द क्या है? क्यों होता है ऐसा? इसके पीछे गहनता क्या है? यद्यपि आशिकी बुद्धि का विषय नहीं है, यह हृदय का विषय है लेकिन विचार करके देखें, कि ऐसा क्यों होता है? इश्क होने के बाद मनुष्य, मनुष्य नहीं रहता, देवता–देवता नहीं रहता, कोई इच्छा नहीं रहती। खोना–पाना, मरना–जीना, आबादी बर्बादी मे, कोई अन्तर महसूस नहीं होता। उसको तो बस कुछ ऐसा चाहिए जिसका तालुक, जिसका सम्बन्ध उसके यार से हो, उसके इष्ट से हो।

मुझे ग़म भी उनका अज़ीज़ है, कि उन्हीं की दी हुई चीज़ है।
मुझे तुम से कुछ भी न चाहिए, मुझे मेरे हाल पे छोड़ दो।

यदि तू मुझे ग़म भी दे तो वह भी मेरे सिर–माथे है, वह भी मुझे प्यारा लगता है, कम से कम उस ग़म का तालुक तो तुमसे है। आशिक ऐसी कोई भी चीज़ माँगने से हिचकिचाते नहीं है, जिससे उनको इष्ट का दीदार नहीं, तो कम से कम उसकी याद तो आए।

माता कुन्ती ने प्रभु श्री कृष्ण से यही वरदान माँगा था कि "मेरे जीवन को कष्टों से भर दो। जैसे–जैसे कष्ट आएंगे मैं तुम्हें याद करूँगी। उन कष्टों के साथ तुम्हारी याद जुड़ी रहेगी।"

प्रेमियों को वे कष्ट भी अच्छे लगते हैं, जो उनको उनके इष्ट की स्मृति दिलाते हैं, उनकी याद दिलाते हैं। किसी शायर ने आशिकी के आलम को और इसकी बारीकी को बहुत सुन्दर अल्फाज़ों में ढाला है, बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है इसकी बारीकी का.–

नज़र लगे न कहीं, उनके दस्ते बाजू को।
यह लोग क्यों मेरे ज़ख्मे–जिगर को देखते हैं?

कहीं मेरे प्रेमी के हाथों को और बाजुओं को कोई नज़र न लगा दे, जिन हाथों ने

और बाजुओं ने मेरे ज़िगर में ज़ख्म किए हैं। लोग मेरे ज़ख्मों को देखकर, कहीं मेरे यार को नज़र न लगा दें। कितनी नज़ाकत है और कितनी बारीकी है, इस खुदाई इश्क की, जिसका वर्णन मैं अनिर्वचनीय पद मानता हूँ।

कभी–कभी आपस में नोंक–झोंक भी हो जाती है। जहाँ प्यार होता है, इश्क होता है वहाँ आपस में कई कुछ हो जाता है। एक अजीब सी कड़वाहट सी हो जाती है और कुछ न कुछ हृदय से निकल पड़ता है।

मुझे माफ कर खुदाया, मैंने तुझे खुदा बनाया।
तुझे कौन पूछता था, मेरी बन्दगी से पहले?

''ऐ खुदा, मुझे क्षमा करना। अरे। तुझे खुदा बनाने वाला मैं हूँ। मैंने बनाया है तुझे खुदा, मैंने बन्दगी कर–करके, सज़दा कर–करके, सलाम कर–करके, माथे रगड़ कर तुम्हें खुदा बना दिया।''

मुझे कोई ग़म नहीं था, ग़मे आशिकी से पहले।
न थी दुश्मनी किसी से, तेरी दोस्ती से पहले।

अरे, इस आशिकी के ग़म से पहले तो मुझे कोई ग़म ही नहीं था। मैं संसार में लिप्त था। कोई मेरी बहिन थी, कोई भाई, कोई पिता, कोई पुत्र, कोई पत्नी, कोई संतान, उसमें मैं लिप्त था लेकिन जबसे मुझको तुझसे आशिकी हुई है, तबसे मुझे सब कुछ बुरा सा लगने लगा है।

मैं कभी न मुस्कुराता ग़र मुझे यह इल्म होता,
कि हज़ार ग़म मिलेंगे तेरी इक खुशी से पहले।

''ऐ, मेरे आका मैं मुस्कुरा कर पछता रहा हूँ तेरी मुस्कुराहट, तेरी खुशी को पाने के लिए, उसको देखने के लिए मुझे ग़मों का सामना करना पड़ेगा अगर मैं यह जानता तो मैं कभी मुस्कुराता ही नहीं '' बड़ा अजीब रोग है यह। बड़ा भयानक जुआ है। जैसा कि मैं पहले भी एक बार वर्णन कर चुका हैं, इस जुए की शुरुआत अपनी ज़िन्दगी को दाव पर लगाकर होती है–

तेरी महफिल में सर अपना झुका कर हम भी देखेंगे
घड़ी भर तेरे नज़दीक आकर हम भी देखेंगे।

गुरु महाराज ने कहा है, '**बहुत जन्म जिये रे माधो, यह जन्म तुम्हारे**

लेखे' माधव बहुत जन्मों से, युग–युगान्तरों से मैं भटक रहा हूँ किसी न किसी नाम में, रूप मे, सम्बन्ध में। माधो! मैं जन्मता हूँ, मरता हूँ, फिर जन्मता हूँ। न जाने कितने युगों से यह सिलसिला चला आ रहा है। प्रभु, इसलिये मैं यह सम्पूर्ण जीवन तुम्हारे हवाले करता हूँ–***यह जन्म तुम्हारे लेखे।***

''मेरे इस जन्म को, मेरे इस जीवन को माधो! ऐ मेरे आका! ऐ मेरे प्रभु! तुम मेरी ओर से जियो, मैं उसे देखना चाहता हूँ। बार–बार जन्म–मृत्यु, जन्म–मृत्यु इस सिलसिले से मैं अब ऊब चुका हूँ। मेरा यह एक जीवन तो तुम जीकर दिखाओ।" कितना बड़ा जुआ है और उसको अपना जीवन समर्पित करने के पश्चात् फिर पीछे मुड़कर नहीं देखता कि वह किस प्रकार चलाता है? कहाँ ले जाता है? कब ले जाना है? क्यों, क्या, कब, कैसे करता है?'

बस, उसके बाद तो एक ही धर्म रहता है कि उसकी हर फिज़ा, हर विधा, हर रूप, हर रंग को देखा जाए, हर ध्वनि को सुना जाये और उसका आनंद लेते हुए वाह–वाह। बस यही उच्चारण हो। **अपनी तुच्छ सी इच्छाएं उसकी इच्छा में मिल जाएं, मैं और तू में कोई भेद ही न रहे। आबादी–बर्बादी सब एक सी लगने लगे!** कैसी आबादी? कैसी बर्बादी? मनुष्य देह–एक छोटे से माँस के पिंड ने जन्म लिया जिसके तन पर वस्त्र भी नहीं होता, न बल, न बुद्धि, न विद्या, न समर्थ, न शक्ति और जब इस जीवन का अन्त होता है, तो इस जीवन की सभी उपलब्धियाँ, प्राप्तियाँ सब यहाँ धरी की धरी रह जाती हैं, फिर वही नग्न देह अन्तिम संरकार के लिए चिंता में डाल दी जाती है। क्या खोना है यहाँ? क्या पाना है? क्या लाए थे? क्या ले जाना है? क्या कर्त्तव्य थे मेरे? यदि मैं न भी आता तो क्या यहां के मेरे कुछ कर्म रुक जाते? ज़रा विचारिए तो किसलिए मेरा यार, मेरा आका, मेरा प्रभु मुझे संसार में लाया है? मैं नहीं जानता तो हमारा हर ध्यान, हर पल, हर क्षण अपने इष्ट को निहारना है।।

एक महायोग स्थिति हो जाती है। महायोग, जहाँ भक्त–भगवान, शिव–शक्ति का संगम हो जाता है। यह द्वैत में अद्वैत है और अद्वैत में द्वैत। वेदान्त, दर्शन, यहाँ पर अपंग हो जाते हैं, अधूरे पड़ जाते हैं। वेद–वेदान्त, जो इसकी महिमा को गा नहीं सकते। यह एक महायोग स्थिति है जब भक्त आ भगवान में कोई अन्तर नहीं रहता,

यह एक अकाट्य योग है। जिसके बीच में कोई अन्य चीज़ प्रवेश नहीं कर सकती, न कामिनी, न कंचन, न पूरी दुनिया का साम्राज्य, न देवलोक, न स्वर्गलोक, न बैकुण्ठ लोक यह एक महासमाधि है इश्क–

जो तेरे इश्क में हस्ती को मिटा देता है,
उसको तेरा ग़म रह रह के मज़ा देता है।
तूने किस वास्ते बर्बाद किया है मुझको,
क्या इश्क में कोई ऐसी भी सज़ा देता है?
तू प्यार से देखे या न देखे ज़ालिम,
तेरा अंदाज मोहब्बत का पता देता है।

अब आप पूछेंगे कि प्रत्येक व्यक्ति इस इश्क का अधिकारी क्यों नहीं है? यह एक विचारणीय विषय है। यह एक जन्म–जन्मान्तरों का तप है, कुछ देने के लिए। आपको एक रहस्य बता रहा हूँ, एक अनुभव। आप अपने व्यवहारिक जीवन में भी देखते होगें, कि जब कभी आपका अति प्रिय व्यक्ति आपके सम्मुख आ जाए, तो हमेशा आपके मन में, आपके हृदय में उसको कुछ न कुछ देने का भाव अवश्य आएगा, लेने का नहीं। आपकी इच्छा होगी कि हम इसको क्या देकर भेजें? ठीक यही स्थिति उस समय भी होती है, जब प्रभु की असीम कृपा से, भक्त–भगवान का आमना–सामना हो जाता है, उसका दीदार हो जाता है। तो वहाँ माँगना तो क्या उसको कुछ देने की इच्छा होती है। वह अपने प्रभु को कुछ देना चाहता है। बड़ी अटपटी सी स्थिति हो जाती है कि

मैं क्या दूँ? जान दे दी जो उन्हीं की थी,
हक तो यह है कि हक अदा न हुआ।

मेरे आका। यदि मैं तुम्हें अपनी जान भी देता हूँ, तो यह तेरी ही दी हुई है। हकीकत यह है, कि मैं कोई हक अदा नहीं कर सका तुम्हारा। मैं तुम्हें कुछ दे नहीं सका क्या पेश करूँ तुमको, क्या चीज़ हमारी है?

यह दिल भी तुम्हारा है, यह जां भी तुम्हारी है।

तो बेबसी के अश्रु ढुलक जाते हैं। मोह के अश्रु, यह अश्रु ही तो आशिकों की पूंजी है, निधि है, महानिधि है जिसके बिना उनका जीवन नीरस हो जाता है, निर्धन हो

जाते है वे बिना अश्रुओं के तो–

इश्क वो आग है गालिब, जो लगाये न लगे और बुझाए न बुझे।

इसी आग में आशिक जीते हैं और इसी में जीवन का अंत होता है।

।। जय जय श्री राम।।